श्री मुनिसुव्रतकाव्य

891'2
अर म

STATE MUSEUM, LUCKNOW
LIBRARY
Acc. No. 2762
Book No. 891'2
शी म

891.2

स्वर्गीय श्रीमान् बाबू देवकुमार जी जैन रईश और ज़मीन्दार
संस्थापक "श्रीजैन-सिद्धान्त भवन"

देवकुमार-ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प

ॐ

कविवर श्रीअर्हद्दास-विरचित

श्रीमुनिसुव्रतकाव्य

संस्कृत-टीका-सहित

अनुवादक तथा सम्पादक—

पं० के० भुजबली शास्त्री

पं० हरनाथ द्विवेदी

2762
9.7.65
State Museum, Library

प्रकाशक

निर्मल कुमार जैन

मन्त्री

श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन

आरा

वीर सं० २४५५

सन् १९२९ ई०

प्रथमावृत्ति

१०००

कपड़े की जिल्द मूल्य २॥)

सादी जिल्द मूल्य २)

बाबू देवेन्द्र किशोर जैन द्वारा

श्रीसरस्वती प्रिन्टिङ्ग वर्क्स् आरा में

मुद्रित ।

891.2

श म

भूमिका

"कान् पृच्छामः सुराः स्वर्गे निवसामो वयं भुवि।
किम्वा काव्यरसः स्वादुः किम्वा स्वादीयसी सुधा" ॥

संसार-सुमनोद्यान का काव्य ही कलकण्ठ अथवा कल्प-लतिका है। सद्भाव-सम्पन्न सहृदय-गणों की मनस्तुष्टि अथवा अभीष्ट-प्राप्तिका एक-मात्र साधन काव्य ही है। काव्य-कानन के प्रकाम पर्याटक तथा कविता-कामिनी के कटाक्ष-कोर के लक्ष्य-भूत कवि-कण्ठीरव विज्ञवृन्द ने काव्य का हृदय से आदर किया है। मेरी तो यही धारणा है कि इस पञ्चम काल में दार्शनिक तथा धर्मशास्त्रीय गूढ़ रहस्यों के उपदेष्टा तथा ज्ञाता की विरलता का विचार कर ही "कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते" के अनुसार आचार्यों तथा कवि-कुंजरोंने शब्दार्थालङ्कार से समलङ्कृत, प्रसाद माधुर्यादि गुणों से समुद्भासित, लाटी अथ च माधुरी आदि काव्योचित रीतियों से विजड़ित और वसन्ततिलकादि वृत्तों से सम्बलित काव्यों के द्वारा कथा-कथानक-रूप में दर्शन तथा धर्म के मार्मिक सिद्धान्तों को दरसा कर सर्व साधारण शिक्षितों को लोकोत्तर लाभ पहुंचाया है। कौन ऐसे सहृदय-समुदाय हैं जो विभावानुभावादिकों से अभिव्यञ्जित, वीर वैराग्यादि रसों से समुच्छलित तथा ध्वनिव्यङ्ग्यार्थों से मुखरित काव्यकल्लोलिनी में गोता लगाना अपना परम पुण्योदय नहीं समझते हैं, अतः साहित्य-सदन का सहृदय स्वामी अथवा ज्ञानाटवी का दुर्दान्त केशरी यदि काव्य को माना जाय तो मैं समझता हूं कि, यह अनुचित नहीं होगा।

प्रस्तुत पुस्तक भी काव्य ही है। इसका नाम "मुनिसुव्रत काव्य" अपर नाम "काव्य रत्न" है। यह उत्तर पुराण के आधार पर रचित हुआ है। इसमें दस सर्ग हैं। जन्म-कल्याणकसे मोक्ष-कल्याणक तक की जीवन-घटना श्रीमुनिसुव्रत देव की बड़ी रोचकता तथा प्राञ्जल पद्धति से वर्णित है। आपके पिता का नाम राजा सुमित्र तथा माता का महिषी पद्मावती था। आपकी राजधानी राजगृह में थी। राजगृह जैनियों का कैसा प्रसिद्ध तथा पवित्रतम तीर्थ-स्थान है यह यहां बताने की ज़रूरत नहीं हैं। वहाँ की शान्ति-शीलता, पवित्रता तथा प्राकृतिक दर्शनीयता यह बात जतलाये देती हैं कि यहां जैन-राज-

Jain Oriental Res. Institute - Arrah, Rs. 4/=

धानी अवश्य थी तथा जैनाचार्यों तथा मुनियों ने अपनी अखण्ड तपस्याओं और चामत्कारिक सिद्धियों से यहाँ की धूलि-पुंज के अणु-परमाणुओं तक को भी पूत कर दिखाया था अवश्य। तभी तो आज भी उस दिव्य विभूति की झलक लोगों की आँखों को चकाचौंध किये देती है।

अस्तु मुनिसुव्रत स्वामी गार्हस्थ्य-जीवन समाप्त कर विजय नामक अपने पुत्रको राज्य भार दे स्वयं मोक्ष मार्ग के पक्के पथिक बने। आपका विवाह कहाँ, किसकी कन्या से हुआ था तथा आपको विजय के अतिरिक्त और दूसरी कोई संतान थी कि नहीं आदि बातों का उल्लेख इस काव्य में कहीं नहीं है। आपके विवाह के विषय में केवल यही लिखा हुआ मिलता है कि "पित्रा विनिर्वर्तितदारकर्मा" अर्थात् पिता ने इनकी शादी करदी।

इस काव्य के संकलयिता कवि-कुंजर परम सम्मानार्ह श्री अर्हद्दास जी हैं। इनकी कृतियों के द्वारा इनका समय-निर्णय करना मेरे जैसे बहु-कार्य-व्यापृत साधारण इतिहासज्ञ संस्कृत-पण्डित के लिये नितान्त असम्भव है। हां-यदि कोई सावकाश इतिहासवेत्ता जैन विद्वान् इस अमर कवि की कविता की ओर कटाक्षपात करें तो अवश्य समय-निर्णय तथा समालोचनात्मक भूमिका होसकती है। इतनी बात मैं अवश्य कहूंगा कि इनके समय-निर्णय करने में लोगों को आकाश-पाताल का कुलावा अब एक नहीं करना पड़ेगा। क्योंकि अभी तक इनके तीन काव्य उपलब्ध हुए हैं। यह "मुनिसुव्रत काव्य" "पुरुदेव चम्पू" तथा "भव्य-कण्ठाभरण"। इन तीनों की निम्नलिखित प्रशस्तियों से यह बात ज्ञात होती है कि आपने अपना काव्य-गुरु पण्डिताचार्य आशाधर जी को माना है। और आशाधर जी की ही कविता तथा उपदेश से प्रभावित तथा निर्निमीलितचक्षु होकर यह अर्हद्दास कवि कविता-रचना में अग्रसर हुए हैं।

"मिथ्यात्वकर्मपटलैश्चिरमावृते मे युग्मे दृशोः कुपथयाननिदानभूते।
आशाधरोक्तिलसदञ्जनसम्प्रयोगैः स्वच्छीकृते पृथुलसत्पथमाश्रितोऽस्मि" (मु० का०)

"सूक्त्यैव तेषां भवभीरवो ये गृहाश्रमस्थाश्चरितात्मधर्माः।
त एव शेषाश्रमिणां सहाया धन्याः स्युराशाधरसूरिमुख्याः" [भव्यकण्ठाभरण]

"मिथ्यात्वपंककलुषे मम मानसेऽस्मिन् आशाधरोक्तिकतकप्रसरैः प्रसन्ने।
उल्लासितेन शरदा पुरुदेवभक्त्या तच्चम्पुदम्भजलजेन समुज्जजृम्भे ॥ पु० च० ॥

पण्डित आशाधर का समय इतिहास-वेत्ताओं ने विक्रम सम्वत् १३०० निश्चित कर रक्खा है। अतः इनका भी समय वही या इसके लगभग मानना समुचित होगा।

"पुरुदेवचम्पू" के विज्ञ सम्पादक फड़कुले महोदय ने अपनी पाण्डित्य-पूर्ण भूमिका में लिखा है कि उल्लिखित प्रशस्तियों से कविवर अर्हद्दास पण्डिताचार्य आशाधर जी के समकालीन निर्विवाद सिद्ध होते हैं। किन्तु कमसे कम मैं आपको इस समय-निर्णायक सरणी से सहमत हो आपकी निर्विवादिता स्वीकार करने में असमर्थ हूं। क्योंकि प्रशस्तियों से यह नहीं सिद्ध होता कि आशाधर जी की साक्षात्कृति अर्हद्दास जी को थी कि नहीं। 'सूक्ति' और 'उक्ति' की अधिकता से यह अनुमान करना कि साक्षात् आशाधर सूरि से अर्हद्दास जी ने उपदेश ग्रहण कर उन्हें गुरु मान रक्खा था यह प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि 'सूक्ति' और 'उक्ति का अर्थ रचना-बद्ध ग्रन्थ-सन्दर्भ का भी होसकता है। अस्तु मैं आपकी और अखण्डनीय बातों का खण्डन न कर सिर्फ आपकी निर्विवादिता से सहमत नहीं होता हूं।

प्रचुर पुण्य के परिपाक से ही प्रकृत कवि कहलाने की कीर्ति आदमी प्राप्त कर सकता है। कवियों के कसने के लिये क्या ही अलौकिक निम्नलिखित कसौटी है:—

"अबयः केवलकवयः कीराः स्युः केवलं धीराः।
वीराः पण्डितकवयस्तानवमन्ता तु केवलं गवयः" ॥

"शीला विज्जामारुलामोरिकाद्याः काव्यं कर्त्तुं सन्ति विज्ञाः स्त्रियोऽपि।
विद्यां वेत्तुं वादिनो निर्विजेतुं विश्वं वक्तुं यः प्रवीणः स वन्द्यः" ॥ [उद्भट०]

अस्तु उल्लिखित कसौटी पर कसे जाकर हमारे प्रस्तुत कविवर अर्हद्दासजी ने अपने काव्य-कलेवर की कमनीय कान्ति में किञ्चिन्मात्र भी कलङ्क नहीं लगने दिया है। आपने काव्य-कलित-कल्पना-कुटीर में कमलासन लगाकर अपनी स्वर्णमयी अमर लेखनी से श्री-मुनिसुव्रत तीर्थङ्कर के चारु चरित्र का चित्रण किया है। प्राक्तन पद्धति का अवलम्बन कर ही चरित्र-नायक के नामानुसार इस काव्य का भी नाम-निर्देश किया है। आपका यह सारा काव्य माधुर्य तथा प्रसादगुण से ओत-प्रोत है। प्रत्येक श्लोक में अलङ्कार के पुट देने से इसकी शोभा और भी कई गुनी अधिक बढ़ गयी है। आपके इस काव्य-कानन में विचरण करने से कहीं माधुर्य-मालती की मीठी २ सुगन्ध से सने हुए प्रसाद-पवन का हलका झोंका खाकर चित्त आप्यायित हो जाता है तो कहीं अन्त में वैराग्य की विरह-विनादिनी वीणा का विहाग सुन जड़ीभूत जीव जगज्जाल से छुटकारा पाकर मुक्ति-वाटिका की विशुद्ध सरणी का अवलम्बन करने के लिये आकुल हो उठता है।

इस काव्य कुंज के सहृदय शैलानी को सदा शृंगार हास्य, करुण तथा वैराग्य रस

से ही सराबोर होना पड़ेगा। इसके अगल बगल में भयानक और बीभत्स की महकें भूल कर भी अनुभूत नहीं होतीं।

श्रीअर्हद्दास जी गद्य-पद्य दोनों के सिद्धहस्त लेखक हैं। "पुरुदेवचम्पू" की गुरुता ने तो "दशकुमार-चरित" तथा "हर्षचरित" के गद्यों से भी बाजी मारली है। जिन्हें गद्य-पद्य का गंगा-यमुनी मेल देखना हो वे "पुरुदेवचम्पू" अवश्य देखें। आवश्यकतानुसार रसावतरण करना तो आपके बायें दायें का खेल है।

तीर्थङ्कर देव के "मुनिसुव्रत" नाम की सार्थकता निम्नलिखित श्लोक में बड़ी विशद-रीति से दिखलाई गई है।

"करिष्यते मुनिमखिलञ्च सुव्रतं भविष्यति स्वयमपि सुव्रतो मुनिः।
विवेचनादिति विभुरभ्यधाय्यसौ विडौजसा किल मुनिसुव्रताह्वरैः" ॥

(६ ष्ठ सर्ग ४३ श्लो०)

अब मैं सहृदय पाठकों को आपकी अलङ्कार-प्रियता का परिचय निम्नलिखित तीन श्लोकों से कराता हूं।

"भट्टाकलङ्काद् गुणभद्रसूरेः समन्तभद्रादपि पूज्यपादात्।
वचोऽकलङ्कं गुणभद्रमस्तु समन्तभद्रं मम पूज्यपादम्।।" १ म० स० १६ श्लो०
भुजंगमेष्वागमवक्रभावो भुजंगहारेऽप्यजिनानुरागः।
ध्रुवं प्रदोषानुगमो रजन्यां दिनक्षयस्सोऽपि दिनावसाने ॥ १ मः स० ३६ श्लो०
रतिक्रियायां विपरीतवृत्ती रतावसाने किल पारवश्यम्।
बभूव मल्लेषु गदाभिघातो भयाकुलत्वं रविचन्द्रयोश्च ॥ ७ म० स० ३० श्लो०॥

उल्लिखित प्रथम श्लोक में "यथासंख्यालङ्कार" का ऐसा विशद उदाहरण है कि इसे देख कर एक साधारण संस्कृतज्ञ भी मुग्ध हो जायगा। उसके नीचे के द्वितीय और तृतीय श्लोक यदि पक्षपात-रहित आलङ्कारिक दृष्टि से देखे जाँय तो यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि अर्हद्दास जीने इन दोनों श्लोकों में परिसंख्यालङ्कार की विशुद्धता दिखाकर कविवर बाण भट्ट की उन पंक्तियों से टक्कर लिया है जिन्हें पढ़ कर कविगण फड़क उठते हैं।

यों तो आपका समूचा "मुनिसुव्रतकाव्य" ही रत्न-जड़ित अलङ्कारो से विजड़ित हैं किन्तु अपने काव्य में अपूर्वता लाने के लिये आपका प्रयत्न प्रशंसनीय है। अब आपके एक हास्यरस्य का निम्नलिखित पद्य पाठकों के समक्ष उपस्थित करने का मैं लोभ संवरण नहीं कर सकताः—

मुग्धाप्सराः कापि चकार सर्वानुत्फुल्लवक्त्रान्किल धूपचूर्णम् ।
रथाग्रवासिन्यरुणे क्षिपन्ति हसन्तिकांगरचयस्य बुद्ध्या ।। ५ मा स० ३१ श्लो० ।

राजा महाराज आदि धन-सम्पन्न मनुष्यों की कविता द्वारा प्रशंसा करना आप श्री-जिनवाणी का अत्यधिक अपमान समझते थे। यह बात आपके अधोलिखित पद्य से प्रकटित होती है।

''सरस्वतीं कल्पलतां स को वा सम्वर्द्धयिष्यन् जिनपारिजातम् ।
विमुच्य काञ्जीरतरूपमेषु व्यारोपयेत्प्राकृत-नायकेषु'' ।। १म स० १२ श्लो० ।।

इस श्लोक से आपकी निर्भीकता तथा देवगुरु-शास्त्र-प्रियता प्रतिपद में प्रतीत होती है। आप अपनी कवित्वशक्ति का "दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा" जैसी स्वार्थ-सङ्कुल रचना करने में दुरुपयोग नहीं करते थे एवं प्राकृत व्यक्ति की प्रशंसा करने वाले कवियों को आप बड़ी तुच्छ दृष्टि से देखते थे।

अस्तु 'इस काव्यरत्न' की एक संस्कृत टीका भी है। टीका बड़ी ही सरल तथा कोश व्याकरण और अलङ्कारादिके दिग्दर्शन तथा प्रमाणों से सम्बलित हैं। हां जहां तहाँ अपेक्ष्य बातें रह गई हैं। दुःख है कि पण्डित-वर्य टीकाकार ने अपना नाम तथा परिचय देने का कष्ट नहीं उठाया। आजकल के जमाने में जब कि दूसरों की कृतियों को हड़पने वाले तथा इधर उधर कुछ उलट पुलट करके अपना नाम प्रख्यात करने वालों का बाजार गर्म होने अथवा "कविरनुहरति च्छायामर्थं कुकविः पदं चौरः। अविकलपरस्वहर्त्रे साहसकर्त्रे नमः पित्रे" आदि प्राचीन दृष्टान्त की भरमार होने पर भी इस काव्यरत्न के टीकाकार का अपना परिचय नहीं देना उनकी निस्सीम निस्वार्थता प्रकटित करता हैं।

आप केवल टीकाकार ही नहीं थे प्रत्युत एक सरस प्राञ्जल कवि भी। क्योंकि टीका के प्रारम्भ में जो आपने निम्नलिखित मंगलाचरण-विधायक दो श्लोक लिखे हैं वे बड़े ही सुन्दर हैं:—

श्रीमद्देवेन्द्रसन्दोहबर्हिणानन्ददायिनम् ।
सुव्रताम्बुभृतं नौमि दिव्यश्रव्यनिनादिनम् ।।
तस्य गर्भावतारादिपञ्चकल्याणशंसिनः ।
काव्यरत्नाख्यकाव्यस्य वक्ष्ये टीकां स्वभक्तितः ।।

उल्लिखित प्रथम श्लोक पर दृष्टि पड़ते ही मुझे "भारतेन्दु" हिन्दी-प्राण बाबू हरिश्चन्द्र जी का निम्नलिखित दोहा याद आता है:—

भरित नेह-नवनीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर ॥

देखा पहले श्लोक तथा इस दोहे में कैसा विम्ब-प्रतिविम्ब भाव है ?

अस्तु जो कुछ हो टीकाकार बड़े ही सरस विद्वान् थे। कभी २ यह बात मेरे मन में आजाती है कि कहीं अर्थ के अनर्थ कर डालने के भय से अर्हद्दास जीने स्वयं "काव्यरत्न" की टीका रच दी हो। बल्कि इसी लिये दूसरे पद्य में "स्वभक्तितः" आपने लिखा है। तीर्थङ्कर मुनिसुव्रत नाथ के चरितात्मक काव्य को साङ्गोपांग निर्विघ्न सम्पन्न कर देने से आपके मन में आत्म-भक्ति उमड़ आना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। अथवा स्वरचित्त काव्य की भक्ति भी इस पद का अर्थ हो सकता है या स्वेष्ट देव मुनिसुव्रत नाथ की भी भक्ति सूचित होती है। दूसरी बात यह है कि आपने अपने काव्य-गुरु पण्डित आशाधरजी का अनुसरण किया हो। क्योंकि आशाधर सूरि ने अपने "सागरधर्मामृत" तथा "अनगारधर्मामृत" की टीका स्वयं ही बनाई है। अतः "यद्यदाचरति श्रेष्ठः" के अनुसार अर्हत्कवि ने भी अपने काव्य की स्वयं टीका बनाकर गुरु मार्गानुसरण का ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित किया हो।

आशा है कि सहृदय साहित्य-रसिक विज्ञवृन्द टीकाकार के प्रकृत परिचय पाने का प्रयास करेंगे।

विनीत—

हरनाथ द्विवेदी (काव्य-पुराण तीर्थ)

प्रकाशकीय वक्तव्य

जब से "श्री जैन सिद्धान्त भवन" (The Central Jain oriental lrbiary) की सेवा में हाथ बँटाने का शुभावसर मुझे प्राप्त हुआ तभी से मेरी हार्दिक इच्छा थी कि इस संस्था से कोई ग्रन्थमाला निकाली जाय, जिस के द्वारा जैनाचार्यों की धवल कीर्त्ति सम्पूर्ण भारतवर्ष ही में नहीं वरन् सुदूर प्रदेशों में भी प्रसारित और साथ ही साथ उसके रसास्वादन से भव्य जीवों का कल्याण हो। स्वर्गीय कुमार देवेन्द्र प्रसाद जी ने जो इस संस्था के प्रधान सहायकों में थे इस ओर बहुत कुछ कार्य किया था और बहुत अंशों में यह उन्हीं की सेवाओं का फल है कि हमारे ग्रन्थों का प्रचार और प्रतिष्ठा बाहर भी होने लगी है।

एक समय वह था जब कि हमारे आचार्यों की तूती बोलती थी, उन की प्रगाढ़ विद्वत्ता तथा पूर्ण पाण्डित्य के आगे सभी नत-मस्तक होते थे, वे ही आचार्यवर्य अपनी स्वाभाविक परोपकार बुद्धि से लोगों के हित के लिये तथा उन्हें सन्मार्ग पर लाने के लिये अपने उस अगाध ज्ञान-भण्डार को अपनी मनोमुग्धकारी सरस काव्य-कुशलता-द्वारा ग्रन्थ-रूप में संकलित कर गये हैं। हमारे दुर्भाग्य से कुछ स्वार्थी जीवों ने सार्व-जनिक परोपकार की उस अमूल्य थाती के बहुत कुछ अंशों को अंधेरी कोठरी में सड़ाकर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। फिर भी जो कुछ बचा खुचा है वह अपने प्राचीन गौरव के प्रकट करने के लिये पर्याप्त है।

यद्यपि अब भी कुछ भाई छापे इत्यादि का विरोध कर इस अमूल्य औषधी से जनता-मात्र को लाभ लेने देना नहीं चाहते तो भी अब वह समय गया। हर्ष का विषय है कि बहुतेरे जैन विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है और हो रहा है। जिस के फल-स्वरूप दो-तीन सुरक्षित भवन तथा कई एक पुस्तक-प्रकाशकीय संस्थाएं विगत वर्षों से श्रीजिनवाणी की रक्षा तथा प्रचार में फलवती हुई हैं।

"आरा श्री जैन सिद्धान्त भवन" हमारे स्वर्गीय श्रीपूज्य पिता जी द्वारा वि० १९०५ ई० में स्थापित हुआ था। और श्रीमान् पूज्य नेमी सागर जी वर्णी (वर्त्तमान पद श्रीमदभिनव चारुकीर्त्ति पण्डिताचार्यवर्य स्वामी जी श्रवणबेलगोल-पट्टाधीश) तथा स्वर्गीय बाबू करोड़ी चन्द जी के उद्योग से बहुत कुछ उन्नति कर गया है। बल्कि उपर्युक्त पूज्य स्वामी जी की "भवन" पर अब भी सदा कृपा-दृष्टि बनी रहती है। वर्तमान में यह

अपने ही एक बहुत सुन्दर २५०००) रु० की लागत के 'भवन' में सुरक्षित है। इस समय इस मे ३००० जैन एवं अजैन ग्रन्थ ताड़-पत्राङ्कित तथा हस्त-लिखित हैं। इन के अतिरिक्त छपे हुए जैन अजैन हिन्दी संस्कृत प्राकृत बंगला, कनडी, गुजराती महाराष्ट्री तथा अंग्रेजी आदि भाषा के ग्रन्थों की संख्या ६००० के करीब है। "भवन" के उद्देश्यानुसार जैनग्रन्थों की ही यहाँ अधिकता है। पिता जी अपनी अन्यान्य संस्थाओं के साथ साथ इस के लिये भी १५००) रु० सालाना आमदनी की स्थायी जागीर दे गये हैं जिस से इसका साधारण व्यय होता रहता है और सदा होता रहेगा।

कुछ दिन पहले मैं ने अपने पूर्व विचारानुसार एक ग्रन्थमाला निकालने का निश्चय किया तथा कार्यारंभ के लिये अपने पास से १२५०) रु० भवन को दिये। मेरी हार्दिक इच्छा है और मैं चेष्टा करूंगा कि इस ग्रन्थ-माला-प्रकाशन का स्थायी प्रबन्ध सुदृढ़ हो जाय। कई विद्वानों की राय पहले "श्रीमुनिसुव्रत काव्य" के प्रकाशन की हुई। मेरा विचार था कि जो भी ग्रन्थ प्रकाशित हों वे हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद के साथ हों परन्तु अभी अंग्रेजी अनुवाद का साधन नहीं मिल सका। हिन्दी अनुवाद इस संस्था के प्राचीन कार्य कर्त्ता—"भास्कर" के सहायक सम्पादक काव्य-पुराणतीर्थ पण्डित हरनाथ द्विवेदीजी तथा पुस्तकालयाध्यक्ष पण्डित भुजबली शास्त्री जी एन. ए., एन. के. बी. ने किया है। सम्पादन तथा संशोधन का कार्य भी दोनों महाशयों ने मिलकर ही किया हैं।

प्रथम प्रयास के कारण प्रकाशन में बहुत कुछ भूलों का होना संभव है और खासकर मेरे जैसे व्यक्ति के द्वारा जो इस विषय में अनुभव-रहित तथा इस भाषा से भी एक प्रकार से अनभिज्ञ ही हूं।

संस्कृत टाइपों में संयुक्ताक्षर की विरलता तथा कम्पोजिटरों की संस्कृतज्ञता के अत्यन्ताभाव से भी अशुद्धियों की अधिकता संभव है। पर यह ज्यों त्यों प्रकाशित होकर विद्वानों की सेवा में पहुंच जाय, फिर उनके परामर्शानुसार दूसरे संस्करण में सभी सापेक्ष्य बातें सम्पन्न कर दी जायँगी यही मेरा सदा लक्ष्य रहा।

टीका में जितने कोषों का नाम-निर्देश किया गया है उन में से कई कोषों के अमुद्रित तथा अनुपलब्ध होने के कारण जहां तहां सम्पादक-द्वय से सन्देह-निरसन नहीं हो सका है।

भवन की एक प्रति के अतिरिक्त मूड़विद्री के भण्डार से केवल एक प्रति मिली थी जिस के लिये मैं मूड़विद्री के भट्टारक श्रीपण्डिताचार्य चारुकीर्त्ति जी और पण्डित लोकनाथ शास्त्री जी का बड़ा ही आभारी हूं। इन्हीं दो प्रतियों के आधार पर इसका सम्पादन किया गया है। अधिक प्रति मिलने से यत्किंचिन्मात्र जो दोष रह गया है वह दूर हो जाता।

अस्तु जो कुछ भी हो मेरा ध्येय यही है कि मैं अपने आचार्यों की किर्त्ति को अब भी सब के ऊपर देखूं। मुझे तो पूरी आशा हैं कि विद्वानों की इस ओर खास दृष्टि होने से इस में सफलता अवश्य होगी।

अन्त में मैं विद्वान् पाठकों से अनुरोध करता हूं कि इस ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प को अपनायेंगे और जो कुछ भी त्रुटियां हों उन्हें मुझ पर प्रकटित करने की कृपा करेंगे, जिससे आगे के प्रकाशन में मुझे सहायता मिले।

इस के बाद मैं जैन-वैद्यक या जैन-ज्योतिष ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये अत्यन्त उत्सुक हूं और संभवतः ग्रन्थमाला की दूसरी माला वैद्यक की रसमयी अथवा ज्योतिर्मयो मौक्तिक मनिका की पिरोयी हुई होगी।

श्रीजिनवाणीका

एक विनम्र सेवक

निर्मलकुमार जैन।

मंत्री

श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा।

ॐ

मुनिसुव्रतकाव्यम्

॥ श्रीजिनाय नमः ॥

श्रियं स वः श्रीवृषभो विशिष्यात् यस्यालिमालावृतवत्सभायाम् ।
बभौ नतेन्द्रोत्करमौलिनील—प्रभावलीलालितमब्जपीठम् ॥१॥

श्रीमद्देवेंद्रसंदोहबर्हिणानंददायिनं । सुव्रतांबुभृतं नौमि दिव्यश्रव्यनिनादिनम् ॥
तस्य गर्भावतारादिपंचकल्याणशंसिनः । काव्यरत्नाख्यकाव्यस्य वक्ष्ये टीकां स्वभक्तितः ॥

श्रियमित्यादि । यस्य आदिनाथस्य । सभायां समवशरणसदसि । नतेन्द्रोत्करमौलिनीलप्रभावलीलालितं नमंतिस्म नताः इंदन्ते परमैश्वर्यमनुभवंतीतीन्द्राः नताश्च इन्द्राश्च तथोक्ताः तेषामुत्करः समूहः "पुञ्जराशी तूत्करः कूटमस्त्रियां" इत्यमरः तस्य मौलयः किरीटानि "चूडा किरीटं केशाश्च संयता मौलयस्त्रयः" इत्यमरः तेषु किरीटेषु नीलानि इन्द्रनील रत्नानि तेषां प्रभाणां रुचानां आवलिः श्रेणिस्तया लालितं सेवितम् । अब्जपीठं अब्जैः कमलैः उपलक्षितं पीठं तथोक्तम् । अलिमालावृतवत् अलीनां भ्रमराणां माला राजिः तया आवृतमावेष्टितम् "मालमुन्नतभूर्मालापङ्क्तिपुष्पादिधामनि" इति भास्करः तद्वत् "तत्र तस्येव" इति वत्प्रत्ययः । बभौ भातिस्म भा दीप्तो लिट् । सः श्रीवृषभः वृषेण रत्नत्रयात्मकधर्मेण भातीति वृषभः "सुकृते वृषभे वृषः" इत्यमरः श्रिया अंतरंगबहिरंगलक्ष्म्या उपलक्षितो वृषभस्तथोक्तः श्रीमान्पुरुपरमेश्वरः । वः युष्माकं * "पदाद्वाक्यस्य" इत्यादिना युष्मदः षष्ठीबहुत्वे वसादेशः । श्रियं संपदम् पुण्यवतः पुरुषान् श्रयत्याश्रयतीति श्रीस्ताम् । विशिष्यात् विदध्यात् । शिष्लृविशेषणे लिङ् । उपमालंकारः ॥ १ ॥

भा०अ०—जिनके समवशरण में नम्रीभूत इन्द्रों के मुकुट की नीलमणि से प्रदीप्त, अत एव भ्रमर-पंक्ति से परिवेष्टितसा कमलपीठ शोभाशाली हुआ, ऐसे वे श्रीआदिनाथ तीर्थङ्कर इस "मुनिसुव्रत" काव्य के आप पाठकों के ऐश्वर्य की वृद्धि करें ॥ १ ॥

---

* "विरामे वा" इति कातन्त्रीयशास्त्रेण मकारस्यानुस्वारो विकल्प्यमवलंब्य संजातोऽत्र ।

चन्द्रप्रभं नौमि यदङ्गकान्तिं ज्योत्स्नेति मत्वा द्रवतीन्दुकान्तः ।
चकोरयूथं पिबति स्फुटन्ति कृष्णेऽपि पक्षे किल कैरवाणि ॥२॥

चंद्रप्रभमित्यादि । यदंगकांतिं यस्य जिनेश्वरस्य अंगस्य शरीरस्य कांतिं किरणं "अंगं गात्रांतिकोपायप्रतीकेष्वप्रधानके" इति विश्वः । ज्योत्स्नेति चंद्रिकेति । मत्वा मननं पूर्वं पश्चात्किंविदिति मत्वा बुद्ध्वेत्यर्थः । इन्दुकांतः चंद्रकांतः । कृष्णे पक्षेऽपि । द्रवति स्रवति द्रु स्रु गतौ लटि । चकोरयूथं चकोराणां पक्षिविशेषाणां यूथं कुलं तथोक्तम् । पिबति पानं विदधाति पा पाने लटि । कैरवाणि कुमुदानि "सिते कुमुदकैरवे" इत्यमरः । स्फुटंति किल "वार्तासंभाव्ययोः किल" इत्यमरः किलेत्यागमोक्तौ यथास्वमागमे श्रूयते इति यावत् स्फुट विकसने लटि । यदंगकांतिं ज्योत्स्नेति मत्वा कृष्णे पक्षेऽपि किलेति च प्रत्येकमभिसंबध्यते । तं चंद्रप्रभं चंद्रस्येव प्रभा कांतिर्यस्य सः तं अष्टमतीर्थेशं । नौमि स्तौमि । णु स्तुतौ लडुत्तमपुरुषः । भ्रांतिमानलंकारः । २ ।

भा० अ०—कृष्ण पक्ष में भी जिसे चाँदनी समझ कर चकोर पीते हैं, चन्द्रकान्त मणि द्रवीभूत होती है तथा कमल खिल उठते हैं ऐसे परमौदारिक दिव्य देहद्युतिवाले उन आठवें तीर्थङ्कर श्रीचन्द्रप्रभ स्वामी को नमस्कार करता हूं ॥ २ ॥

तमांसि हत्वा जगतः पदर्थान् प्रकाशयन्तं यमिव प्रदीपम् ।
ननाश मोहादभिपत्य कामः पतङ्गवच्छान्तिजिनं भजे तम् ॥३॥

तमांसीत्यादि । तमांसि तिमिराणि । हत्वा निवार्य । जगतः लोकस्य । पदार्थान् घटादिवस्तूनि । प्रकाशयंतं प्रकाशयतीति प्रकाशयंस्तं द्योतयंतं । प्रदीपमिव प्रदीपवत् । तमांसि अज्ञानानि "शोकज्ञानध्वांतगुणस्वर्भानुदुरितेषु तमः" इति नानार्थकोशे । हत्वा निहत्य । जगतः भुवनस्य । पदार्थान् । प्रकाशयंतं ज्ञानेन प्रद्योतयंतं । यं जिनेशं । कामः मन्मथः । मोहात् अज्ञानात् "मोहमिच्छंति मूर्च्छायामविद्यायां च सूरयः" इति विश्वः । पतङ्गवत् पतंग इव शलभवत् । अभिपत्य पतित्वा । ननाश अनश्यत् । नश अदर्शने लिटि । तं शांतिजिनं । शमतात्पापानित्यांशास्यमानः शांतिः शांतिश्चासौ जिनश्च तथोक्तस्तं षोडशतीर्थंकरं । भजे सेवे । भज् सेवायां लडात्मनेपदम् । श्लेषोपमालंकारः ॥ ३ ॥

भा० अ०—संसार के अज्ञानान्धकार को हटा कर अनन्तानन्त पदार्थों को प्रकाशित करते हुए जिन पर अज्ञान से कामदेव स्वयं दीपक पर पतंग के ऐसा गिर कर भस्म हो गया, उन्हीं सोलहवें तीर्थङ्कर श्रीशान्तिनाथ जी की मैं आराधना करता हूं ॥ ३ ॥

अबोधकालोरगलीढमूढ-मबूबुधद् गारुडरत्नवद्यः ।
जगत्कृपाकोमलदृष्टिपातैः प्रभुः प्रसद्यान्मुनिसुव्रतो नः ॥४॥

अबोधेति। यः स्वामी। अबोधकालोरगलीढमूढं कालश्चासौ उरगश्च तथोक्तः अबोध एव अज्ञानमेव कालोरगस्तथोक्तः रूपकालंकारः तेन लीढं दष्टं तेन मूढं मुग्धं बहिरात्मावस्थापन्नं मूर्च्छितं च अथवा अबोधकालोरगलीढं च तत् मूढं चेति कसः। जगत् लोकं। गारुडरत्नवत् गरुडस्येदं गारुडं तच्च तद्रत्नं च तद्वत् विषापहारमणिवत्। अबूबुधत् अबोधयत् बुधि मनि ज्ञाने णिङन्ताल्लुङ्। प्रभुः सः स्वामी। मुनिसुव्रतः मन्यते केवलज्ञानेन लोकालोकस्वरूपं बुध्यत इति मुनिः शोभनं व्रतं यस्यासौ सुव्रतः मुनिश्चासौ सुव्रतश्चेति कसः। कृपाकोमलदृष्टिपातैः। दृष्ट्याः पाताः व्यापाराः कृपया अनुकंपया कोमलाः मृदुलास्ते च ते दृष्टिपाताश्च तैः "पातस्तु रक्षिते पतने" इत्यादि नानार्थरत्नमालायां। नः अस्माकं "पदाद्वाक्यस्य" इत्यादिना नसादेशः। प्रसद्यात् प्रसन्नो भूयात् षद्लृविशरणेत्यादौ लिङ्। उपमालंकारः ॥ ४ ॥

भा० अ०—जो अज्ञानरूपी काल सर्प से डँसे हुए इस मूढ़ संसार को विषापहारक गरुड़ मणि से चेतनावस्था में लाये, वे बीसवें तीर्थङ्कर श्रीमुनिसुव्रत प्रभु अपने सहज सौम्य दृष्टिपात-द्वारा हम सबों पर प्रसन्न होवें ॥ ४ ॥

त्रासादिदोषोज्झितमुद्घजातिम् गुणान्वितं मौलिमणिं यथैव ।
वृत्तात्मकं भावलयाभिरामं कृतक्रियं मूर्ध्नि दधामि वीरम् ॥५॥

त्रासादीत्यादि। त्रासादिदोषोज्झितं त्रासः रेखा आदिर्येषां ते त्रासादयः "त्रासोऽभिमणिदोषयोः" इति भास्करः ते च ते दोषाश्च तैरुज्झितोऽपगतस्तं। उद्घजातिं उद्घा प्रशस्ता जातिः आकरजन्म यस्य तं "प्रकांडमुद्घतल्लजौ प्रशस्तवाचकान्यमूनि, जातिसामान्यजन्मनोः" इति चामरः। गुणान्वितं गुणः विषापहारादिधर्मैरन्वितं युक्तं "गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु" इति वैजयंती। वृत्तात्मकं वृत्तं वर्तुलं तदेव आत्मा स्वरूपं यस्य तं। "वृत्तं पद्ये चरित्रे त्रिष्वतीते दृढनिस्तले" इत्यमरः। भावलयाभिरामं भायाः कांतेः "स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भा" इत्यमरः वलयः संहतिस्तेन अभिरामो भासमानस्तं "वलयः कंठरोगे स्याद्वलयं कंकणेऽपि च" इति विश्वः। कृतक्रियं कृता विहिता क्रिया शाणोल्लेखनादिर्विधिर्यस्य तं। मौलिमणिं चूडारत्नं। यथैव यद्वत्। त्रासादिदोषोज्झितं त्रासो भयमादिर्येषां ते तथोक्ताः तैरुज्झित उत्सृष्टस्तं। उद्घजातिं उद्घा जातिः गोत्रं यस्य तम्। गुणान्वितं गुणैः केवलज्ञानादिभिरन्वित उपेतस्तं। वृत्तात्मकं

वृत्तं चारित्रं तदेव आत्मा स्वरूपं यस्य तं । भावलयाभिरामं भावलयेन भामंडलेन अभिरामो विराजमानस्तं । कृतक्रियं कृतकृत्यं । वीरं विशिष्टां ईं लक्ष्मीं राति ददातीति वीरस्तं । "इकार उच्यते कामो लक्ष्मीरीकार उच्यते" इत्येकाक्षरनिघंटौ । अंतिमतीर्थेश्वरं । मूर्ध्नि मस्तके । दधामि दधे । धाञ् धारणे च लटि । मस्तकेन नमस्यामीत्यर्थः । श्लेषोपमालंकारः ॥ ५ ॥

भा० अ०—त्रासादि दोषों से रहित, भामण्डल से शोभित केवल-ज्ञान-गुणयुक्त, उच्चवंशज तथा उत्तम चरित्रवाले कृतकृत्य श्रीमहावीर स्वामी को रेखादि दोष-रहित उपर्युक्त विशेषण-विशिष्ट शिरोभूषण के समान मैं मस्तक पर धारणा करता हूं ॥ ५ ॥

स्वार्थप्रकाशिद्युतयोऽशरीराः रत्नप्रदीपा इव मे वसन्तु ।
तमःप्रहाण्यै हृदि दीप्यमानाः कृताधिवासाः पवनान्तरेऽपि ॥६॥

स्वार्थेत्यादि । स्वार्थप्रकाशिद्युतयः स्वानि च अर्थाश्च तथोक्ताः "स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वः स्त्रियां धने । अर्थोऽभिधेयरैवस्तु प्रयोजननिवृत्तिषु" इत्युभयत्राप्यमरः तान् प्रकाशत इत्येवं शीला स्वार्थप्रकाशिनी द्युतिः ज्ञानप्रकाशो येषां ते तथोक्ताः । पवनांतरे पवनस्य नतुवातस्य अंतरे मध्ये । कृताधिवासा अपि कृतो विहितोऽधिवासो निलयो येषां ते तथोक्ताः कृताधिष्ठाना अपि । दीप्यमानाः प्रकाशमानाः । अशरीराः न विद्यते शरीरं येषां ते तथोक्ताः सिद्धपरमेष्ठिनः । स्वार्थप्रकाशिद्युतयः स्वपरप्रकाशकांतयः । पवनांतरे वायुमध्ये । कृताधिवासा अपि विहिताश्रया अपि । दीप्यमानाः रत्नप्रदीपाणां वायुमध्ये विद्यमानत्वेपि बाधकाभावात् दीप्यमानत्वमित्यर्थः रत्नप्रदीपा इव । मे मम । "तेमयावेकत्वे" इत्यस्मच्छब्दस्य मे इत्यादेशः । हृदि हृदये । तमःप्रहाण्यै तमसोऽज्ञानस्य प्रकृष्टहानिस्तमःप्रहाणिस्तस्यै "ग्नः" इति नस्य णः तस्मैसो निरवशेषविध्वंसाय । "शोकाज्ञानध्वांतगुणस्वर्भानुदुरितेषु तमः" इति नानार्थकोशे । वसंतु तिष्ठंतु । वस निवासे लोटि । श्लेषोपमालंकारः ॥ ६ ॥

भा० अ०—वायुमध्यवर्ती रत्नप्रदीप के समान प्रकाशनशील तथा स्वपर-तत्त्व के द्योतक, शरीर-रहित सिद्ध परमेष्ठीगण अज्ञान-विनाश के लिये मेरे हृदय में विराजमान हों ॥ ६ ॥

निराकृतान्तरतमसो निषेव्या दिगम्बरैस्सन्ततवृत्तदेहाः ।
मुनिर्मलाः साधुसुधांशवो मे हरन्तु सन्तापमदृष्टपूर्वाः ॥७॥

निराकृतेति । निराकृतांतस्तमसः तिराकृतं तिरस्कृतमंतस्तमोऽज्ञानं गुहाद्यभ्यंतरतिमिरं वा यैस्ते तथोक्ताः । दिगम्बरैः "अंबरं व्योम्नि वाससि" इत्यमरः । तैः । निषेव्याः नितरां सेवितुं योग्याः । संततवृत्तदेहाः संततमनवरतं वृत्तं चारित्रं पक्षे वर्तुलं तदेव देहः स्वरूपमवयवो वा येषां ते तथोक्ताः । सुनिर्मलाः मलान्निर्गताः निर्मलाः सुष्ठु निर्मलाः सुनिर्मलाः "मलं पुरीषे किट्टे च पापे च कृपणे मलः" इति विश्वः । अदृष्टपूर्वाः पूर्वमदृष्टा अदृष्टपूर्वाः परिदृष्टसुधांशाददृष्टार्थद्योतनाददृष्टपूर्वत्वं । साधुसुधांशवः साधवोऽत्रसूर्युपाध्यायमुनयस्त्रयस्त एव सुधांशवश्चंद्राः । रूपकालंकारः । मे मम । संतापं संसारतापं तपनतापञ्च । हरंतु अपहरन्तु हृञ् हरणे लोटि । संकरालंकारः ॥ ७ ॥

भा० अ०—भीतरी अज्ञान को हटानेवाले, मुनियों से सेव्य; सम्यक्चारित्रयुक्त देहवाले अत्यन्त निर्मल तथा अलौकिक जो सूरि, उपाध्याय और साधु रूप चन्द्रमा हैं वे मेरे सन्ताप को दूर करें ॥ ७ ॥

रत्नत्रयात्मा सुचिराय धर्मः सार्थेन नाम्ना महितः स जीयात् ।
यो धारयत्यच्युतधाम्नि मग्नानुद्धृत्य सत्वान् भववारिराशेः ॥८॥

रत्नत्रयेति । यः धर्मः । मग्नान् मज्जंतिस्म मग्नास्तान । सत्वान् जीवान् । भववारिराशेः वारीणां राशिः वारिराशिः भवस्संसारः स एव वारिराशिस्तथोक्तस्तस्मात रूपकालंकारः । उद्धृत्य अपनीय । अच्युतधाम्नि न च्युवत इत्यच्युतं नित्यं तच्च तत् धाम स्थानं च तस्मिन् मोक्षपद इत्यर्थः "गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि" इत्यमरः । धारयति स्थापयति धृञ् धारणे णिजंताल्लट् । सः रत्नत्रयात्मा रत्नानीव समीहितफलत्वात् रत्नानां त्रयं तथोक्तं तदेव आत्मा स्वरूपं यस्य स तथोक्तः । अयमपि रूपकः । सार्थेन अर्थेन सह वर्तत इति सार्थः तेन । नाम्ना अभिधानेन । महितः दीर्घकालं मह्यतेस्म महितः । धर्मः । सुचिराय "चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः" इत्यभिधानादव्ययं । जीयात् सर्वोत्कर्षेण वर्त्तताम् "सर्वोत्कर्षे त्वकर्मा स्याद्विजये तु सकर्मकः" इति वचनात् । जि अभिभवे लिङ् ॥८॥

भा० अ०—गिरे हुये जीवों का संसार समुद्र से उद्धार कर मोक्ष में प्रवृत्त करानेवाले रत्नत्रयात्मक धर्म अपने सार्थक नाम से पूजित होता हुआ चिरकाल तक जयशील होवे ॥८॥

वीरादिव क्षीरनिधेः प्रवृत्ता सुधेव वाणी सुधिया कलश्या ।
विधृत्य नीता विबुधाधिपैर्मे निषेविता नित्यसुखाय भूयात् ॥९॥

वीरादिवेत्यादि । क्षीरनिधेरिव क्षीराणि निधीयंतेऽस्मिन्निति क्षीराणां निधिरिति वा क्षीरनिधिस्तस्मादिव । वीरात् वर्धमानस्वामिनः सकाशात् । प्रवृत्ता अवतीर्णा । विबुधाधिपैः विबुधानामधिपास्तैः सुरेंद्रैः गणेन्द्रश्च "विबुधः पंडिते देवे" इति विश्वः । सुधिया शोभना धीस्सुधीस्तया सम्यग्ज्ञानेन । कलश्या अल्पः कलशः कलशी तया । विधृत्य विधरणं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति विधृत्य उंभित्वा । नीता नीयतेस्म नीता प्रापिता सती । निषेविता नितरां सेविता आराधिता च । सुधेव अमृतमिव "सुधामृतेस्नुहीमूर्वालेपगाङ्गेष्टिकासु च" इति विश्वः । वाणी सरस्वती । मे मम । नित्यसुखाय अनन्तसौख्याय । भूयात् भवतु । भू सत्तायां लिट् । दुग्धाब्धौ सुधासंभव इति लौकिकी रूढिः । उपमालंकारः ॥९॥

भा० अ०—क्षीरसमुद्ररूपी श्रीमहावीर तीर्थङ्कर से निकली हुई तथा सुबुद्धिरूप कलश से देवेन्द्रों के से गणधरों के द्वारा लाकर सेवित हुई सुधारूपिणी सरस्वती मेरे अनन्त सुख की सम्पादिका होवे । ॥९॥

भट्टाकलंकाद् गुणभद्रसूरेः समन्तभद्रादपि पूज्यपादात् ।
वचोऽकलंकं गुणभद्रमस्तु समन्तभद्रं मम पूज्यपादम् ॥१०॥

भट्टाकलंकेति । मम अर्हद्दासनाम्नः कवेः । वचः वचनं एतत्काव्यमित्याशयः । भट्टाकलंकात् भट्टश्चासावकलंकश्च भट्टाकलंकस्तस्मात् भट्टाकलंकस्वामिनः प्रसादात् । अकलंकं न विद्यते कलंकं श्रुतिकटुत्वादिरूपं कल्मषं यस्य तत् । अस्तु भवतु अस भुवि लोट् । गुणभद्रसूरेः गुणभद्रश्चासौ सूरिश्च तस्मात् गुणभद्रस्वामिनोऽपि । गुणभद्रं गुणैः सौकुमार्यादिभिर्भद्रं मंगलं दृढं वा । अस्तु भवतु । समंतभद्रात् समंतभद्रस्वामिनः । समंतभद्रं समंतात्सर्वतः भद्रं मंगलं यस्य तत् "भद्रं स्यान्मंगले हेम्नि पुस्तके करणांतरे । भद्रो रुद्रे वृषे रामचन्द्रे मेरुकदंबयोः । हस्तिजात्यन्तरे भद्रो वाच्यवच्छ्रेष्ठसाधुनोः" इति विश्वः समंतशब्दोऽत्रानभिहितसाकल्यमातनोति । तस्माल्लक्षणरीतिरसालंकारादिसुन्दरमिति भावः । तथा चोक्तं चन्द्रालोके—"निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता । सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्" । पूज्यपादात् पूज्यौ पादौ चरणौ यस्य स तस्मात् । पूज्यपादं पूज्यैः सत्पुरुषैः पद्यते प्रतिपद्यत इति पादमुपादेयं । अस्तु भवतु । यथासंख्यालंकारः ॥१०॥

भा० अ०—मेरा यह "श्रीमुनिसुव्रत काव्य" भट्टाकलङ्क स्वामी की कृपा से निष्कलंक, गुणभद्र सूरि की कृपा से सौकुमार्य्यगुणयुक्त, श्रीसमन्तभद्र के प्रसाद से सर्वत्र मंगलमय तथा पूज्यपाद स्वामी की कृपा से सज्जनों से माननीय होवे ॥१०॥

वीराकरोत्थं मुनिसार्थनीतं कथामणिं श्रीमुनिसुव्रतस्य ।
सुवर्णदीप्रं नवयुक्तिरम्यं विदग्धकर्णाभरणं विधास्ये ॥११॥

वीराकरोत्थमिति । वीराकरोत्थं वीरः सन्मतिस्वामी स एवाकरः खनिस्तस्मात् "खनिः स्त्रियामाकरःस्यात्" इत्यमरः उत्तिष्ठतिस्म उत्थ उत्पन्नस्तं रूपकालंकारः । मुनिसार्थनीतं मुनयो गणधरादयस्त एव सार्थो वणिग्निवहस्तेन नीत आनीतस्तं "सार्थो वणिक्समूहे स्यादपि संघातमात्रके" इति विश्वः । सुवर्णदीप्रं शोभनानि वर्णानि तैरक्षरैः "वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु वाक्षरे" इत्यमरः पक्षे सुवर्णेन हिरण्येन दीप्रं दीपत इत्येवं शीलो दीप्रः प्रकाशनशीलस्तं नमूकम्पजसित्यादिना शीलार्थे रः । नवयुक्तिरम्यं नवा नूतना युक्तिः सुश्लिष्टतादिसंदर्भस्तया रम्यः श्रुतिसुभगस्तं नवीनोपायबंधुरं च । श्रीमुनिसुव्रतस्य श्रिया उपलक्षितो मुनिसुव्रतस्तस्य—तीर्थंकरस्य । कथामणिं कथैव मणिस्तं गर्भावतारादिकथारत्नं "रत्नं मणिर्द्वयोरश्मजातौ मुक्तादिकेऽपि च" इत्यमरः । विदग्धकर्णाभरणं विदग्धानां विदुषां चतुराणां च कर्णयोः श्रोत्रयोराभरणमलंकारं । विधास्ये करिष्ये । डुधाञ्धारणे च । लृडुत्तमपुरुषः ॥११॥

भा० अ०—महावीरस्वामिरूप आकर से उत्पन्न हुई, गणधररूपी व्यापारियों से लायी हुई, नई युक्तियों के कारण रमणीय, वर्णसौष्ठवसम्पन्न तथा विज्ञों के श्रवणभूषण-तुल्य श्रीमुनिसुव्रत स्वामी की रत्नकीसी कथा में करूंगा ॥ ११ ॥

सरस्वतीकल्पलतां स को वा संवर्धयिष्यन् जिनपारिजातम् ।
विमुच्य काञ्जीरतरूपमेषु व्यारोपयेत्प्राकृतनायकेषु ॥ १२ ॥

सरस्वतीत्यादि । सरस्वतीकल्पलतां कल्पयति विदधाति वांछितमिति कल्पा सा चासौ लता च कल्पलता कल्पस्य लतेति वा तथोक्ता सरः प्रसरणमस्या अस्तीति सरस्वती सैव कल्पलता तां । संवर्धयिष्यन् वृद्धिं निवेशयन् । जिनपारिजातम् जिन एव पारिजातः कल्पवृक्षस्तं "मंदारः पारिजातकः" इत्यमरः । विमुच्य परित्यज्य । कांजीरतरूपमेषु कांजीरश्चासौ तरुश्च तस्योपमास्समानास्तेषु विषवृक्षसमानेषु । प्राकृतनायकेषु प्राकृताश्च ते नायकाश्च तेषु "प्राकृतश्च पृथग्जनः" इत्यमरः "नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि" इति विश्वः अधमजनेष्वित्यर्थः । स को वा को वा पुरुषः । व्यारोपयेत् अवलंबयेत् रुह बीजजन्मनि लिङ् । न कोपि सुधीरित्यर्थः । किन्तु सरस्वतीकल्पलतां संवर्धयिष्यन् जिनपारिजातमेव व्यारोपयेदिति भावः ॥ १२ ॥

भा० अ०—सरस्वतीरूपिणी कल्पलता के आधारभूत जिन-कल्पवृक्ष को छोड़कर कौन से विद्वान् उन्हें विष वृक्ष के समान अधम नायक का अवलम्बन करायेंगे। अर्थात् कल्पलतिका विष वृक्ष का तिरस्कार कर जिस प्रकार कल्पवृक्ष का आश्रय लेती है वैसे ही श्रीजिनवाणी अधम नायक की उपेक्षा कर श्रीजिनेन्द्र भगवान् का ही आश्रय लेती हैं ॥१२॥

गणाधिपस्यैव गणेयमेतत् भवामि चोद्यन्भगवच्चरित्रे।
भक्तीरितो नन्वगचालनेऽपि शक्तो न लोके ग्रहिलो न लोकः ॥१३॥

गणाधिपस्येत्यादि। एतत् चरित्रं। गणाधिपस्यैव गणानां द्वादशगणानामधिपः प्रभुः गणधरस्तस्यैव। गणेयं गणितुं योग्यं तथोक्तं प्रमितुं योग्यं। भक्तीरितः भक्त्या गुणानुरागेण ईरितः प्रेरितस्सन्। भगवच्चरित्रे भगवतो मुनिसुव्रतस्वामिनः चरित्रे कथायां। उद्यन् उद्यतश्च। भवामि अस्मि भू सत्तायां लट्। तथा हि—लोके भुवने। ग्रहिलः पिशाचपीडितः। लोकः जनः। अगचालने पर्वतकंपने। उद्यन् उद्यतः सन्। न शक्तोपि न समर्थश्चेदपि। अगचालने न गच्छतीत्यगः वृक्षस्तस्य चालने कंपने। "शैलवृक्षौ नगावगौ" इत्यमरः। न शक्तो ननु न समर्थो न भवति ननु अपितु समर्थ एव। "द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयते" इति वचनात्। "प्रश्नाऽवधारणानुज्ञानुनयामंत्रणे ननु" इत्यमरः। एतच्चरित्रमाहात्म्यसर्वस्वं वर्णयितुं भक्तीरितस्सन् उद्यन्नपि यथाशक्ति वर्णयिष्यामीति भावः। अर्थांतरन्यासः ॥ १३ ॥

भा०—गणधरों से वर्णनीय इस भगवच्चरित्रमय काव्य की रचना करने के लिये मैं भगवद्भक्ति से प्रेरित होकर प्रयास करता हूं। क्योंकि, पिशाचग्रस्त प्राणी बड़े २ पर्वतों को भी कम्पित करने में समर्थ हो जाता है। उसी प्रकार बहुज्ञान-साध्य भी यह कार्य अल्पज्ञ होता हुआ भी मैं भगवद्भक्ति बल से ही सम्पन्न करने में समर्थ हूंगा। ॥ १३ ॥

मनः परं क्रीडयितुं ममैतत्काव्यं करिष्ये खलु बाल एषः।
न लाभपूजादिरतः परेषां न लालनेच्छाः कलभा रमन्ते ॥१४॥

मन इत्यादि। बालः बालकः। "बालः कचे शिशौ मूर्खे ह्रीवेरे श्वेभपुच्छयोः" इति विश्वः अल्पबुद्धिरित्यर्थः। एषः प्रत्यक्षभूतोऽहमर्हद्दासः। "स्वस्मात्परोक्षनिर्देशागमको मददैन्ययोः" इति वचनात् स्वस्यानौद्धत्यं सूच्यते। मम मे। मनः चित्तं। परं अधिकं। क्रीडयितुं संतोषयितुं। एतत् इदं। काव्यं कवेर्भावः कृत्यं वा काव्यं मुनिसुव्रतस्वामिचरित्रं। खलु स्फुटं। करिष्ये विधास्ये। डुकृञ् करणे लृडुत्तमपुरुषः। परेषां लोक-

जनानां । लाभपूजादिरतः लाभश्च पूजा च लाभपूजे ते आदिर्येषां तेषु रतः प्रीतस्तथोक्तः सन्। न करिष्ये न विधास्ये । तथा हि कलभा करिपोताः "कलभः करिशावकः" इत्यमरः । परेषां अन्येषां । लालनेच्छाः लालने संतोषकरणे इच्छा अभिलाषो येषां ते तथोक्तास्संतः । न रमंते न क्रीडंति । रमु क्रीडायां लट् । किंतु स्वेच्छयैव रमन्त इत्यर्थः अनेन कविनाहद्दासस्य रतिप्रकर्षस्सूच्यते । अर्थान्तरन्यासः ॥१४॥

भा० अ०—मैं अर्हद्दास अपना मनोरञ्जन करने के लिये ही इस काव्य का प्रणयन करूंगा, नकि दूसरों से सम्मान पाने की इच्छा से । क्योंकि हाथी के बच्चे अपने मनकी उमंग से ही कलोल करते हैं नकि दूसरों को प्रसन्न करने की अभिलाषा से ॥१४॥

श्रव्यं करोत्येष किल प्रबन्धं पौरस्त्यवन्नेति हसन्तु सन्तः ।
किं शुक्तयोऽद्यापि महापरार्ध्यं मुक्ताफलं नो सुवते विमुग्धाः ॥१५॥

श्रव्यमित्यादि । एषः अयमर्हद्दासः । श्रव्यं श्रोतुं योग्यं श्रव्यं विद्वद्भिराकर्णनीयं । प्रबंधं काव्यं । करोति किल विदधाति किल "वार्तासंभाव्ययोःकिल" इत्यमरः । पौरस्त्यवत् पुरोभवाः पौरस्त्यास्त इव पौरस्त्यवत् पूर्वकवय इव । नेति न करिष्यंतीति अथवा पुरोभवं पौरस्त्यं तदिव तथोक्तं पूर्वकाव्यमिव "दक्षिणपश्चात्पुरस्त्यक्" "तस्यार्हे क्रत्ये वत्" इति वत् । नेति नभविष्यतीति । संतः सत्पुरुषाः । हसन्तु हास्यं कुर्वन्तु हस् हसने लोट् । तेषामहं न प्रतिभट इत्यर्थः । विमुग्धाः भो विमूढ़ा "मुग्धो मूढो जडो नेडो मूको मूर्खश्च कद्वदः" इति धनंजयः यूयं हसतेत्यध्याह्रियते । शुक्तयः मुक्तस्फोटाः "मुक्तास्फोटः स्त्रियां शुक्तिः" इत्यमरः महापरार्ध्यं महच्च तत् परार्ध्यं च तथोक्तं "पराध्याग्रप्राग्रहरप्राग्र्याग्र्याग्रीयमग्रियम्" इत्यमरः अनर्घ्यमित्यर्थः । मुक्ताफलं मुक्तायाः फलं तथोक्तं । अद्यापि अस्मिन्कालेऽपि । नो सुवते किं नोत्पादयन्ति किं षूङ् प्राणिगर्भविमोचने लट् । अपि तु जनयंत्येव अर्थान्तरन्यासः ॥१५॥

भा० अ०—मैं अर्हद्दास इसे श्रव्य काव्य बनाता हूं । पूर्व कवियों कासा यह प्रबन्ध नहीं होता है, इसके लिये सज्जनगण मुझे भले ही हँसे; पर यह निश्चित बात है कि, जड़ तथा तुच्छ सीप आज भी अमूल्य मोती को पैदा करते हैं । अर्थात् मैं अल्पज्ञ हूं तो भी सहृदय विज्ञ मेरे इस तुच्छ काव्य से तात्त्विक बातें निकाल सकते हैं ॥१५॥

प्रबन्धमाकर्ण्य महाकवीनां प्रमोदमायाति महानिहैकः ।
विधूदयं वीक्ष्य नदीन एव विवृद्धिमायाति जडाशया न ॥१६॥

प्रबंधमित्यादि । इह अस्मिन्निह अमुष्मिन् भुवने । एकः । महान् कोपि महापुरुषः । महाकवीनां महांतश्च ते कवयश्च तथोक्तास्तेषां । प्रबंधं काव्यं । आकर्ण्य श्रुत्वा । प्रमोदं

संतोषं । आयाति प्राप्नोति या प्रापणे लट् । तथाहि न दीन एव नदीनः अलुक्समासः । सत्पुरुष एव इति ध्वनिः पक्षे नदीनामिनः प्रभुः समुद्रः "इनः सूर्ये प्रभौ" इत्यमरः स एव । विधूदयं विधोश्चंद्रस्योदयमुत्पत्तिं । वीक्ष्य आलोक्य । विवृद्धिं समृद्धिं । आयाति आगच्छति । जडाशयाः जड आशयोऽभिप्रायो येषां ते तथोक्ता मंदबुद्धय इति ध्वनिः "आशयः स्यादभिप्राये मानसाधारयोरपि" इति विश्वः पक्षे जलान्याशेरते एष्विति जलाशयाः "जलाशयो जलाधाराः" इत्यमरः । न यांति विवृद्धिं न गच्छन्ति । "यमकश्लेषचित्रेषु वबयोर्डलयोर भेदः" इति बचनात् जडाशया जलाशया इत्युभयत्रापि श्लेषरूपेणान्वयः अर्थांतरन्यासः ॥१६॥

भाषा टी०—चन्द्रोदय होने पर समुद्र ही उद्वेलित होता है, नकि छोटे २ जलाशय । उसी प्रकार महाकवियों का प्रबन्ध देखकर विज्ञ ही सन्तुष्ट होते हैं नकि जड़ाशय ॥१६॥

उपेक्षितारोऽपि फलन्त्यनिष्टाभीष्टानि यद् दुर्जनसज्जनास्तत् ।
वृथा कृता विश्वसृजा श्रमाय विषद्रुकल्पद्रुमयोर्हि सृष्टिः ॥१७॥

उपेक्षितार इत्यादि । दुर्जनसज्जनाः दुष्टाः जना दुर्जनाः संतो जनास्सज्जनाः दुर्जनाश्च सज्जनाश्च तथोक्ताः । यत् यस्मात्कारणात् । "यत्तद्यतस्ततो हेतौ" इत्यमरः । उपेक्षितारोऽपि उदासीनं कुर्वन्तोऽपि किंपुनस्तन्निष्पादनाभिमुखा इत्यपि शब्दार्थः । अनिष्टाभीष्टानि न इष्टान्यनिष्टानि तानि च तान्यभीष्टानि च तथोक्तानि अहितहितानि । फलंति निष्पादयंति फल निष्पत्तौ लट् । तत् तस्मात् कारणात् । विषद्रुकल्पद्रुमयोः विषरूपो द्रुर्वृक्षस्तथोक्तः "पलाशिद्रुद्रुमाः" इत्यमरः कल्पश्चासौ द्रुमश्च कल्पस्य द्रुम इति वा तथोक्तस्तयोः विषवृक्षकल्पवृक्षयोः । सृष्टिः निर्माणं । विश्वसृजा ब्रह्मणा "विधाता विश्वसृड् विधिः" इत्यमरः । वृथा व्यर्थं । "वृथानिरर्थकाविध्योः" इत्यमरः । श्रमाय आयासाय । कृता विहिता । विषवृक्षकल्पवृक्षयोः कृत्यं दुर्जनसज्जना एव कुर्वंतीति भावः । अत्र ब्रह्मणः सृष्टिः कवितासमयेन कथ्यते ॥१७॥

भा० अ०—सज्जन, दुर्जन तथा उदसीन प्राणी भी जब किसी के कार्य में हिताहित कर ही बैठते हैं, तब मैं समझता हूं कि ब्रह्मा ने विषवृक्ष तथा कल्पवृक्ष की व्यर्थ ही सृष्टि की । अर्थात् सज्जन और दुर्ज्जन ये दो महाशय ही इन वृक्षों का कार्य-सम्पादन कर देते हैं ॥१७॥

सन्तः स्वभावाद् गुणरत्नमन्ये गृह्णन्ति दोषोपलमात्मकीयम् ।
यथा पयोऽस्रं शिशवो जलौकाः जनो वृथा रज्यति कुप्यतीह ॥१८॥

संत इत्यादि । यथा । शिशवः बालकाः । जलौकाः रक्तपाः "रक्तपास्तु जलौकायाम्" इत्यमरः । पयः क्षीरं । "पयः क्षीरं पयोऽम्बु"च इत्यमरः । अस्रं रक्तं । रुधिरेऽसृग्लोहितास्र-

कक्षतजशोणितम्'' इत्यमरः। गृह्णन्ति स्वीकुर्वन्ति ग्रह उपादाने लटि। तथा सन्तः ये सत्पुरुषाः। स्वभावात् निसर्गात्। आत्मकीयं आत्मन इदमात्मकीयं स्वकीयं। गुणरत्नं गुण एव रत्नं गृह्णन्ति। अन्ये दुर्जनाः। आत्मकीयं स्वकीयं। दोषोपलं दोष एवोपलः पाषाणस्तं "पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः" इत्यमरः। गृह्णन्ति आददते। इह लोके। जनः लोकः। वृथा व्यर्थं। रज्यति तुष्यति। कुप्यति रुष्यति रजि रागे कुप क्रोधे लटि। सदसतोस्तत्स्वभावत्वात्तयोस्तोषरोषाविशेषं न साधयत इति भावः॥ १८॥

आ० अ०—जिस प्रकार स्तन में लगे हुए लड़के दूध तथा जोंक खून पीते हैं उसी प्रकार सज्जन स्वभाव से ही गुणग्राही तथा दुर्जन दोषग्राही होते हैं। इस विषय में लोगों का प्रसन्न अथवा अप्रसन्न होना व्यर्थ सा ज्ञात होता है॥ १८॥

तिक्तोऽस्ति निम्बो मधुरोऽस्ति चेक्षुः स्वं निन्दतोऽपि स्तुवतोऽपि तद्वत्।
दुष्टोऽप्यदुष्टोऽपि ततोऽनयोर्मे निन्दास्तवाभ्यामधिकं न साध्यम्॥१६॥

तिक्तोऽस्तीत्यादि। निम्बः निम्बवृक्षः। "पिचुमन्दस्तु निम्बः" इत्यमरः। स्वं आत्मानं। निन्दतोऽपि निन्दतीति निन्दन् तस्यापि तिक्तः। स्तुवतोपि स्तौतीति स्तुवन् तस्यापि स्तुतिं कुर्वतोऽपि तिक्तः तिक्तरसोपेतः। अस्ति वर्तते। इक्षुश्च रसालोऽपि। स्वं निन्दतोऽपि स्तुवतोऽपि। मधुरः मधुररसयुक्तः। अस्ति भवति। दुष्टोऽपि दुर्जनोऽपि। अदुष्टोऽपि सज्जनोऽपि तद्वत् तौविव निम्बेक्षुवृक्षौ इव। स्वं निन्दतोऽपि स्तुवतोऽपि अनिष्टेष्टफलं प्रकाशेत इत्यर्थः। ततः तस्माद्धेतोः। अनयोः सज्जनदुर्जनयोः। निन्दास्तवाभ्यां निन्दनस्तवनाभ्यां। मे मम अधिकं बहुलं। साध्यं फलं न नास्ति॥ १६॥

भाषा टी०—जिस प्रकार अपनी प्रशंसा तथा निन्दा करनेवालों के लिये भी नीम तीती तथा ईख मीठी बनी रहती है, उसी प्रकार सज्जन और दुर्जन हैं। इनकी स्तुति अथवा निन्दा से मेरा कुछ साध्य सा नहीं दीख पड़ता॥ १६॥

यद्वर्ण्यते जैनचरित्रमत्र चिन्तामणिर्भव्यजनस्य यच्च।
हृद्यार्थरत्नैकनिधिः स्वयं मे तत्काव्यरत्नाभिधमेतदस्तु॥२०॥

यदित्यादि। यत् जैनचरित्रं जिनस्येदं जैनं तच्च तत् चरित्रं च तथोक्तं। अत्र अस्मिन् काव्ये। वर्ण्यते स्तूयते वर्ण वर्णक्रियादौ कर्मणि लटि। यच्च चरित्रं। भव्यजनस्य रत्नत्रयाविर्भवनयोग्यो भव्यः स चासौ जनश्च तस्य विनेयजनस्य। चिन्तामणिः चिन्तितार्थप्रधानो मणिस्तथोक्तः नियतलिंगत्वात्पुंल्लिङ्गः। स्वयं स्वरूपेण। हृद्यार्थरत्नैकनिधिः हृदयस्य प्रियः हृद्यः "हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासे" इति हृदयशब्दस्य यणि प्रत्यये हृदादेशः। हृद्यश्चासावर्थोऽभि-

प्रायस्स च तथोक्तः हृद्यार्थ एव रत्नानि तेषामेको मुख्यः स चासो निधिश्च तथोक्तः "एके मुख्यान्यकेवलाः" इत्यमरः । मे मम । तदेतत् काव्यं । काव्यरत्नाभिधं काव्यानां रत्नमिव काव्यरत्नमित्यभिधा अभिधानं यस्य तत् काव्यरत्नाभिधं । अस्तु भवतु अस् भुवि लोट् ॥ २० ॥

भा० अ०—इस काव्य में मैं जिस जिन-चरित्र का वर्णन करता हूं, वह भविकों के लिये चिन्तामणि और सुन्दर अभिप्राय रूपी रत्न की एकमात्र निधि है; अतः यह मेरा प्रबन्ध काव्यरत्न नाम से प्रख्यात हो ॥ २० ॥

यत्स्थापनां नाम भुवञ्च कालं द्रव्यञ्च भावं प्रति षट्प्रकाराः ।
स्तुतिर्जिनस्य क्रियतेऽत्र तस्मात् काव्यं ममैतत्स्तुतिरेव भूयात् ॥२१॥

यदित्यादि । यत् यस्मात्कारणात् । अत्र काव्ये । स्थापनां स्थाप्यते स एव देव इदं प्रतिबिंबमिति स्थापनां वर्णप्रमाणसंस्थापनादिभिः प्रतिमा तदालयादि प्रशंसनं नाम जिनतज्जननीजनकाद्यभिधानं तन्नामनिवर्चनं च । भुवञ्च जिनजन्मादिक्षेत्रं । चशब्दः समुच्चयार्थः । कालं जिनोत्पत्तिप्रमुखकालं । द्रव्यं च जिनजन्मसूचकस्वप्नादि द्रव्यं च । भावञ्च केवलज्ञानादिगुणं प्रति भावमिति च "प्रतिपर्यनुभिः" इति द्वितीया । षट् प्रकारा भेदा यस्याः सा "प्रकारो भेदसादृश्ये" इत्यमरः । जिनस्य अर्हतः । स्तुतिः स्तोत्रं । क्रियते विधीयते तथैवागमश्च श्रूयते । "स्युर्नामस्थापनाद्रव्य-क्षेत्रकालाश्रयास्तवाः । व्यवहारेण पञ्चार्थादेकोभावस्तवोऽर्हताम्" इति । तस्मात्कारणात् । मम । एतत्काव्यं । स्तुतिरेव स्तोत्रमेव । भूयात् भवतु । भू सत्तायां लिङ् ॥ २१ ॥

भा० अ०—इस काव्य में जिन-स्थापन, जिन-नाम, जिन-जन्मादिक्षेत्र, जिन केवल-ज्ञानादि गुण, जिनोत्पत्तिकाल तथा जिनजन्म-सूचक स्वप्नादि छः प्रकार की स्तुति की जाती है, इस लिये मेरा यह काव्य ही स्तुतिमय हो ॥ २१ ॥

अथास्ति जम्बूविटपिच्छलेन द्वीपेषु गर्वोन्नतमस्तकस्य ।
द्वीपस्य भर्माभरणेऽत्र खण्डे रत्नायमानो मगधाख्यदेशः ॥२२॥

अथेत्यादि । अथ पीठिकानंतरं "मंगलानंतरारंभप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ" इत्यमरः । द्वीपेषु । जंबूविटपिच्छलेन विटपोऽस्यास्तीति विटपी वृक्षः "विटपी फलिनो नगः" इति धनंजयः । जंबूरिति विटपी तथोक्तः स इति छलं व्याजस्तेन । "पदं व्यतिकरं छलम्" इति धनंजयः । गर्वोन्नतमस्तकस्य गर्वेणोन्नतो मस्तको यस्य तस्य । उत्प्रेक्षा । द्वीपस्य जम्बूद्वीपस्य । भर्माभरणे भर्मणा निर्मितमाभरणं तथोक्तं भर्माभरणमिव भर्माभरणं तस्मिन्

अत्र अस्मिन् खण्डे आर्यखण्डे । रत्नायमानः रत्नमिव आचरतीति रत्नायमानः । उपमा । मगधाख्यदेशः मगध इत्याख्या नाम यस्य स तथोक्तः स चासौ देशश्च तथोक्तः । अस्ति वर्तते । संकरालंकारः ॥ २२ ॥

भा० अ०—जम्बूवृक्ष के कारण सभी द्वीपों में अभिमान से उन्नत मस्तकवाले, जम्बूद्वीप के स्वर्णभूषण-तुल्य आर्य-खण्ड में रत्न के समान एक मगध-नामक देश है। २२।

यद्भूधरा भूतलसेव्यपादा भूपा इवाक्रान्तदिगन्तरालाः ॥
इन्दन्ति मत्तद्विपकैरवाक्षिकस्तूरिकाकाञ्चनरत्नखड्गैः ॥ २३ ॥

यदित्यादि । भूतलसेव्यपादाः भुवस्तलं भूतलं तेन सेव्याः संबद्धुं योग्याः पादाः प्रत्यन्तपर्वता मूलतलं वा येषां ते तथोक्ताः पक्षे "तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश" इति भूतलेन भूजनेन सेव्याः आराधयितुं योग्याः पादाश्चरणा येषां ते तथोक्ताः । "पादो ब्रध्ने तुरीयांशे शैलप्रत्यंतपर्वते। चरणे च मयूखे च" इति विश्वः । आक्रान्तदिगन्तरालाः दिशां ककुभामन्तरालमभ्यंतरं आक्रांतं व्याप्तं दिगन्तरालं यैस्ते तथोक्ताः । यद्भूधराः यस्य मगधदेशस्य भूधराः पर्वताः । मत्तद्विपकैरवाक्षिकस्तूरिकाकांचनरत्नखड्गैः मत्ताश्च ते द्विपाश्च मत्तद्विपाः कैरवमिव अक्षिणी यासां ताः कैरवाक्ष्यः मत्तद्विपाश्च कैरवाक्ष्यश्च कस्तूरिकाः कस्तूरिकामृगाश्च कस्तूरी च कांचनाः राजवृक्षाश्च कांचनं स्वर्णं च रत्नानि च खड्गाः खड्गिमृगा असयश्च तथोक्तास्तैः । उपमालंकारः । "काञ्चनः कांचनारेस्याच्चंपके नागकेसरे उदुंबरे च पुन्नागे हरिद्रायां च काञ्चनी । कांचनं हेम्नि किंजल्क" इति। खड्गगंडकशृङ्गासिबुद्धभेदेषु गंडक" इति च विश्वः । भूपा इव राजान इव । इंदन्ति परमैश्वर्यमनुभवन्ति । इदु परमैश्वर्ये लट् । उपमालङ्कारः ॥ २३ ॥

भा० अ०—सभी दिशाओं में व्याप्त तथा पृथ्वी के अन्तस्तल-प्रदेश में जिन के पैर अड़े हुए हैं, ऐसे मगधदेश के पर्वत मतवाले हाथी, कैरवाक्षी, कस्तूरीमृग, और खड्गमृग से ऐश्वर्यशाली होते हुए अन्यान्य राजाओं के समान शोभते हैं। ॥२३॥

नगेषु यस्योन्नतवंशजाताः सुनिर्मला विश्रुतवृत्तरूपाः ।
भव्या भवन्त्याप्तगुणाभिरामा मुक्ताः सदा लोकशिरोविभूषाः ॥२४॥

नगेष्वित्यादि । यस्य मगधदेशस्य । नगेषु न गच्छन्तीति नगाः तेषु । "शैलवृक्षौ नगावगौ" इत्यमरः । उन्नतवंशजाताः उन्नता महान्तः वंशा वेणवोऽन्वयाश्च "वंशो वेणौ कुले वर्गे पृष्ठस्यावयवेऽपि च" इतिविश्वः । उन्नताश्च ते वंशाश्च तथोक्तास्तेषु जायन्तेस्म तथोक्ताः ।

सुनिर्मलाः मलात् त्रासादिरूपान्निर्गता निर्मलाः पक्षे मलाद्दर्शनमोहनीयान्निर्गता निर्मलाः सुष्ठु निर्मलाः सुनिर्मलाः। विश्रुतवृत्तरूपाः विश्रुतं प्रसिद्धं तच्च तद्वृत्तं वर्तुलं च तथोक्तं तदेव रूपं यासां तास्तथोक्ताः पक्षे विशिष्टश्रुतं विश्रुतं श्रुतज्ञानं तच्च वृत्तं चारित्रञ्च विश्रुतवृत्ते ते एव रूपं स्वरूपं येषां ते तथोक्ताः। भव्याः तारादिगुणाविर्भवनयोग्याः भव्याः शुभरूपाः पक्षे रत्नत्रयाविर्भवनयोग्याः भव्याः विनेयाः। आप्तगुणाभिरामाः आप्यतेस्म आप्तः प्राप्तः स चासौ गुणस्तन्तुश्च तथोक्तस्तेन अभिरामाः शोभमानाः पक्षे "इहाप्यते तत्त्वबुभुत्सया भवभ्रमोत्थदुःखापनिनीषया बुधैः। अनन्तसौख्यामृतमोक्षलिप्सया निरुच्यतेऽन्वर्थतयाप्त इत्यसौ" इति वचनादाप्तस्सर्वज्ञस्तस्य गुणाः क्षायिकसम्यक्त्वादयस्तैरभिरामाः। मुक्ताः मौक्तिकानि पक्षे मुक्ताः मुक्तिमापन्नाः "मुक्ता तु मौक्तिके मुक्तः प्राप्तमुक्तौ च मोचने" इति विश्वः। सदा सर्वस्मिन् काले। लोकशिरोविभूषाः लोकानां जनानां शिरांसि मस्तकानि तेषां विभूषाः भूषणरूपाः पक्षे लोकस्य जगतः शिरोऽग्रभागस्तस्य विभूषाः मंडनभूताः। "लोकस्तु भुवने जने" इत्यमरः। भवन्ति जायन्ते। श्लेषालंकारः। यद्देशस्थपर्वतेषु वेणुसमुद्भूतानि मौक्तिकानि जनानां शिरसो भूषणानि भवन्ति तेषु मुक्तिमापन्ना भव्याश्चते त्रिलोकशिखरमंडनतां यान्तीति भावः॥ २४॥

भा० अ०—जिस मगधदेश के पर्वतों में उच्च वंशज, अत्यन्त स्वच्छ अथवा निर्दोष और सुन्दर गोलाकार अथवा श्रुतज्ञान तथा सच्चारित्र-गुणयुक्त, सुन्दर अथवा विनेय और आप्त गुणों से युक्त मुक्ता अथवा मुक्त जीव सदा लोगों के शिरो-भूषण बने हुए थे। २४।

उत्तुङ्गगोत्रप्रभवा भवत्यो भजन्तु भूचक्रबहिष्कृतं किम्।
इति स्रवन्तीरुदधिं सरन्तीरवैमि यत्रालिगणो रुणद्धि॥ २५॥

उत्तुंगेत्यादि। यत्र मगधदेशे। आलिगणः आलीनां सेतूनां सखीनां वा गणः समूहः। "आलिः पंक्तौ च सख्यां च सेतौ च परिकीर्तिता" इति विश्वः। उत्तुंगगोत्रप्रभवाः उत्तुङ्गाः उन्नतास्ते च ते गोत्राः पर्वताश्च तथोक्ताः पक्षे उत्तुंगानि श्रेष्ठानि गोत्राणि कुलानि तथोक्तानि तेषु प्रभवाः जाताः। "गोत्रं नाम्नि कुले क्षेत्रे कानने चित्तवर्त्मनोः। संभावनीयबोधेऽपि गोत्रः क्षोणीधरे मतः॥ प्रभवो जलमूले स्याज्जन्मभूमौ पराक्रमे। आद्योपलब्धयोः स्थाने" इत्युभयत्रापि विश्वः। भवत्यः भान्तीति भवत्यः। "भातेर्डवतु"-त्यौणादिको डवतु प्रत्ययः "नृदुगिदि" त्यादिना ङी। पूज्या यूयं। भूचक्रबहिष्कृतं भुवश्चक्रं वलयं-भूचक्रं तस्माद्बहिष्कृतो दूरीकृतोऽवधिनियतस्तं दुश्चरित्राल्लोकबाह्यकृतं नायकमिति ध्वनिः। किं किंकारणं। "किं पृच्छायां जुगुप्सने" इत्यमरः। भजन्तु श्रयन्तु। भवच्छब्दप्रयोगे प्रथमपुरुषः। भज सेवायां लोट्। इति एवं प्रकारेणोक्त्वा। उदधिं उदकानि धीयन्तेऽस्मिन्नित्युदधिस्तं। "नाम्न्युत्तरपदस्य च" इति

समासगतस्योदकशब्दस्योद इत्यादेशः पयोधिं। सरन्तीः गच्छन्तीः । स्रवन्तीः नदीः। "स्रवन्ती निम्नगापगा" इत्यमरः। रुणद्धि निवारयति। रुधिर् आवरणे लोट्। इत्यवैमि जानामि निश्चिनोमि वा। इण् गतौ लट्। उत्प्रेक्षालंकारः॥ २५॥

भा० अ०—देश से निकाले हुए दुश्चरित्र नायक के पास जाती हुई कुलीन नायिका को जिस प्रकार उस की सखियाँ रोकती हैं उसी प्रकार भूमण्डल से तिरस्कृत समुद्र के पास जाती हुई नदियों को वहाँ के सब पुल रोकते हुए के ऐसे मालूम होते हैं॥ २५॥

तरंगिणीनां तरुणान्वितानामतुच्छपद्मछदलाञ्छितानि ।
पृथूनि यस्मिन्पुलिनानि रेजुः कांचीपदानीव नखाञ्चितानि ॥२६॥

तरंगिणीनामित्यादि। यस्मिन् मगधदेशे। तरुणान्वितानां तरुणा वृक्षेण जात्येकवचनं पक्षे तरुणैर्युवभिरन्वितानां युक्तानां "विटपी पादपस्तरुः। वयस्थस्तरुणो युवा" इत्युभयत्राप्यमरः। तरंगिणीनां तरंगास्सन्त्यासामिति तरंगिण्यस्तासां नदीनां। "तरंगिणी शैवलिनी" इत्यमरः। अतुच्छपद्मछदलाञ्छितानि न तुच्छा अतुच्छाः सारभूताः महांतो वा पद्मानां कमलानां छदाः दलानि "दलं पर्णं छदः पुमान्" इत्यमरः। अतुच्छाश्च ते पद्मच्छदाश्च तथोक्तास्तैः लांछितानि चिह्नितानि। पृथूनि स्थूलानि। पुलिनानि सैकतानि। "तोयोत्थितं तत्पुलिनं सैकतं सिकतामयम्" इत्यमरः। नखाञ्चितानि नखैर्नखरैरंचितान्यन्वितानि। कांचीपदानीव कांचीनां रसनानां पदानि स्थानानि तथोक्तानि जघनानीवेत्यर्थः। "कांचीस्यान्मेखलाधाम्नि गुञ्जायां नीवृदन्तरे। पदं शब्दे च वाक्यं च व्यवसायापदेशयोः॥ पादपचिह्नयोःस्थान त्राणयोरंकवस्तुनोः"। इत्युभयत्रापि विश्वः। रेजुः बभ्रुः। राजृ दीप्तौ लिट्। उत्प्रेक्षालंकारः॥ २६॥

भा० अ०—जिस मगध देश में वृक्ष-पङ्क्ति-से युक्त नदियों के, सुन्दर विकसित कमल-पत्रों से चिह्नित विस्तृत पुलिन, (जलसे निकला हुआ भूभाग) नायिका के नखक्षत जघन के समान शोभित होते हैं। २६।

तमोनिवासेषु वनेषु यस्य मरन्दसार्द्रास्तरणेर्मयूखाः ।
स्फुरन्ति शाखान्तरलब्धमार्गाः कुन्ताः प्रयुक्ता इव शोणितार्द्राः॥२७॥

तमोनिवासेष्वित्यादि। यस्य मगधदेशस्य। तमोनिवासेषु तमसां तिमिराणां निवासेषु निलयेषु। निबिडेष्वित्ययमर्थः। वनेषु उद्यानेषु। तरणेः सूर्यस्य। "द्युमणिस्तरणिर्मित्र" इत्यमरः। मरंदसार्द्राः मरंदेन पुष्परसेन सार्द्राः "मकरन्दो मरंदोऽस्य रस" इति वैजयन्ती। "आर्द्रं सार्द्रं क्लिन्नम्" इत्यमरः। शाखान्तरलब्धमार्गाः शाखानां अन्तरे मध्ये लब्धः प्राप्तो

मार्गा यैस्ते तथोक्ताः । मयूखाःकिरणाः । "मयूखस्त्विट्करज्वाला" इत्यमरः । शोणितार्द्राः शोणितेन रक्तेन आर्द्राः सार्द्राः । प्रयुक्ताः व्यापारिताः । कुन्ता इव आयुधविशेषा इव । "कुन्तः प्रासे चंडभावे क्षुद्रजन्तौ गवेधुके" इति विश्वः । स्फुरन्ति विभान्ति । स्फुर स्फुरणे लटि । उत्प्रेक्षालंकारः । रिपुषु निकुञ्जगतेषु पृष्ठलग्नैः प्रयुक्ताः कुन्ताः शोणितार्द्रा भवन्ति यथा तथा अत्रापि तमोरिपुत्वात्तरणेरितिभावः । उत्प्रेक्षा ॥ २७ ॥

भा० अ०—जिस मगध देशके निविड़ अन्धकारमय वनों में मकरन्द-विन्दु से भींगी हुई तथा पत्तों की ओट से छन २ कर आती हुई सूर्य की किरणें लक्ष्य को बेध कर आई हुई रुधिराक्त वर्छिओं सी हैं ॥ २७ ॥

अभ्रं लिहाग्राणि वनानि यस्मिन्नीयुर्ध्रुवं नाकतरुं निकर्तुम् ।
को दानवारिप्रतिपन्नवृत्तेः क्षमेत संकल्पितदानगर्वम् ॥ २८ ॥

अभ्रंलिहेत्यादि । यस्मिन् देशे । अभ्रंलिहाग्राणि अभ्रं आकाशं लेढि स्पृशतीत्यभ्रंलिहं । "वहाभ्रा‌ल्लिह" इति खच् । "खित्यनव्ययस्ये"ति मम् । अभ्रंलिहमग्रं येषां तानि तथोक्तानि । वनानि उद्यानानि । नाकतरुं नाकस्य स्वर्गस्य तरुर्वृक्षस्तं कल्पवृक्षमित्यर्थः । निकर्तुं निकरणाय निकर्तुं निराकर्तुमित्यर्थः । ध्रुवं निश्चलं । ईयुः ययुः । इण्गतौ लिट् । तथाहि-दानवारिप्रतिपन्नवृत्तेः दानस्य त्यागस्य वारि जलं दानवारि वितीर्णजलं तेन प्रतिपन्ना अंगीकृता वृत्तिर्जीवनं वर्तनं वा यस्येति स तस्य देवतरोः पक्षे दानवानामसुराणामरयो रिपवस्तैः सुरैः प्रतिपन्ना वृत्तिस्तस्याः । "प्रतिपन्नः स्वीकृतेऽधीते विज्ञातेंऽगीकृतेपि च" इति विश्वः । "वृत्तिर्वर्तनजीवन" इत्यमरः । संकल्पितदानगर्वं संकल्प्यते स्म संकल्पितो वांछितस्तस्य दानं वितरणं तस्माज्जातो गर्वस्तं । को वा लोकः । क्षमेत सहेत । क्षमुष् सहने लिङ् । न कोऽपीत्यर्थः । दानवारिप्रतिपन्नवृत्तेः संकल्पितदानस्योभयत्र साम्ये सति तद्गर्वमेकत्र कः सहेतेति भावः । अर्थान्तरन्यासः ॥ २८ ॥

भा० अ०—जहाँ गगन-चुम्बी वन कल्पवृक्ष को पददलित करते हुए के समान आकाश तक पहुँचे हुए हैं । क्योंकि कौनसा स्वाभिमानवृक्ष, दानके जलसे अपनी वृत्ति करने वाले कल्पवृक्ष के अभीष्ट वस्तुप्रदान का गर्व सह सकता है ? ॥ २८॥

पाकावनम्राः कलमा यदीयाः पादावनम्रा इव मातृभक्त्या ।
आघ्रायमाणाः स्वशिरस्सु भान्ति विकासिपद्माननया धरित्र्या ॥२९॥

पाकावनम्रा इत्यादि । मातृभक्त्या मातरि कृता भक्तिः मातृभक्तिः तया मातरि विहितानुरागेण । पादावनम्रा इव अवनमन्तीत्येवं शीलाः अवनम्राः । "नम्कम्प्यजे" त्यादिना रः ।

पादयोरवनम्रास्तथोक्ताः पादनमनशीला इव। पाकावनम्राः पाकेन परिणमनेन अवनम्राः समंतान्नमनशीलाः। यदीयाः यस्य मगधदेशस्य संबंधिनस्तथोक्ताः। कलमाः व्रीहि-विशेषाः। विकासिपद्माननया विकासतीत्येवं शीलं विकासि तच्च तत् पद्मं च तदेवाननं यस्यास्तसा तया। धरित्र्या भूदेव्या। स्वशिरस्सु स्वेषां शिरांसि मस्तकानि तेषु। आघ्रायमाणाः आघ्रायन्त इति। भान्ति राजन्ते। भा दीप्तौ लटि। पाकेन विकासिपद्मे-ष्ववनतशिरसः संत एवं भान्तीति भावः। उत्प्रेक्षालंकारः॥ २९॥

भा० अ०—पकजाने से मातृभक्ति से प्रणत के समान पैर की ओर झुके हुए धान के गुच्छे, विकसित पद्ममुखी पृथ्वी से मस्तक-द्वारा सूंघे जाते हुए सिर पर शोभ रहे हैं। २९।

विभान्ति सस्यान्तरितानि यस्मिन् हेमारविन्दानि मधूल्वणानि।
आपाययन्त्या इव शालिपुत्रानात्तानि धात्र्या करसेचनानि ॥३०॥

विभान्तीत्यादि। यस्मिन् मगधे। सस्यान्तरितानि सस्यानामन्तर्यान्तिस्म तथोक्तानि। मधूल्वणानि मधुना पुष्परसेन उल्वणानि प्रवृद्धानि तथोक्तानि। "मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रे पि" "स्पष्टं स्फुटं प्रव्यक्तमुल्वणम्" इत्यमरः। हेमारविंदानि कनककमलानि। शालिपुत्रान् शालय एव पुत्रास्तान्। आपाययन्त्या आपाययतीत्यापाययन्ती तया पानं कारयन्त्या। धात्र्या भूम्या उपमात्रा वा "धात्री स्यादुपमातापि क्षितिरप्यामलक्यपि" इत्यमरः। आत्तानि धृतानि। करसेचनानि करस्थानि सेचनानि करसेचनानि सेचनपात्राणि। "सेक-पात्रं तु सेचनम्" इत्यमरः। इव भान्ति विराजन्ते। भा दीप्तौ लटि। उत्प्रेक्षालंकारः॥ ३०॥

भा०-अ०—वहाँ धान्यरूपी पुत्रों को दूध पिलाती हुई धाई के दुग्धपात्र के समान, क्यारी के बीच २ के पुष्परस से भरे हुए कनककमल शोभते थे। ३०।

यत्रेक्षुदण्डाः कुसुमाभिरामा वितन्वते पर्वचयाचिताङ्गाः।
मनोजराजस्य जगज्जिगीषोरुच्चामरोड्डामरकुन्तलीलाम् ॥ ३१ ॥

यत्रेत्यादि। यत्र मगधविषये। कुसुमाभिरामाः कुसुमैः पुष्पैरभिरामा विराजमाना स्तथोक्ताः। पर्वचयाचितांगाः पर्वणां ग्रंथिनां चयस्समूहस्तेनाचितं निचितमंगमवयवो येषां ते तथोक्ताः। "आचितः शकटोन्मेये पलानामयुतद्वये। छन्नेपि संगृहीते स्यात्" इति विश्वः। इक्षुदंडाः रसालयष्टयः। जगज्जिगीषोः जेतुमिच्छुर्जिगीषुः "जेर्लिट् सनिति" पूर्वात्परस्य कवर्गः। जगतो जिगीषुस्तस्य। मनोजराजस्य मनसि जायत इति मनोजो

मन्मथः मनोजश्चासौ राजा च तथोक्तस्तस्य । "राजन्सखे" रित्यट्प्रत्ययः । उच्चामरो-ड्डामरकुन्तलीलां उद्गतानि चामराणि येषां ते उच्चामराः उन्मुखचामराः । "चामरं तु प्रकीर्णकम्" इत्यमरः । उड्डामरा निर्बाधास्ते च ते कुन्ताः प्रासाश्च तथोक्ताः उच्चामराश्च ते उड्डामरकुन्ताश्च तथोक्तास्तेषां लीला तां । वितन्वते विस्तारयन्ति । तनु विस्तारे लट् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ३१ ॥

भा० अ०—जहाँ गाँठ से भरी हुई देहवाले और पुष्पोंसे समलङ्कृत इक्षुदण्ड संसार को जीतने की इच्छा करने वाले कामदेव के उन्नत चामर तथा अचूक बर्छी का दृश्य दिखाते हैं । ३१ ।

भूदेवता यद्विभवं विलोक्य भूयोऽवधूतत्रिदिवं दधाति ।
निलीनभृंगस्थलपद्मदंभान्निष्पन्दताराणि विलोचनानि ॥ ३२ ॥

भूदेवतेत्यादि । भूदेवता भूरेव देवता तथोक्ता भूमिदेवता । रूपकः । अवधूत-त्रिदिवं अवधूयते स्म अवधूतोऽवधूतो निराकृतस्त्रिदिवः स्वर्गो येनासौ अवधूतत्रिदिवस्तं । यद्विभवं यस्य मगधदेशस्य विभवः ऐश्वर्यं तथोक्तस्तत् । विलोक्य वीक्ष्य । निलीनभृंगस्थलपद्मदंभात् निलीयन्ते स्म निलीना अन्तःस्थिताः निलीना भृंगाः मधुकराः यस्मिन् तत् निलीनभृंगंस्थलपद्मं स्थले भूतले जातं पद्मं तथोक्तं निलीनभृंगं च तत् स्थलपद्मश्च निलीन-भृंगस्थलपद्मं निलीनभृंगस्थलपद्ममिति दंभो व्याजस्तथोक्तस्तस्मात् । निष्पंदताराणि निष्पंदा निश्चला तारा कनीनिका येषां तानि "ऋक्षाक्षिमध्ययोस्तारा सुग्रीवगुरुयोषितोः" इतिविश्वः । विलोचनानि नयनानि । भूयः पुनः । दधाति डुधाञ् धारणे लट् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ३२ ॥

भा० अ०—स्वर्गकी सम्पत्ति को भी तिरस्कृत की हुई मगध देश की विभूति को देख कर भूदेवता मानों भ्रमरयुक्त स्थलकमल के व्याज से अपने अतृप्तनयनों से उसे निहार रहे हैं । ३२ ।

यस्योर्वरासारगुणस्य मूर्ताः पुञ्जा इवाभान्ति समन्ततोऽपि ।
तिलातसीकोद्रवमुद्गमाषगोधूमवल्लक्षवशालिशैलाः ॥ ३३ ॥

यस्येत्यादि । यस्य मगधजनपदस्य । समन्ततोऽपि समन्तात्समन्ततः परितोऽपि । तिलातसीकोद्रवमुद्गमाषगोधूमवल्लक्षवशालिशैलाः तिलश्च अतसी च उपमाषा च कोद्रवश्च मुद्गश्च माषश्च गोधूमश्च वल्लो निर्वावः गुअवृक्ष वल्लश्च क्षवो राजमाषक्षवश्च शालिश्च तिलातसीकोद्रवमुद्गमाषगोधूमवल्लक्षवशालयस्तेषां शैला राशयः राशेरौन्नत्ये शैलप्रयोगः ।

उर्वरासारगुणस्य सारःसमीचीनः सचासौ गुणश्च तथोक्तः उर्वरायाः सर्वसस्योत्पत्तिभूमेः सारगुणस्तस्य। "उर्वरा सर्वसस्याढ्या" इत्यमरः। पुञ्जाः राशयः "स्यान्निकायः पुंजराशिस्तूत्करः कूटमस्त्रियाम्" इत्यमरः। मूर्ता इव मूर्तिभूता इव। आभान्ति विराजन्ते। उत्प्रेक्षालंकारः॥ ३३॥

भा० अ०—जहाँ चारो ओर तिल, तीसी, कोदो, मूंग, उड़द, गेहूं तथा धान आदि की ढेर मूर्तिमान् उर्वरत्वगुण के समान दीख पड़ते हैं। ३३।

यत्रार्तवत्त्वं फलिताटवीषु पलाशिताद्रौ कुसुमे परागः।
निमित्तमात्रे पिशुनत्वमासीत् निरोष्ठ्यकाव्येष्वपवादिता च ॥३४॥

यत्रेत्यादि। यत्र मगधदेशे। आर्तवत्त्वं आर्तो मनोदुःखं तदस्यास्तीत्यार्तवान् तस्य भावः आर्तवत्त्वं दुःखवत्त्वम् नास्ति तच्छब्दप्रवृत्तिरपि नास्ति किमिति चेत् ऋतवः प्राप्ता आसामित्यार्तवत्यस्तासां भावः आर्तवत्त्वं षट्कालनियमवत्त्वं "ज्योत्स्नादिभ्योऽण्" "ऋतुः स्त्री कुसुमे मासि वसंतादिषु धारयोः" इतिविश्वः। फलिताटवीषु फलानि संजातान्यासामिति फलिताः "संजातं तारकादिभ्य" इति इतप्रत्ययः ताश्च ता अटव्यश्च तासु। आसीत् अभूत्। अस् भुवि लुङ्। पलाशिता पलं मांसं "पलमुन्मानमांसयोः" इति विश्वः। तदश्नातीत्येवंशीलः पलाशी तस्य भावः पलाशिता मांसभक्षित्वं पक्षे पलाशः किंशुकः "पलाशः किंशुके पर्णे वातपोत" इत्यमरः। सोऽस्यास्तीति पलाशी तस्य भावः पलाशिता अद्रौ पर्वते यद्वा पलाशं पत्रं तदस्यास्तीति पलाशी तस्य भावः पर्णवत्ता "पत्रंपलाशम्" इत्यमरः। अद्रौ तरौ "अद्रयो द्रुमशैलार्काः" इत्यमरः। अथवाद्रौ वृक्षे "द्रुद्रुमागमः" इत्यमरः। आसीत् अभवत्। परागः परं च तत् आगश्च तथोक्तः उत्कृष्टापराधः पक्षे परागः पुष्परेणुः "आगोपराधो मन्तुश्च" "परागः कुसुमे रेणौ" इत्युभयत्राप्यमरः। कुसुमे पुष्पे। आसीत् अभवत्। पिशुनत्वं कर्णेजपत्वं पक्षे सूचकत्वं "पिशुनौ खलसूचकौ" इत्यमरः। निमित्तमात्रे निमित्तमेव निमित्तमात्रं तस्मिन् शकुनमात्रे। आसीत् अभवत्। अपवादिता च अपवादोऽस्यास्तीत्यपवादी तस्य भावः अपवादितापि निन्दावत्वञ्च "अपवादस्तु निन्दायामाज्ञाविस्रंभयोरपि" इतिविश्वः। पक्षे पश्च वश्च पवौ तावादिर्यस्य सः पवादिः न विद्यते पवादिर्यस्य सतथोक्तस्तस्य भावः अपवादिता पकार-वकारादिरहितत्वम् अथवा पं वदतीत्येवं शीलं पवादी न पवादी अपवादी तस्य भावस्तथोक्तः पवर्गोक्तिरहितत्वं। निरोष्ठ्यकाव्येषु ओष्ठान्निर्गतो निरोष्ठः निरोष्ठे भवानि निरोष्ठ्यानि "दिगाद्यंगांशाद्य" इति भवार्थे यप्रत्ययः। निरोष्ठ्यानि च तानि काव्यानि च तेषु ओष्ठ्याक्षररहितप्रबन्धेषु। आसीत् अभवत्। परिसंख्यालंकारः॥३४॥

भा० अ०—वहाँ आर्त्ववत्त्व (ऋतुओं का भाव वा मानसिक व्यथा) फले हुए वनों में था न कि मगधवासियों में, पलाशिता (पत्तों का लगना वा मांस-भक्षण) पेड़ों में थी न कि मगधवासियों में, पराग (पुष्पधूलि वा बड़ा अपराध) फूलों में था न कि जनता में, पिशुनत्व (शकुन वा चुगलखोरी) शास्त्रों में था न कि वहाँ के लोगों में और अपवादिता (पकार तथा बकार का अभाव वा निन्दा) निरोष्ठ्य काव्य में थी नकि मगधवासी मनुष्यों में । ३४ ।

स्त्रीणां कचे माल्यमुरोजभारे श्यामाननत्वं जघने जडत्वम् ।
अपाङ्गता केवलमक्षिसीम्नोर्मध्यप्रदेशेषु च नास्तिवादः ॥ ३५ ॥

स्त्रीणामित्यादि। माल्यं मलस्य भावः माल्यं "वर्णदृढादिभ्य" इतिष्यण अथवा मलमेव माल्यं "भेषजादि" इतिस्यण् मलभावः पक्षे माल्यंपुष्पमाला "माल्यं मालास्रजौ" इत्यमरः। स्त्रीणां नारीणाम्। कचे शिरोरुहे। आसीदित्यत्राप्यन्वीयते। श्याममाननत्वं श्याममाननं यस्य स श्याममाननस्तस्य भावस्तत्त्वं निष्प्रभमुखत्वं पक्षे कृष्णमुखत्वं । उरोजभारे उरसि जायेते इति उरोजे तयोर्भावस्तथोक्तस्तस्मिन् पयोधरमण्डले। आसीत्। जडत्वं पक्षे भारवत्त्वं। "जडो जाल्मश्च निर्बुद्धौ शब्देनालोच्यकारिणि" इति वैजयन्ती। जघने नितम्बे। आसीत्। अपांगता अपगतमंगं यस्य तस्य भावस्तथोक्ता हीनांगत्वं पक्षे कटाक्षेक्षणं "अपांगमंगहीने स्यान्नेत्रान्ते तिलकेऽपि च" इति विश्वः। केवलं परं "केवलो ज्ञानभेदे स्यात्केवलश्चैककृत्स्नयोः। निर्णीते केवलं चोक्तं केवलः कुहने क्वचित्" इति विश्वः। अक्षिसीम्नोः अक्ष्णोःस्सीमानौ मर्यादे तयोः "सीमसीमे स्त्रियामुभे" इत्यमरः। नेत्रावसानयोः। आसीत्। नास्तिवादः नास्तीतिवचनं नास्तिवादः परलोकाद्यपह्नवः पक्षे नास्तिवादः अति-कृशत्वादुपचारेण नास्तीतिवचनं यद्वा नास्तिवादः ईषदस्तिवादः "नञभावे निषेधे च स्वरूपार्थे व्यतिक्रमे। ईषदर्थे च" इति विश्वः। मध्यप्रदेशे मध्यस्य प्रदेशस्तस्मिन् अवलग्नप्रदेशे। आसीत्। स्त्रीणामिति सर्वात्राप्यन्वयः। इयमपि परिसंख्या ॥ ३५ ॥

भा० अ०—माल्य [मालायें वा मलिनता] वहाँ की स्त्रियों के केशगुच्छ में था न कि वहाँ के लोगों में, श्याममाननत्व [काला मुख वा हृदय का कालापन] मगधवासिनी स्त्रियों के स्तनों में था न कि लोगों में, जड़ता (गठीलापन वा बुद्धि की मन्दता) स्त्रियों की जाँघ में थी न कि पुरुषों में, अपाङ्गता [कटाक्ष वा अङ्ग की विकलता] स्त्रियों की आँखों में थी न कि मनुष्यों में और नास्तिवाद (कृशत्व वा नास्तिकता) वहाँ की स्त्रियों की कटी में था न कि मगधवासी जीवों में । ३५ ।

भुजंगमेष्वागमवक्रभावो भुजंगहारेऽप्यजिनानुरागः ।
ध्रुवं प्रदोषानुगमो रजन्यां दिनक्षयस्सोऽपि दिवावसाने ॥ ३६ ॥

भुजंगमेष्वित्यादि । आगमवक्रभावः वक्रस्य भावो वक्रभावः आगमस्य आप्तप्रणीतस्य परमागमस्य वक्रभावस्तथोक्तः प्रवचनकुटिलत्त्वम् पक्षे आगमस्य वक्रभावः "आगमः शास्त्र-आयाते" इति विश्वः । ध्रुवं निश्चयेन । भुजंगमेषु भुजेन गच्छन्तीति भुजंगमास्तेषु । "गमः ख खड्डा" इति ख प्रत्ययः "खित्यरुः" इत्यादिना मम् । आसीदित्यत्राप्यनुवध्यः । अजि-नानुरागः न जिनः अजिनः हरिहरादिस्तस्मिन् अनुरागो भक्तिः पक्षे अजिने चर्मणि अनुरागः प्रीतिः "अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री" इत्यमरः । भुजंगहारे भुजंग एव हारो यस्य तस्मिन् रुद्रे । असीत् । प्रदोषानुगमः प्रकृष्टो दोषः प्रदोषः दुष्कर्म तस्य अनुगमः आस्रवः पक्षे प्रदोषस्य रजनीमुखस्य अनुगमः अनुगमनं "प्रदोषः कालभेदे स्यात् प्रदोषो दोष इष्यते" इति विश्वः । रजन्यां रात्रौ । आसीत् । सोऽपि । दिनक्षयः दिनस्य पुण्यस्य क्षयो नाशः पक्षे दिनस्य दिवसस्य क्षयो नाशः । दिवावसाने दिवसान्ते । "दिवाह्नीत्यथ दोषा च नक्तं च रजनाविति" अभिधानादव्ययम् । आसीत् । इयमपि परिसंख्या ॥ ३६ ॥

भा० अ०—जहाँ आगमवक्रभाव (टेढ़ी चाल वा शास्त्रका नियमोल्लङ्घन) केवल साँपों में था न कि लोगों में, अजिनानुराग (मृगचर्म से प्रीति वा अजैन देवों में भक्ति) शिवजी में था न कि जनता में, प्रदोषानुगम (सन्ध्या का आगमन वा दुष्कर्मों का आस्रव) रात में हो-ताथा न कि मगधवासी जीवों में और दिनक्षय (दिनका अवसान वा दिन का व्यर्थ यापन) सायङ्काल में होता था नकि वहाँ के लोगों में । ३६ ।

तत्रास्ति सा राजगृहाभिधाना पुरी वनैः पृष्ठगतैरुदग्रैः ॥
पुरारिवैरप्रतिकारहेतोर्य्यामुक्तकेशव्रतमादितेव ॥ ३७ ॥

तत्रेत्यादि । तत्र मगधदेशे । या पुरारिवैरप्रतिकारहेतोः पुराणां त्रिपुराणाम् अरिः रिपुः रुद्रस्तस्य वैरं विरोधस्तस्य प्रतिकारहेतुस्तस्मात् त्रिपुरसंहारिणः प्रतिकार-विधानायेत्यर्थः । पृष्ठगतैः पृष्ठमपरभागं गच्छन्तिस्म तथोक्तानि तैरित्यर्थः । उदग्रः उन्नतैः । वनै उद्यानैः । मुक्तकेशव्रतम् मुक्ताः शिथिलिताः केशाः शिरोरुहा यस्मिंस्तत् मुक्त केशं तच्च तद्व्रतञ्च तथोक्तं मुक्तकेशाख्यव्रतं नियमम् । आदितेव आदत्तेव । डुदाञ् दाने लुङ् । वनव्याजेन तद्व्रतमगृह्णादिव भातीत्यर्थः । सा राजगृहाभिधाना राज्ञां गृहं राजगृहं तदि-त्यभिधानं यस्यास्सा तथोक्ता । पुरी राजधानी । अस्ति वर्त्तते । उत्प्रेक्षालंकारः ॥३७॥

भा० अ०—उस मगधदेश में पीछे की ओर लगे हुए विशाल उद्यानों से त्रिपुरारि

(शंकर जी) ने जो तीनों पुरों को नष्ट कर डाला है मानों उसी अपकार का बदला लेने के लिये मुक्तकेश-व्रत किये हुई कीसी राजगृह नाम की पुरी थी ॥ ३७ ॥

बहिर्वणे यत्र विधाय वृक्षारोहं परिष्वज्य समर्पितास्याः ॥
कृताधिकारा इव कामतंत्रे कुर्वन्ति संगं विटपैर्व्रतत्यः ॥३८॥

बहिर्वण इत्यादि । यत्र पुर्य्यां । बहिर्वणे वहिरुद्याने वनाद् बहिर्वहिर्वणन्तस्मिन् । "प्रागन्त" रित्यादिना वनशब्दे नकारस्य णत्वम् । व्रतत्यः लताः । "व्रतती वल्लरी लतेति" धनञ्जयः । कामिन्य इति ध्वनिः । वृक्षारोहम् वृक्षाणामारोहस्तथोक्तस्तम् वृक्षावलम्बनमित्यर्थः वृक्षारोह इति दम्पतीवन्धविशेषः—अस्ति हि लतावेष्टनन्नामालिङ्गनम् । विधाय कृत्वा । परिष्वज्य आलिङ्ग्य । समर्पितास्याः समर्पितमास्यं याभिस्ताः समर्पितास्याः समर्पितमुखा वा सत्यः । कामतंत्रे कामस्य तन्त्रं कामतन्त्रं रहस्यं तस्मिन् कामशास्त्रे । "तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते सूत्रवाये परिच्छदे" "इत्यमरः । कृताधिकारा इव कृतो विहितोऽधिकारो याभिस्ता इव । विटपैः शाखाभिः विटपुरुषैस्सह । "विटपः पल्लवे शृंगे विस्तारे स्तम्बशाखयोः" इति विश्वः । संगम् सम्बन्धम् । कुर्वन्ति विदधति । श्लेषोपमालंकारः ॥ ३८ ॥

भा० अ०—वहाँ बाहरी उपवनो में वृक्षों पर चढ़ी हुई लताएं कामशास्त्र में प्रवीण उपपतियों को आलिङ्गन तथा चुम्बन करती हुई कामिनियों के समान जान पड़ती हैं ॥ ३८ ॥

आरामरामाशिरसीव केलिशैले लताकुन्तलभासि यत्र ॥
सकुङ्कुमा निर्झरवारिधारा सीमन्तसिन्दूरनिभा विभाति ॥३९॥

आरामेत्यादि । यत्र पुर्य्यां । लताकुन्तलभासि लता एव कुन्तला अलकास्तैर्भासत इति लताकुन्तलभास्तस्मिन् । सान्तः शब्दः । आरामरामाशिरसीव आरामः उपवनं तदेव रामा स्त्री तस्याः शिरस्तथोक्तं तस्मिन्निव तद्वद्भासमान इत्यर्थः । केलिशैले केलेः शैलः केलिशैलस्तस्मिन् अथवा केलिश्चासौ शैलश्चेतिकेलिशैलस्तस्मिन् क्रीडाद्राविद्यर्थः । सकुङ्कुमा कुङ्कुमेन सह वर्तत इति सकुङ्कुमा निमज्जद्वनितागलितेन कुङ्कुमेन युक्ता । वान्यार्थ इति बहुव्रीहौ सहस्य सभावः । निर्झरवारिधारा निर्झरस्य प्रवाहस्य वारि तस्य धारा तथोक्ता । सीमन्तसिन्दूरनिभा सीमन्तस्य सिन्दूरस्तथोक्तं तस्य निभेव निभा समा इत्यर्थः । "स्त्रीणां पुंसि च सीमन्त" इत्यमरः । "सिन्दूरस्तरुभेदे स्यात्सीन्दूरं रक्तचूर्णके" इति विश्वः । विभाति राजते शोभत इत्यर्थः । भा दीप्तौ लट् उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ३९ ॥

भा० अ०—जिस राजगृहपुरी में स्त्रीरूपिणी वाटिकाओं में उनके मस्तक के समान वेणीरूपणी लताओं से मण्डित क्रीड़ा-पर्वतों पर स्त्रियों के स्नान करने से कुंकुम-मिश्रित जलधारा—झरने से गिरती हुई सीमन्त (माँग) के सिन्दूर के समान शोभती थी । ३६ ।

कण्डूतिशान्त्यै निजकर्णमूलं संघर्षयन्तः सरसीषु मीनाः ॥
अम्भोजदण्डेषु विभान्ति यस्यामालानबन्धेष्विव हस्तिपोताः ॥४०॥

कण्डूतीत्यादि । यस्यां पुर्य्याम् । सरसीषु सरोवरेषु । कण्डूतिशान्त्यै कण्डूयनं कण्डूतिस्तस्याश्शान्तिस्तथोक्ता तस्यै । निजकर्णमूलम् निजानां स्वेषां कर्णास्तथोक्ताः यद्वा निजाश्च ते कर्णाश्च निजकर्णास्तेषां मूलं मूलप्रदेशम् । अम्भोजदण्डेषु अम्भसि जायन्त इत्यम्भोजानि तेषां दण्डा यष्टयस्तेषु । संघर्षयन्तः संघर्षयन्तीति तथोक्ताः । मीनाः मत्स्याः । आलानबन्धेषु आलान नामालानान्येव वा बन्धास्तेषु बन्धस्तम्भेषु । "आलानं बन्धः स्तम्भः" इत्यमरः । हस्तिपोताः हस्तिनां करिणां पोताः शावा इव । विभान्ति विराजन्ते ॥ उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ४० ॥

भा० अ०—जिस राजगृह के तालावों में कमल की डंटियों से खजुलाहट मिटाने के लिये कर्णमूल घिसती हुई मछलियाँ खंभों से कनपट्टी रगड़ते हुए हाथी के बच्चों के समान शोभती थीं ॥ ४० ॥

वीथ्या हयानां दशया गजानां श्रमैर्भटानां करणैर्नटानाम् ॥
भुजाहतैर्म्मल्लगणस्य यस्या जयन्ति बाह्यालिभुवो विशालाः ॥४१॥

वीथ्येत्यादि । यस्याः पुर्य्याः । विशालाः विस्तृताः । बाह्यालिभुवः बाह्यालीनाम्भुवो भूमयो बहिःप्रदेशाः । हयानाम् अश्वानाम् । वीथ्या शिक्षागमनेन श्रेण्यागमनेनेत्यर्थः । गजानाम् करिणाम् । दशया मदावस्थया । "दशावर्त्तावस्थायां वस्त्रांशे स्युर्दशा अपीति" विश्वः । भटानाम् योद्धृणाम् । श्रमैः शस्त्राभ्यासैः । नटानाम् नर्त्तकानाम् । करणैः नर्त्तनैः । "करणं साधनक्षेत्रकाचकायस्थकर्म्मसु गीताङ्गहार सम्वेशक्रियाभेदेन्द्रियेषु च बालवादौ च करणः स्मृतः" इति विश्वः । मल्लगणस्य मल्लानां गणस्तस्य । भुजाहतैः भुजानामाहतानि तैर्भुजाघातैरित्यर्थः । जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते । अतिशयालंकारः ॥ ४१ ॥

भा० अ०—उस पुरी के बाहर का विस्तृत मैदान घोड़ों के कतारों के चलने से, हाथियों

के मद्स्राव से, योद्धाओं की शस्त्र-शिक्षा से, नटों के नृत्य से तथा सुभटों के मल्लयुद्ध से अत्यन्त शोभायमान दीख पड़ता था ॥४१॥

अहो नु तीरद्रुमराजिराजद्विचित्रपुष्पोद्गमबिम्बितानि ॥
उतोल्लसत्पन्नगभोगरत्नद्युतीनि यस्याः परिखाजलानि ॥४२॥

अहोन्वित्यादि। यस्याः पुर्य्याः। परिखाजलानि परिखायाः खातिकायाः जलानि तथोक्तानि। तीरद्रुमराजिराजद्विचित्रपुष्पोद्गमबिम्बितानि तीरेषु विद्यमाना द्रुमा वृक्षास्तीरद्रुमास्तेषां राजिः पङ्क्तिस्तया राजन्ति इति राजन्ति विचित्राणि नानाविधानि विचित्राणि च तानि पुष्पाणि च विचित्रपुष्पाणि तीरद्रुमराजिराजन्ति च तानि विचित्रपुष्पाणि च तथोक्तानि तेषामुद्गमाः पक्वमुकुलानि तैर्बिम्बितानि बिम्बासंजातान्येषामिति तथोक्तानि संजातप्रतिबिम्बानि। "संजातं तारकादिभ्य" इति इतप्रत्ययः। अहोनु। भवन्ति। उत अथवा। उल्लसत्पन्नगभोगरत्नद्युतीनि पन्नागाः सर्पास्तेषां भोगाः फणाः "भोगः सुखेस्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः" इत्यमरः। तेषां रत्नानि मणयस्तेषां द्युतयः कान्तयः उल्लसन्तीत्युल्लसन्त्यः स्फुरन्त्यः पन्नगभोगरत्नद्युतयो येषान्तानि तथोक्तानि। अहोनु भवन्ति। किमिति विकल्पप्रश्नः। "अहो उताहो सन्देह" इति हलायुधः। "अहो उताहो किमुत विकल्पे किमुच्यते नु पृच्छायां वितर्के चे"त्युभयत्राप्यमरः॥ संशयालंकारः॥ ४२॥

भा० अ०—जिस राजधानी की खाई का जल तीर की वृक्ष-पंक्ति के विविध पुष्पों से अथवा सर्प के फण की मणियों से प्रतिबिम्बित था ॥४२॥

माणिक्यकुम्भोज्ज्वलगोपुराणां रूपेण याम्मूर्त्तिचतुष्टयाप्तः ॥
आप्तस्समालक्ष्यविलक्षमास्ते पूर्वाचलः कूटविभासिभास्वान् ॥४३॥

माणिक्येत्यादि। कूटविभासिभास्वान् कूटे शिखरे भासत इत्येवं शीलः कूटभासी भा अस्यास्तीति भास्वान् सूर्य्यः कूटभासी भास्वान् यस्यासौ तथोक्त उदयार्क इत्यर्थः। पूर्वाचलः पूर्वदिशि स्थितोऽचलस्तथोक्तः उदयाद्रिरित्यर्थः। याम् राजगृहपुरीम्। समालक्ष्य सम्यगालोक्य। माणिक्यकुम्भोज्ज्वलगोपुराणाम् माणिक्यरत्नेन कृताः कुम्भाः कलशास्तैरुज्ज्वलानि दीप्तानि माणिक्यकुम्भोज्ज्वलानि च तानि गोपुराणि च तथोक्तानि तेषां। रूपेण स्वरूपेण। मूर्त्तिचतुष्टयाप्तः चत्वारोऽवयवा अस्य चतुष्टयम् अवयवात्त यडिति प्रत्ययः मूर्त्तिनामाकाराणाञ्चतुष्टयन्तदाप्नोतिस्मेति मूर्त्तिचतुष्टयाप्त आप्नोति स्मेत्याप्त आयात इत्यर्थः। "आप्तः सभ्ये च लब्धे चे" ति विश्वः। विलक्षम् विस्मयेन

युक्तं यथातथा "विलक्षो विस्मयान्वित" इत्यमरः । अस्ति तिष्ठति । आस्उपवेशने लट् अर्कबिम्बयुतः पूर्वाद्रिरेव रत्नमयकलशोज्वलगोपुराणां चतुर्णामाकारेण तिष्ठतीति भावः । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ४३ ॥

भा० अ०—उदयाचलपर्वत पर चमकता हुआ सूर्य मानों राजगृह नगरी को देखकर मणिमय कलशों से प्रदीप्त चारों गोपुरों को उदयाचलसहित स्वयं अपनी चार मूर्तियों के होने का सन्देह करता हुआ खड़ा था ॥४३॥

सुरापगापूरकृतान्तराणि शृङ्गाणि शालाग्रगतानि यस्याः ॥
हैमानि हेमाम्बुरुहाणि बुद्ध्वा मुग्धा जिहीर्षन्ति सुरर्षिकान्ताः ॥४४॥

सुरापगेत्यादि । यस्याः पुर्याः । सुरापगापूरकृतान्तराणि सुराणामापगा सरसीः तस्याः पूरः प्रवाहस्तस्मिन् पूरे कृतमन्तरमवकाशो येषान्तानि तथोक्तानि । हैमानि हेम्नो विकाराणि हैमानि । "हेमादिभ्य" इत्यञ् । शालाग्रगतानि शालस्य प्राकारस्याग्रं शालाग्रन्तद्गच्छन्तिस्म शालाग्रगतानि । शृङ्गाणि शिखराणि । मुग्धाः मूढाः । सुरर्षिकान्ताः सुराणामृषयः पूज्याः सुरर्षयः सुराश्चते ऋषयश्चेति वा कर्म्मधारयस्तेषां कान्ता ललनास्तथोक्ताः । हेमाम्बुरुहाणि अम्बुनि रोहन्ति जायन्त इत्यम्बुरुहाणि हेमरूपाणि अम्बुरुहाणि तथोक्तानि । बुद्ध्वा मत्वा । जिहीर्षन्ति ग्रहीतुं स्वीकर्तुमिच्छन्ति । ग्रहेस्सन्नन्ताल्लट् "वशिग्र्यधिव्यची" त्यादिना यण इक् । भ्रान्तिमानलंकारः ॥ ४४ ॥

भा० अ०—जिस राजधानी की चहारदीवारी के देवगंगा तक पहुंचे हुए सुवर्ण शिखरों को भोली भाली देवाङ्गनायें सुवर्णकमल समझकर लेना चाहती थीं । ४४ ।

प्रतप्तचामीकरवैकृतानि प्राकारशीर्षाणि पुनर्न यस्याः ॥
पत्या दिशां भित्तिषु लिप्तशेषाः प्रतापपिण्डा वियदङ्गणे ते ॥४५॥

प्रतप्तेत्यादि । यस्याः पुर्याः । प्रतप्तचामीकरवैकृतानि प्रतप्तञ्च तच्चामीकरञ्चेति प्रतप्तचामीकरं विकृतान्येव वैकृतानि स्वार्थिकोऽण्प्रत्ययः प्रतप्तचामीकरेण वैकृतानि निर्म्मितानि प्रतप्तचामीकरवैकृतानि विकाराणि वा तथोक्तानि । प्राकारशीर्षाणि प्राकारस्य प्रासादस्य शीर्षाणि शृंगाणि तथोक्तानि । न न भवन्ति । पुनः पुनः कानीत्यर्थः । पत्या पुरीप्रभुणा यस्याः पत्येतिचान्वयः । वियदङ्गणे वियत् आकाशस्याङ्गणेऽजिरे । दिशाम् ककुभाम् । भित्तिषु कुड्डेषु । लिप्तशेषाः लिप्यतेस्म लिप्तः लिप्ताच्छेषास्तथोक्ता

लेपनावशिष्टा इत्यर्थः। ते प्रसिद्धाः। प्रतापपिण्डाः प्रतापस्य पराक्रमस्य पिण्डास्तथोक्ताः। भवन्तीत्यध्याहारः ॥ ४५ ॥ अपह्नवालंकारः ॥

भा० अ०—जिस राजगृह नगरीके प्राकार के प्रतप्त सुवर्णमय शिखर आकाश-प्राङ्गण की दिग्भित्तियों में लेप करने से बचे हुए नगराधिपति के प्रतापपिण्ड के समान दीख पड़ते थे ॥ ४५ ॥

उत्तोरणानां किल मन्दिराणामुद्यद्ध्वजानामसमेषु यस्याः ॥
धनुष्मतो वारिभृतस्सशम्पान्निर्म्माय निर्म्माय नभः प्रमार्ष्टि ॥४६॥

उत्तोरणानामित्यादि। नभः आकाशम्। धनुष्मतः धनुरस्त्येषामिति धनुष्मन्तस्तान्, इन्द्रधनुस्सहितानित्यर्थः। सशम्पान् शम्पया विद्युता सह वर्त्तन्त इति सशम्पास्तान्। "शम्पाशतह्रदा ह्रादीनो" त्यमरः। वारिभृतः वारि जलं बिभृतीति-वारिभृतस्तान् मेघानित्यर्थः। निर्माय निर्म्माय निर्म्माणं पूर्वं पश्चात्किञ्चिदिति निर्म्माय "प्राक्काल"इत्यनेन क्त्वा प्रत्ययः "क्तोऽनञः ल्यप्" इति ल्यादेशः। वीप्सायां द्विः। यस्याः पुर्य्याः। उत्तोरणानाम् उद्गतानि तोरणानि येषान्तानि तेषाम्। उद्यद्ध्वजानाम् उद्यन्ति उद्गच्छन्ति ध्वजानि येषान्तानि तेषाम्। मन्दिराणाम् गृहाणाम्। असमेषु न समा असमास्तेषु सत्सु। वारिभृद्विशेषणम्। प्रमार्ष्टि परिहरतीत्यर्थः मृजू शुद्धौ लट् किल उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ४६ ॥

भा० अ०—राजगृह नगरी की अट्टालिकाओं की ऊंची नीची ध्वजाओं तथा तोरणों को देख कर मानों आकाश इन्द्रधनुष तथा विद्युत्सहित वार २ मेघों की रचना करता हुआ उनकी समानता करने की चेष्टा करता है। ४६।

यच्चन्द्रकान्तोपलमन्दिराणां ज्योत्स्नाप्रवाहैः परिवाहिता द्यौः ॥
क्रीडाधियामप्सरसाम्विधत्ते दिवा दिवा दिव्यसरः प्रमोषम् ॥४७॥

यदित्यादि। यच्चन्द्रकान्तोपलमन्दिराणाम् चन्द्रकान्तश्चासावुपलश्च तथोक्तस्तेन निर्म्मितानि मन्दिराणि यस्याः पुर्य्यास्तानि यच्चन्द्रकान्तोपलमन्दिराणि तेषाम्। ज्योत्स्नाप्रवाहैः ज्योत्स्नायाश्चन्द्रिकायाः प्रवाहास्तैः। परिवाहिता परिवाहेति रिक्तस्य वमनं सोऽस्यसंजातेति तथोक्ता। द्यौः आकशम्। "द्यौदिवौद्वे स्त्रियामि"त्यमरः। क्रीडाधियाम् क्रीड़ायां धीर्बुद्धिर्यासान्तास्तासाम्। अप्सरसाम् देवगणिकानाम्। दिव्यसरःप्रमोषम् दिवि भवं दिव्यं दिव्यञ्च तत्सरश्च दिव्यसरस्तदिति प्रमोषो भ्रान्तिस्तम्।

दिवा दिवा दिने दिने। वीप्सायामितिद्विः। विधत्ते करोति। डुधाञ् धारण-पोषणयोर्लट् तङ्। भ्रा० लं० ॥ ४७ ॥

भा० अ०—जहाँ चन्द्रकान्त मणि से बने हुए भवनों के ज्योत्स्ना-प्रकाश से परिप्लावित आकाश सदा क्रीड़ासक्त अप्सराओं के दिव्य क्रीड़ासरों की भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं। ४७।

ताराफलायाम्वियदामलक्यां क्षेप्तुं व्रजन्तन्नतदारुबुद्ध्या ॥
यच्चन्द्रशालागतबालचन्द्रम्बालं हसन्ति स्फुटमीशदाराः ॥ ४८ ॥

तारेत्यादि। वियदामलक्याम् वियदेवाकाशमेवामलकी तस्याम्। ताराफलायाम् तारा एव फलानि यस्यां तस्याम् नक्षत्रफलायां सत्याम्। यच्चन्द्रशालागतबालचन्द्रम् चन्द्रशालां सौधशिरोगृहम् गच्छतिस्म चन्द्रशालागतः "चन्द्रशालाशिरोगृहमिति" विदग्धचूडा-मणौ। बालश्चासौ चन्द्रश्च तथोक्तश्चन्द्रशालागतश्चासौ बालचन्द्रश्च चन्द्रशालगतबालचन्द्रो यस्याः पुर्याः चन्द्रशालागतबालचन्द्रो यच्चन्द्रशालागतबालचन्द्रस्तम्। नतदारुबुद्ध्या नतश्च तद्दारु च नतदारु वक्रयष्टिः नतदारु इति बुद्धिस्तया। क्षेप्तुम् क्षेपणाय क्षेप्तुम्। क्षेपो विलम्बे निद्रायां हेलापे रणलंघने गर्वेऽपि" इति विश्वः। व्रजन्तम् व्रजतीति व्रजन् तं गच्छ-न्तमित्यर्थः। बालं माणवकम्। ईशदारा ईशस्य राज्ञो दारा रमण्यः। "दाराः पुंभूम्नि चाक्षता" इत्यमरः। स्फुटम् व्यक्तम्। हसन्ति हास्यं कुर्वन्ति। हस हसने लट्। भ्रान्ति-मानलंकारः। अनेन सौधानामौन्नत्यं कीर्त्त्यते ॥ ४८ ॥

भा० अ०—जहां आँवले के वृक्षरूपी आकाशमें फलरूपी ताराओं के उगने पर उसे तोड़ने केलिये राजप्रासाद के शिखर पर उदित हुए बालचन्द्र को टेढ़ी छड़ी जानकर लेने को दौड़ते हुए बच्चों को देख कर राजमहिलायें हँसा करती थीं। ४८।

नैतानि ताराणि नभस्सरस्याः सूनानि तान्यादधते सुकेश्यः ॥
यदुच्चसौधाग्रजुषो मृषा चेत्प्रगे प्रगे कुत्र निलीनमेभिः ॥ ४९ ॥

नेत्यादि। एतानि इमानि। ताराणि नक्षत्राणि। "भं नक्षत्रं तारं तारके" इत्यादि हलायुधः। न न भवन्ति। किन्तु नभस्सरस्याः नभ एव व्योमैव सरसी कासारस्त-स्याः "कासारः सरसी सरः" इत्यमरः। सूनानि कुसुमानि। "सूनं प्रसवपुष्पयो"रितिविश्वः। भवन्तीति शेषः। यदुच्चसौधाग्रजुषः उच्चाश्च ते सौधाश्चोच्चसौधास्तेषामग्रन्तज्जुषन्ति गच्छन्ति इति उच्चसौधाग्रजुषो यस्याः पुर्या यदुच्चसौधाग्रजुषस्तथोक्ताः। सुकेश्यः सु शोभनाः केशा यासान्ताः सुकेश्यः स्त्रियः। तानि पुष्पाणि। आदधते स्वीकुर्वन्ति। डुधाञ् धारणपोषणयोर्लट् तङ्। मृषा चेत् अनृतञ्चेत् नक्षत्राण्येवेतिचेदित्यर्थः।

"मृषा मिथ्या च वितथे पक्षान्तरे चेद्यदि च" त्युभयत्रापि अमरः । एभिः नक्षत्रैः । प्रगे प्रगे प्रातः प्रातः । वीप्सायामिति द्विः । "प्रगे प्रातःप्रभाते" इत्यमरः । कुत्र कस्मिन्निति कुत्र प्रदेशे । निलीनम् तिरोभूतमितिप्रश्नः । अपह्नवालंकारः ॥ ४६ ॥

भा० अ०—ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि, ये तारायें नहीं हैं बल्कि आकाशरूपी सरोवर के पुष्प हैं । जिन्हें राजगृह की अट्टालिकाओं पर चढ़ी हुई युवतियाँ चुन लेती थीं । नहीं तो प्रतिदिन प्रातःकाल वे कहाँ विलीन हो जाते थे ? । ४६ ।

विकासिनेत्रांशुभिरङ्गनानां विषक्तगात्रैरवसक्तगात्राः ॥
विलासिनां सूचिगृहान्धकारा वितन्वते यत्र सदा नियुद्धम् ॥५०॥

विकासीत्यादि । यत्र पुर्य्याम् । अवसक्तगात्राः अवसक्तं सम्बद्धं गात्रं शरीरं येषान्ते तथोक्ताः । सूचिगृहान्धकाराः सूच्यते रहोऽस्मिन्निति सूचिः संकेतः सूचयतेरौणादिकः प्रत्ययः सूचिगृहाणां संकेतगृहाणामन्धकारा ध्वान्तानि । विषक्तगात्रैः विषक्तं प्रवेणितं गात्रं विग्रहो येषान्ते तैः । अङ्गनानाम् नारीणाम् । विकासिनेत्रांशुभिः विकसन्त्येवंशीलानि विकासीनि तानि च तानि नेत्राणि च विकासिनेत्राणि तेषामंशवः किरणास्तैः । विलासिनाम् विलासोस्त्येषामिति विलासिनस्तेषाम्विटानाम् । नियुद्धम् बाहुयुद्धम् । "नियुद्धम्बाहुयुद्धं स्यात्" इत्यमरः । सदा अनवरतम् । वितन्वते विस्तारयन्ति तनुविस्तारे लट् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ५० ॥

भा० अ०—जिस पुरी में विलासी (लम्पटकामी) पुरुषों के सांकेतिक गृह की गाढ़ी अँधियारी वहाँ की विलासिनी नायिकाओं की प्रफुल्ल आँखों की चमक से बराबर बाहुयुद्ध किया करती थी । अर्थात् कामियों के संकेतगृह के अभीष्ट गाढ़ान्धकार को अंगनाओं की आँखों की चमक सदा दूर भगाने की चेष्टा किया करती थी । ५० ।

सदा पठत्कोकिलनन्दनाढ्याः समुल्लसत्पाण्डुकभद्रशालाः ॥
जिनालयाः सौमनसालयास्ते जयन्ति मेरूनपि यत्र चित्रम् ।५१।

सदेत्यादि । यत्र पुर्य्याम् । पठत्कोकिलनन्दनाढ्याः पठन्तीति पठन्तः कोकिला इव कोकिलाः कोकिलाश्च ते नन्दना अर्भकाश्च कोकिलनन्दनाः पठन्तश्च ते कोकिलनन्दनाश्च पठत्कोकिलनन्दनास्तैराढ्याः पूर्णाः "दारको नन्दनोऽर्भक" इति धनञ्जयः । पक्षे पठन्तो ध्वनन्तः कोकिला यस्मिंस्तत्पठत्कोकिलं तच्चतन्नन्दनञ्च तन्नामवनञ्च तथोक्तन्तेनाढ्याः प्रपूर्णाः । समुल्लसत्पाण्डुकभद्रशालाः भद्रश्चासौशालश्च भद्रशालः पाण्डुरेव पाण्डुकः स्वार्थे क प्रत्ययः पाण्डुकश्चासौ भद्रशालश्च तथोक्तः "पाण्डुः कुन्तीपतौ सिते" इति

विश्वः। स्फटिकचन्द्रकान्तरजतमयदृढप्राकार इत्यर्थः समुल्लसतीति समुल्लसन् प्रस्फुरन् समुल्लसन् पाण्डुकभद्रशालो येषान्ते तथोक्ताः पक्षे पाण्डुकश्च भद्रशालश्चेति पाण्डुकभद्रशाले तदभिधाने वने समुल्लसती पाण्डुकभद्रशाले येषान्ते तथोक्ताः । सौमनसालयाः शोभनं मनो येषान्ते सुमनसः सुमनसां विदुषामिमे सौमनसाः सौमनसा आलया अध्ययनशाला येषान्ते तथोक्ताः । "सुमनाः पुष्पमालत्योस्त्रिदशे कोविदेऽपि" इति विश्वः। पक्षे सौमनसस्य तन्नामवनस्यालयानिलाः सुमनसान्देवानामिमे सौमनसाः सौमनसा आलया येषु ते तथोक्ताः। जिनालयाः चैत्यगेहाः। मेरूनपि महामेरुपर्वतानपि । जयन्ति अभिभवन्ति। चित्रम् आश्चर्य्यम्। श्लेषालंकारः ॥५१॥

भा० अ०—आश्चर्य की बात है कि वहाँ पर कोकिल जैसी पढ़ती हुई वटु-मण्डली से युक्त, वा कोकिल से प्रतिध्वनित नन्दनवनसे युक्त, स्फटिक और चन्द्रकान्त मणिमय प्राकारसे परिवेष्टित वा पाण्डुक और भद्रशाला वनसे युक्त और भव्यों के आलयभूत या देवताओं के आलयभूत जिनचैत्यालय सुमेरुपर्वत की भी उच्चता को तिरस्कृत किये हुए थे॥ ५१॥

यत्राश्मगर्भार्कजिनालयत्विट्च्छन्नेऽभ्रमध्ये तपनो हठेन ॥
दूर्वाम्बुबुद्ध्या द्रवदश्वरोधक्लेशासहः किं कुरुतेऽयने द्वे॥ ५२ ॥

यत्रेत्यादि। यत्र पुर्य्याम्। अभ्रमध्ये अभ्रस्याकाशस्य मध्यन्तस्मिन् । अश्मगर्भार्कजिनालयत्विट्च्छन्ने अश्मगर्भो नीलरत्नन्तथार्कः स्फटिकोपलस्स च तथोक्तः "अश्मगर्भो हरिन्मणिः अर्कः स्फटिकसूर्य्ययोः"इत्युभयत्राप्यमरः। ताभ्यान्निर्म्मिता जिनालयास्तथोक्ताः "मयूरव्यंसकादयः" इति तत्पुरुषत्वान्मध्यमपदलोपस्तेषां त्विट् कान्तिस्तया छन्नं लिप्तन्तस्मिन् सति "स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विट्" इत्यमरः। दूर्वाम्बुबुद्ध्या दूर्वा चाम्बु च दूर्वाम्बुनी तयोस्ते इति वा बुद्धिस्तया हरिन्मणिस्फटिकयोः कान्त्या दूर्वाम्बुनोर्बुद्धिर्जायत इत्यर्थः । द्रवदश्वरोधक्लेशासहः द्रवन्तीति द्रवन्तः प्रयान्तस्ते च ते अश्वाश्च तथोक्तास्तेषां निजयानवाजिनां रोधः स्थापनन्तेन जातः क्लेशस्तन्न सहत इति द्रवदश्वरोधक्लेशासहः । तपनः सूर्यः। हठेन बलात्कारेण। "प्रसभस्तु बलात्कारो हठः" इत्यमरः। द्वेऽयने दक्षिणोत्तररूपे गती। "अयने द्वे गतिरुदक् दक्षिणार्कस्य वत्सरः" इत्यमरः। कुरुते विधत्ते। किमेवं स्यादिति शङ्का। संकरालंकारः ॥ ५२ ॥

भा० अ०—नीलमणि तथा स्फटिकमणि से जड़ित, चैत्यालयों की कान्ति से परिप्लावित आकाश में हरी घास और जल की भ्रान्ति से विमुग्ध हो उनकी ओर भागते हुए घोड़ों को रोकने में असमर्थ होकर ही मानों सूर्य ने उत्तरायण तथा दक्षिणायन का निर्माण किया। ५२।

चित्रं जिनेन्द्रावसथस्थलेषु प्रमोदबाष्पोदकपिच्छिलेषु ॥
भव्यैः किलोप्ताः सिततण्डुलास्ते फलन्ति यस्यां बहुशः फलानि ॥५३॥

चित्रमित्यादि । यस्यां पुर्याम् । प्रमोदबाष्पोदकपिच्छिलेषु प्रमोदेन सन्तोषेण जातं बाष्पस्याश्रोरुदकं प्रमोदबाष्पोदकं "बाष्पोऽश्रुण्यस्त्रधूमे च" इति वैजयन्ती । तेन पिच्छिलानि पङ्कीभूतानि तेषु । "पिच्छिलं स्याद्विजलकं पङ्कः स्यात्"इत्यादि हलायुधः । जिनेन्द्रावसथस्थलेषु जिनानामिन्द्रास्तथोक्ता जिनेन्द्राणामावसथा आलयास्तेषां स्थलानि तेषु । भव्यैः विनेयैः । उप्ताः उप्तन्तेस्म उप्ताः क्षिप्ताः । ते प्रसिद्धाः । सिततण्डुलाः सिताश्च ते तण्डुलाश्च तथोक्ताः शुभ्रतण्डुला इत्यर्थः । बहुशः अनेकशः । फलानि अभीष्टफलानि । फलन्ति निष्पादयन्ति । फल निष्पत्तौ लट् । चित्रम् अद्भुतम् ॥ ५३ ॥

भा० अ०—जहाँ भक्ति-विगलित आनन्दाश्रु से पङ्कीभूत जिनमन्दिरों में भव्यों से बोये गये स्वच्छतण्डुल बार बार फलते हैं यह आश्चर्य था । ५३ ।

देवीनां मणिगृहमध्यवर्त्तिहैमप्रासादे सदलसकर्णिकाम्बुजाभे ॥
आवासे यदधिभुवः कृताधिवासा श्रीरासीद्ध्रुवमरविन्दमन्दिरा सा ५४

देवीनामित्यादि । सदलसकर्णिकाम्बुजाभे दलेन पर्णेन सह वर्तत इति सदलं कर्णिकया सह वर्त्तत इति सकर्णिकम् अम्बुनि जायत इत्यम्बुजं सदलश्च सकर्णिकश्च तदम्बुजञ्चेति सदलसकर्णिकाम्बुजन्तस्याभः समानस्तस्मिन् पर्णकर्णिकासहितारविन्द समान इत्यर्थः । देवीनाम् महिषीणाम् । मणिगृहमध्यवर्त्तिहैमप्रासादे मणिभीरत्नैर्निर्म्मिता गृहा मणिगृहास्तेषाममध्यन्तस्मिन् वर्तत इत्येवं शीलो मणिगृहमध्यवर्त्ती हेम्ना निर्म्मितो हैमः "हेमादिभ्यः" इत्यञ् प्रत्ययः हेममय इत्यर्थः स चासौ प्रासादश्च हैमप्रासादः "हर्म्यादि धनिनां वासः प्रासादो देवभूभुजाम्" इत्यमरः । मणिगृहमध्यवर्त्ति चासौ हैमप्रासादश्च तथोक्तस्तस्मिन् । यदधिभुवः यस्याः पुर्या अधिभूरधिपस्तस्य राजगृहाधिपस्य । आवासे आलये । कृताधिवासा कृतोऽधिवासो निलयो यया सा तथोक्ता विहिताश्रया । सा प्रसिद्धा । श्रीः लक्ष्मीः । ध्रुवम् निश्चयेन । अरविन्दमन्दिरा अरविन्दं कमलन्तदेव मन्दिरमावासो यस्यास्सा तथोक्ता कमलनिलयाभिधाना । असीत् अभवत् । अस भुवि लङ् ॥ ५४ ॥

इत्यर्हद्दासकृतेः काव्यरत्नटीकायां सुखबोधिन्यां भगवदभिजनवर्णनो नाम प्रथमः सर्गोऽयं समाप्तः ॥

भा० अ०—जहाँ राजमहिषियों के आवासों के मध्यमें पत्र तथा कर्णिका-युक्त कमलकीसी आभावाले मणिमय सुवर्ण प्रासाद में निवास करती हुई राजलक्ष्मी अपने कमलासना नाम को चरितार्थ किये हुई थी ।५४।

इति प्रथम सर्ग समाप्त

॥ अथ द्वितीयः सर्गः ॥

अथाभवत्तस्य पुरस्य राजा सुमित्र इत्यन्वितनामधेयः ॥
क्रियार्थयोः क्षेपणपालनार्थद्वयादसत्सद्विषयात्सुपूर्वात् ॥ १ ॥

अथेत्यादि। अथ राजधानीनिरूपणानन्तरे। तस्य पुरस्य राजगृहनगरस्य। क्रियार्थयोः क्रिया परिणतिः प्रवृत्तिर्वा सार्थो ययोस्तौ तथोक्तौ तयोः। "क्रियार्थो धातुः" इति सूत्रणात् धातुसङ्कृतोरित्यर्थः। असत्सद्विषयात् असन्तो दुर्ज्जनाश्च सन्तस्सज्जनाश्चासत्सन्तस्ते एव विषयो गोचरो यस्य तस्मात्। सुपूर्वात् सुशब्द एव पूर्वं यस्य तत्सुपूर्वं तस्मात्। क्षेपणपालनार्थद्वयात् क्षेपणन्निग्रहणञ्च पालनं रक्षणञ्चेति क्षेपणपालने तयोरर्थौ क्षेपणपालनार्थौ तयोर्द्वयन्तथोक्तं तस्मात्। सुमित्र इति सुमिनोति निगृह्णाति त्रायते पालयति इति सुमित्रः। डुमिञ् प्रक्षेपणे त्रैङ्पालने इति सुपूर्वकधातुद्वयादुत्पन्नत्वात्। अन्वितनामधेय इति अन्वितं सार्थकं नामधेयं यस्यासौ तथोक्तः। "नामरूपभागधेयः" इति धेय प्रत्ययः। दुष्टनिग्रहशिष्टपालनसमर्थ इत्यर्थः। राजा नृपः। अभवत् आसीत्। भूसत्तायां लङ् ॥ १ ॥

भा० अ०—सज्जनों का रक्षण और दुर्जनों का दमन करने के कारण अपने नाम को सार्थक करता हुआ उस राजगृह नगरी का सुमित्र नाम का राजा हुआ। १।

यं राजशब्दासहमन्यपुंसि श्रुत्वा भयाढ्यः सुखरोचिरासीत् ॥
स्तुतिप्रसक्ताः कवयो वभूवुर्यक्षोऽपि सत्यं धनदो वभूव ॥२॥

यमित्यादि। अन्यपुंसि अन्यश्चासौ पुमाँश्चान्यपुमान् तस्मिन् स्वस्मात्परपुरुषे। राजशब्दासहम् राजेतिशब्दो राजशब्दस्तन्न सहत इति राजशब्दासहस्तम् राजाभिधानमसहमानमित्यर्थः। यम् सुमित्रराजम्। श्रुत्वा आकर्ण्य। सुखरोचिः सुखमाह्लादनन्तद्रूपं रोचिः कान्तिर्यस्य स तथोक्तः "रोचिः शोचिरुभे क्लीबे प्रकाशो द्योत आतपः" इत्यमरः। चन्द्र इत्यर्थः। भयाढ्यः भयेन भीत्या आढ्यः पूर्णः पक्षे भया कान्त्या आढ्यस्समृद्धः। आसीत् अभवत्। कवयः कवीश्वराः। स्तुतिप्रसक्ताः स्तुतौ स्तवने प्रसक्ताः प्रीताः। वभूवुः आसन्। भू सत्तायां लिट्। यक्षोऽपि कुवेरोऽपि। धनदः धनन्ददातीति धनदो द्रव्यदायकः। वभूव आसीत्। सत्यम् तथ्यम्। कवौ

यक्षे मृगाङ्के च शक्रे राजविभासित इत्यभिधानं ते त्रयोऽपि तथा कुर्य्युरिति भावः ॥ २ ॥

भा० अ०—यह सुमित्र राजा दूसरे किसी की राजोपाधि नहीं सहन कर सकता यह सुन कर ही भयभीत हो राजोपाधि विभूषित मानों चन्द्रमा कान्तियुक्त, कवि-गण स्तुति परायण तथा यक्ष धन देने में व्यस्त हो रहे थे ! । २ ।

कोपारुणेऽप्यक्षिणि यस्य चित्रं सकञ्चुकैः कुण्डलिभिः सनाथम्
शिवास्पदं काञ्चनवज्रपूर्णं बभूव सर्वं नगरं रिपूणाम् ॥ ३ ॥

कोपारुण इत्यादि । यस्य सुमित्रनृपस्य । अक्षिणि नेत्रे । कोपारुणेऽपि कोपेन रोषेणारुणं रक्तन्तस्मिन्नपि । "अरुणो भास्करेऽपि स्याद्वर्णभेदेऽपि च त्रिषु" इत्यमरः । किंपुनर्युद्धोद्यत इत्यपि शब्दार्थः । रिपूणाम् शत्रूणाम् । सर्वम् नगरम् पुरम् । सकञ्चुकैः कञ्चुकेन कवचेन सह वर्त्तन्त इति सकञ्चुकास्तैः सकवचत्व-स्यात्र विरोधः कञ्चुकेन निर्म्मोकेण सहवर्त्तन्त इति सकञ्चुकास्तैः । "कञ्चुको वारवाणे स्यान्निर्म्मोके कवचेऽपि । वद्धापकगृहीताङ्गस्थितवस्त्रे च चोलके" इति विश्वः । कुण्डलिभिः कुण्डलं कर्णवेष्ठनमस्त्येषामिति कुण्डलिनस्तैः । कुण्डल-त्वस्य विरोधः कुण्डलिभिः भुजंगैः । "कुण्डली गूढपा चक्षुःश्रवाः" "इत्यमरः । सनाथम् नाथेन सहितम् । शिवास्पदम् शिवानां मंगलानामास्पदम् शिवास्पदम् मङ्गलास्पदत्व-स्य विरोधः शिवानां शृगालानामास्पदम् तथोक्तम् । "शिवं मोक्षे सुखे भद्रे सलिले-ऽथ शिवो हरे । वेदे योगान्तरे कीले वालुके गुग्गुलेऽपि च । पुण्डरीकद्रुमे चापि शिवाभ्रंटामलौषधौ । अभयामलकी गौरी क्रोष्ट्री सक्तुफलासु च" इति विश्वः । काञ्चन-वज्रपूर्णम् काञ्चनश्च वज्रश्च काञ्चनवज्रे ताभ्याम्पूर्णं काञ्चनवज्रपूर्णम् । सुवर्णवज्र पूर्णत्वस्य विरोधः किन्तु काञ्चनैर्धत्तूरैरन्यैर्वृक्षविशेषैर्वा वज्रैः सिहुण्डादिभिश्च पूर्णम् । "काञ्चनः काञ्चनारे स्याच्चम्पके नागकेसरे उदुम्बरे च पुन्नागे हरिद्रायाञ्च काञ्चनी । काञ्चनं हेम्नि किञ्जल्के पुंनागे काचभाजने । वज्रं हीरकदम्भोलिबाल-कामलकेषु च" इत्युभयत्रापि विश्वः । "धत्तूरः कनकाह्वयः मिश्रेयाप्यथ सीहुण्डो वज्रः स्नुक्स्त्रीस्नुही गुडे" इत्युभयत्राप्यमरः । बभूव जज्ञे । भू सत्तायां लिट् । विरोधा-लंकारः ॥ ३ ॥

भा० अ०—सुमित्र राजा की आँखें क्रोध से लाल होने पर शत्रुओं के सभी नगर सापों का बसेरा, सियारों की माँद और धत्तूर तथा सेहुँड़के सघन वन हो गये थे। अर्थात् डर के मारे शत्रुओं के भागजाने से उनके नगर बीहड़ बने हुए थे। ३।

प्रयाणभेरीश्रवणेन यस्य पलायमानानरिभूमिपालान् ॥
पदाभिघाताक्षमयैव सद्यः प्रकाशयामास समीरकेतुः ॥४॥

प्रयाणेत्यादि। यस्य सुमित्रराजस्य। प्रयाणभेरीश्रवणेन प्रयाणस्य भेरी प्रयाणभेरी तस्याः श्रवणन्तेन प्रस्थानपटहध्वानाकर्णनेनेत्यर्थः। पलायमानान् पलायन्त इति पलायमानास्तान् धावमानान्। "परापूर्वकादयधातोरानरो लोपाविति" पराशब्दस्य रेफस्य लः। अरिभूमिपालान् भूमिं पालयन्तीति भूमिपालाः अरयश्शत्रवश्च ते च ते भूमिपालाश्च तथोक्तास्तान्। पदाभिघाताक्षमयैव पदानाञ्चरणानामभिघातस्तथोक्तः न क्षमा अक्षमासहनम्पदाभिघातेन जाताक्षमापदाभिघातस्याक्षमा वा तयैव। "क्षितिः क्षान्तौ क्षमा ख्याता हिते शक्ते च वाच्यवत्" इति विश्वः। समीरकेतुः समीरस्य वायोः केतुः ध्वजः समीरकेतुः ध्वजश्चिह्नं धूलिरित्यर्थः। "नभस्वान् मातरिश्वा च समीरश्च समीरणः" इति जयकीर्त्तिः। प्रकाशयामास प्रकटयामास। काशृ दीप्तौ "णिजन्ताद्वयायित्यादीनाम्" तत्पलायनाध्वानन्दर्शयतिस्मेत्यर्थः। उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ४ ॥

भा० अ०—सुमित्र महाराज की प्रयाणभेरी सुन कर भागते हुए शत्रुओं को उनके चरणाघात सहन करने में असमर्थ हुई धूलि ने ही प्रकटित कर दिया। अर्थात् शत्रुओं के भागने से जो उनके पैरों की धूलि उड़ी उसीसे वे पकड़ लिये गये। ४।

येनासिना युद्धशिरस्यरीणाम् साङ्गच्छिदे वर्म्मणि रक्तधारा ॥
विनिर्य्यती तेन यथा व्यराजीदुद्भूतकोपाग्निशिखेव तेषाम् ॥५॥

येनेत्यादि। येन सुमित्रराजेन। युद्धशिरसि युद्धस्य संग्रामस्य शिरो युद्धशिरस्तस्मिन्। रणाग्र इत्यर्थः। असिना चन्द्रहासेन खड्गेनेत्यर्थः। अरीणाम् शत्रूणाम्। वर्म्मणि कवचे। साङ्गच्छिदे अङ्गेन सह वर्त्तत इति साङ्गं साङ्गं छिनत्ति साङ्गछित्तस्मिन् सति। "छिन्नं छातं लूनं कृत्तं दातं दितं छितं वृक्णम्" इत्यमरः। तेन यथा तच्छिद्रमार्गेण। विनिर्य्यती निष्क्रामन्ती निर्गच्छन्तीत्यर्थः। रक्तधारा रक्तस्य धारा प्रवाहस्तथोक्ता शोणितप्रवाहः। तेषाम् शत्रुभूपानाम्। उद्भूतकोपाग्निशिखेव उद्भूतोऽसौ कोपश्चोद्भूतकोपः स एवाग्निस्तस्य शिखेव ज्वालेव। व्यराजीत् व्यवभासत राजृ दीप्तौ लुङ्। उत्प्रेक्षालंकारः॥ ५ ॥

भा० अ०—युद्धक्षेत्र में सुमित्रराज से खड्ग के द्वारा शत्रुओं के कवच के साथ २ अङ्ग काटे जाने पर उस छिन्न भिन्न शरीर से निकली हुई रक्त की धारा उनकी क्रोधाग्नि कीसी मालूम होती थी। ५।

रणेषु खड्गः करिकुम्भमुक्तासम्पृक्तधारोऽनुचकार यस्य ॥
विदारिते वक्तृबिले विधातुर्विधुन्तुदस्येन्दुकुटुम्बकानाम् ॥६॥

रणेष्वित्यादि। रणेषु संग्रामेषु। यस्य राज्ञः। करिकुम्भमुक्तासम्पृक्तधारः करिणां गजानां कुम्भाः करिकुम्भाः "कुम्भो घटेभमूर्धांशौ" इत्यमरः। करिकुम्भेषु भवा मुक्ता मौक्तिकानि ताभिस्सम्पृक्ता युक्ता धारा यस्य स तथोक्तः। खड्गः कृपाणः। विदारिते विदीर्णे। वक्तृबिले मुखच्छिद्रे। इन्दुकुटुम्बकानाम् इन्दोश्चन्द्रस्य कुटुम्बान्येव कुटुम्बकानि तेषाम्। विधातुः विदधातीति विधाता तस्य कुर्वतः कर्तुः वदने ग्रसितुं स्थापयितुमित्यर्थः। विधुन्तुदस्य विधुन्तुदतीति विधुन्तुदस्तस्य राहोः "विधावुपपदे तुदव्यथनेऽस्माद् विध्वरुस्तिलात्तुद" इत्यनेन खच् प्रत्ययः "खित्यरुः" इत्यादिना मम्। अनुचकार अनुकरोतिस्म। डु कृञ् करणे लिट्। इन्दुकुटुम्बकानां विधातुर्विधुन्तुदस्य चेत्युभयत्रापि कर्म्मषष्ठ्या तस्य सदृशोऽभूदित्यर्थः॥ ६॥

भा० अ०—महाराज सुमित्र के खड्ग की धार युद्धक्षेत्र में हाथियों के मस्तकों को विदीर्ण करते समय गजमुक्ताओं से समलङ्कृत होती हुई चन्द्रपरिवार को ग्रस्त करने के लिये समुद्यत राहु के समान जान पड़ती थी। ६।

कृपाणभिन्नैर्युधि वैरिवीरै र्विभिन्नबिम्बे सति यस्य भानौ ॥
स्वयम्भयेनैव बभूव भिन्नः शशी न चेदद्य बिली किमेषः ॥७॥

कृपाणेत्यादि। युधि संग्रामे। यस्य प्रभोः। कृपाणभिन्नैः कृपाणेन खड्गेन भिन्नाश्छिन्नास्तैः। वैरिवीरैः वैरिण एव वीरा वैरिवीरास्तैः शत्रुवीरैः। रूपकः। भानौ सूर्य्ये। विभिन्नबिम्बे विभिन्नं छिन्नं बिम्बं मण्डलं यस्य तस्मिन्। शशी चन्द्रः। भयेन भीत्या। स्वयमेव आत्मन्येव। भिन्नः विशीर्णः। बभूव भवतिस्म। न चेत् मृषाचेत् तर्हि। एषः सुधांशुः। बिली बिलमस्यास्तीति बिली छिद्रवानित्यर्थः। किम् कथमभूदिति वितर्कः। "किं प्रश्ने वितर्के च" इत्यमरः। संयुगे संस्थितरविं भित्त्वा वीरास्स्वर्गं प्रयान्तीति कवितासंकेतः॥ अनुमित्यलंकारः॥ ७॥

भा० अ०—जिस सुमित्रराज के खड्ग से मारे गये शत्रुओं की आत्माओं को सूर्यमण्डल को विद्ध कर ऊपर जाते हुए देख कर मानों भय से चन्द्रमा स्वयं ही विदीर्ण हो गया। यदि यह बात नहीं होती तो चन्द्रमा बिली अर्थात् सच्छिद्र क्यों कहलाता। ७।

बाहौ यदीयेऽर्थिसुरद्रुमेऽपि मन्येऽसियष्टिं विषवल्लिमन्याम्
नोचेत्तया वैरिणि वेष्ट्यमाने किन्तेपिरे तस्य कुटुम्बकानि ॥८॥

बाहावित्यादि। यदीये यस्यायं यदीयस्तस्मिन्। "दोश्छ" इति छ प्रत्ययः। बाहौ भुजे। अर्थिसुरद्रुमेऽपि अर्थयन्त्येवं शीला अर्थिनः सुरस्य द्रुमः सुरद्रुमः सुरद्रुम इव सुरद्रुमोऽर्थिनां सुरद्रुमस्तस्मिन् याचकजनकल्पवृक्षे सत्यप्युपमा। असियष्टिं खड्गलताम्। अन्यां भिन्नां छिन्नां लोकातिगामित्यर्थः। विषवल्लिम् विषलताम्। मन्ये जाने। नोचेत्तया खड्गलतया। वैरिणि वैरमस्यास्तीति वैरी तस्मिन् शत्रौ। वेष्ट्यमाने संश्रीयमाणे सति। तस्य वैरिणः। कुटुम्बकानि कुटुम्बानि। किम् किन्निमित्तम्। तेपिरे तपन्तिस्म। तप सन्तापे लिट्॥ उत्प्रेक्षालंकारः॥ ८॥

भा० अ०—महाराज सुमित्र की भुजायें याचकों के लिये कल्पवृक्ष के समान अभीष्टप्रद होने पर भी उनकी तलवार को मैं विषलतिकासी समझता हूं। नहीं तो इसके लक्ष्य बने हुए शत्रुओं के परिवार वर्ग क्यों दुःखी होते। ८।

यस्य प्रतापाग्निशिखावलीढं सर्वं जगत्सत्यमिदं वदामि॥
नेदं द्विषो यं यमगुः प्रदेशं तप्ता बभूवुः किमु तत्र तत्र॥ ९ ॥

यस्येत्यादि। इदं एतत्। सर्वं विश्वं। जगत् भुवनम्। यस्य सुमित्रनृपस्य। प्रतापाग्निशिखावलीढम् प्रतापः पराक्रमः स एवाग्निस्तस्य शिखा ज्वाला तयावलीढं व्याप्तं प्रतापाग्निशिखावलीढम्। "सप्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोषदण्डजम्" इत्यमरः। सत्यम् तथ्यम्। वदामि ब्रवीमि। इदम् वचनम्। न नचेत्तर्हि। द्विषः शत्रवः। "द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः" इत्यमरः। यं यम् प्रदेशम्। अगुः यन्तिस्म। इण् गतौ लुङ् "गैत्योः" इति गादेशः। तत्र तत्र तस्मिन् तस्मिन् प्रदेशे। वीप्सायामिति द्विः। तप्ताः तप्यन्तेस्म तप्ताः। किं बभूवुः किन्निमित्तम्भवन्तिस्मेतिवितर्कः। अनुमित्यलंकारः॥ ९॥

भा० अ०—मैं समझता हूं कि, सुमित्रराज के प्रतापरूपी अग्नि की ज्वाला से सारा संसार व्याप्त हो रहा था। यदि यह नहीं होता तो इन के शत्रु जहाँ जहाँ जाते वहाँ २ क्यों सन्तप्त होते। ९।

यस्यासिधाराविनिपातभीतास्त्यजन्तु पद्माकरसंगमानि॥
विमुक्तवन्तः किल राजहंसाः स्वमुत्तराशाश्रितमानसञ्च॥ १०॥

यस्येत्यादि। यस्य भूपस्य। असिधाराविनिपातभीताः असेर्धारा असिधारा खड्गाग्रम् तस्या विनिपातो घातस्तेन भीतास्सन्त्रस्तास्ते तथोक्ताः पक्षे असिवत्क्रूरा धारा जलप्रवाहोऽसिधारा तस्या विनिपाताद्भीतास्तथोक्ताः। "धारा सैन्याग्रिमस्कन्धसन्तत्योःपत्तनान्तरे। द्रवद्रव्यप्रपातेऽपि तुरंगगतिपञ्चके। खड्गादीनाञ्च निशित-

मुखे धारोऽपि कीर्त्यते" इति विश्वः। राजहंसाः राज्ञां हंसाः राजहंसाः श्रेष्ठाः राजहंसाः भूपेन्द्रा इत्यर्थः पक्षे राजहंसाः हंसविशेषाः। "राजहंसो नृपश्रेष्ठे कादम्बकलहंसयोः" इति विश्वः। पद्माकरसंगमानि पद्मां लक्ष्मीं कुर्वन्तीति पद्माकराणि सम्पद्विधायकानि तानि संगमानि संसर्गास्तथोक्तानि राज्यभोगादिसम्बन्धानीत्यर्थः पक्षे पद्माकरस्य पद्मानामाकरस्तस्य तडागस्य संगमानि सम्बन्धानीत्यर्थः। "पद्मः स्यात्पन्नगे व्यूहे निधौ संख्यान्तरेऽम्बुजे पद्मके बिन्दुजालेऽपि पद्मा भाङ्गीश्रियोरपि" इति विश्वः। विमुञ्चन्तिस्म विमुक्तवन्तः। स्वं स्वकीयम्। उत्तराशाश्रितमानसञ्च उत्तरा भविष्यत्फलरूपाशा वांछा तथोक्ता उत्तराशामाश्रयतिस्म तथोक्तमुत्तराशाश्रितञ्च तन्मानसं चित्तञ्च तथोक्तम् पक्षे उत्तरा चासावाशा च तथोक्ता उत्तरादिक् तामाश्रितमुत्तराशाश्रितन्तच्चमानसं तन्नामसरश्चेति तथोक्तम्। "आशा तृष्णादिशोः प्रोक्ता, मानसं सरसि स्वान्ते" इत्युभयत्रापि विश्वः। त्यजन्तु मुञ्चतु। त्यजहानौ लोट्। किल सम्भावितेऽर्थे। "वार्ता सम्भावयोः किल" इत्यमरः। उत्तरदिशि धनदस्य चैत्ररथनामोद्याने मानसनाम सरोऽस्तीति लौकिकरूढिः॥ श्लेषोपमालंकारः॥ १०॥

भाषा अ०—सुमित्र महाराज के खड्गप्रहार से भयभीत होकर बड़े २ राजाओं ने अपने राज्य के ऐश्वर्योपभोग तथा भावी आशाओं को अपने हृदय से निकाल दिया। (दूसरा पक्ष) अथवा राजहंस पक्षी ने सुमित्र महाराज के राज्य में तीव्रजलप्रवाह से त्रस्त होकर पद्माकर (सरोवर) का आना जाना छोड़ दिया तथा उत्तर दिशा में विराजमान मानससरोवर को भी छोड़ दिया। १०।

तेजोऽनले व्याप्तसमस्तकाष्ठे तत्र स्थितिं कर्त्तुमशक्नुवानाः॥
यस्यारयो वारिधिवासमापुर्नोचेत्तथा के किल वारिमर्त्याः॥११॥

तेज इत्यादि। यस्य नरेन्द्रस्य। तेजोऽनले तेजः प्रभावस्तदेवानलोऽग्निस्तस्मिन्। "तेजः प्रभावे दीप्तौ च बले शुक्रेपि" इत्यमरः। व्याप्तसमस्तकाष्ठे समस्ताश्चताः काष्ठा दिशश्च तथोक्ता व्याप्ताः परिपूर्णाश्च ताः समस्तकाष्ठा येन स तस्मिन् सति "काष्ठोत्कर्षे स्थितौ दिशि" इत्यमरः। इन्धनानि ध्वन्यन्ते। तत्र दिक्षु। स्थितिम् स्थानम्। कर्तुम् करणाय कर्त्तुं विधातुमित्यर्थः। अशक्नुवानाः न शक्नुवन्तीत्यशक्नुवानाः। "वयः शक्ति शील" इति शान प्रत्ययः। अशक्नुवन्त इत्यर्थः। अरयः शत्रवः। वारिधिवासम् वारीणि धीयन्तेऽस्मिन्निति वारिधिस्समुद्रस्तस्मिन् वासो निवासस्तम् समुद्रावासमित्यर्थः। आपुः ययुः। व्यतिरेकः। तथा तेन प्रकारेण। नोचेत् यदि न भवेत्। वारिमर्त्याः

वारिणि प्रवर्त्तमाना मत्यस्तिथोक्ता जलचरमनुष्याः †। के किल के भवन्ति। किलेति प्रश्नः। अनुमित्यलंकारः॥ ११॥

भा० अ०—इन महाराज की प्रतापाग्नि के सभी दिशाओं में व्याप्त होजाने पर इनके शत्रुओं ने अन्यत्र स्थान न पा समुद्र की शरण ली। यदि ऐसा न होता तो जलचर-मनुष्यों का अस्तित्व ही मिट जाता। ११।

उपायनाश्वेभखुरप्रहारमदाम्बुनिम्नीकृतपूर्णमध्यम् ॥
रत्नाङ्गणं यत्सदसो विशालम् क्रीडासरोवद्विरराज लक्ष्म्याः ॥१२॥

उपायनेत्यादि। यत्सदसः यस्य सदस्तस्य सुमित्रराजसभायाः। "आस्थानी क्लीबमास्थानं स्त्रीनपुंसकयोः सदः" इत्यमरः। उपायनाश्वेभखुरप्रहारमदाम्बुनिम्नीकृत-पूर्णमध्यम् अश्वाश्चेभाश्च * अश्वेभा उपायनार्थं उपहारनिमित्तमानाता अश्वेभा उपायनाश्वेभाः खुराणां प्रहारः खुरप्रहारो मदस्याम्बु मदाम्बु खुरप्रहारश्च मदाम्बु च खुरप्रहारमदाम्बुनी उपायनाश्वेभानां खुरप्रहारमदाम्बुनी तथोक्ते प्रागनिम्नं इदानीं निम्नं क्रियतेस्म निम्नीकृतम् पूर्यतेस्म पूर्णम् उपायनाश्वेभखुरप्रहारमदाम्बुभ्यां निम्न कृतं-पूर्णं मध्यं यस्य तत्तथोक्तम्। यथासंख्यालंकारः। अश्वखुरप्रहारेण निम्नीकृतम् इभमदाम्बुना पूर्णमध्यमित्यर्थः। विशालं विस्तृतम्। रत्नाङ्गणम् रत्नैर्निर्मितमङ्गणं तथोक्तम्। "अङ्गणं चत्वराजिरे" इत्यमरः। लक्ष्म्याः श्रीदेव्याः। क्रीडासरोवत् क्रीडासर इव क्रीडा-सरोवत्। उपमा। विरराज बभौ। राजृ दीप्तौ लिट् ॥१२॥

भा० अ०—भेंट में आये हुए घोड़ों के खुर-प्रहार तथा मदमत्त हाथियों की मदधारा-से सुमित्र महाराज की सभा के रत्नजड़ित प्रांगण का मध्यभाग गड्ढासा होकर लक्ष्मी महाराणी के क्रीड़ासरोवर के समान ज्ञात होता था॥ १२॥

प्राणेश्वरी तस्य बभूव राज्ञः पद्मावतीनामनरेन्द्रकन्या।
ययाधिविन्नाजनि भूतधात्री या चाधिविन्नाजनि भूरिलक्ष्म्या ॥१३॥

प्राणेश्वरीत्यादि। तस्य राज्ञः सुमित्रस्य। यया रमण्या। भूतधात्री भूदेवी। "भूतधात्र्यब्धिमेखला" इति धनञ्जयः। अधिविन्ना विद्यतेस्म विन्नं अधि उपरि विन्नं यस्याः सा अधिविन्ना सपत्नी "कृतसापत्निकाध्यूढाऽधिविन्नाऽथस्वयम्वरा" इत्यमरः। अजनि अभूत्। जनेङ्प्रादुर्भावे लुङ् "दीप्पूर्जनि"इत्यादिना चिः "चेः" इति तस्य लुक्। या

† जलजमनुष्या इत्यर्थः। * अश्वाश्चेभाश्चेतिविग्रहे सनाङ्गत्वेनात्वेकवद्भावो भवितुमुचित आसीत्।

च नारी । भूरिलक्ष्म्या भूरिश्चासौलक्ष्मीश्चेति भूरिलक्ष्मीस्तया । अधिविन्ना सपत्नी अजनि अभूत् । सा पद्मावतीनामनरेन्द्रकन्या नराणामिन्द्रो नरेन्द्रः कश्चिद्भूपतिस्तस्य कन्या कुमारी पद्मा अस्या अस्तीति पद्मावती पद्मावतीति नाम यस्याः सा तथोक्ता सा चासौ नरेन्द्रकन्या च तथोक्ता । प्राणेश्वरी प्राणानामीश्वरी तथोक्ता वल्लभा । बभूव भवतिस्म । भूतधात्रीभूरिलक्ष्मीभ्यां सपत्नी नत्वन्याभिरिति । अतिशयालंकारः ॥ १३ ॥

भा० अ०—महाराज की प्राणवल्लभा पद्मावती एक राजकन्या थीं । इनकी केवल दो सौतें थीं । एक पृथ्वी और दूसरी राजलक्ष्मी ॥ १३ ॥

लावण्यवाराशितराङ्गकल्पलतां नृपस्त्रीमवलोक्य शङ्के ॥
तत्काम्ययाद्यापि करोति लक्ष्मीस्तपोम्बुमध्ये कमलासनस्था ॥१४॥

लावण्येत्यादि । लावण्यवाराशितराङ्गकल्पलताम् लावण्यमेव सौरूप्यमेव वाराशिः वारां जलानां राशिः समुद्रः "वार्वारिजलमम्भोऽम्बु" इति धनञ्जयः । लावण्यवाराशिं तरतीति लावण्यवाराशितरा प्लवमानेत्यर्थः कल्पलताया वाराशिप्रभवत्वप्रसिद्धेः "स्वित्रजिह्वादिभ्यः" इत्यच् प्रत्ययः । अङ्गमेव कल्पलताङ्गकल्पलता लावण्यवाराशितरा चासावङ्गकल्पलता च तथोक्ता ताम् । नृपस्त्रीम् नॄन् पातीति नृपस्तस्य स्त्री ताम्पद्मावतीम् । अवलोक्य वीक्ष्य । लक्ष्मीः कमला । तत्काम्यया तल्लावण्यमिच्छत्यात्मन इति तत्काम्या तया तल्लावण्यलाभेच्छया "सुपः कर्त्तुः काम्यः" इति वाञ्छार्थे काम्य प्रत्ययः । "प्रत्ययाद्यत्" इति यत् । "ततोऽजाद्यन्तामाप्" इति आप् । कमलासनस्था कमलमेवासनं कमलासनन्तस्मिन् तिष्ठतीति कमलासनस्था पद्मासनस्थेत्यर्थः । अद्यापि इदानीमपि । अम्बुमध्ये जलमध्ये । तपः पारिव्राज्यम् । करोति विदधाति । इति शंके मन्ये । शकि शंकायां लट् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥१४॥

भा० अ०—मुझे सन्देह होता है कि सौन्दर्य समुद्र में तैरनेवाली तथा कल्पलतिकासी अङ्गवाली राजमहिषी पद्मावती को देखकर इनकी सुन्दरता पाने की इच्छा से लक्ष्मी आज भी समुद्र के मध्य में तपस्या कर रही हैं ॥ १४ ॥

निशाकरस्फेटनिभानि तन्व्या नखानि पादाङ्गुलिसंगतानि ॥
जगज्जिगीषोर्मकरध्वजस्य प्रपेदिरे खेटकभल्लकत्वम् ॥ १५ ॥

निशाकरेत्यादि । तन्व्याः कृशाङ्ग्याः । निशाकरस्फेटनिभानि निशां करोति इति निशाकरो विधुस्तस्य स्फेटाः खण्डानि तेषां निभानि समानानि तथोक्तानि । "निभो

व्याजसदृक्षयोः" इति विश्वः । उपमा । पादाङ्गुलिसंगतानि पादयोरंगुलयस्ताः संगच्छन्तेस्म तथोक्तानि । नखानि नखराणि "नखोऽस्त्रिनखरोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः । जगज्जिगीषोः जेतुमिच्छु र्जिगीषुः "सन्भिक्षय" इत्यादिना उ प्रत्ययः । जगतो जिगीषुस्तस्य । मकरध्वजस्य मकरो ध्वजो यस्य स मकरध्वजस्तस्य मन्मथस्य । खेटकभल्लकत्वम् खेटकः फलकः स च भल्लकः कुन्तस्सच खेटकभल्लकौ तयोर्भावः खेटकभल्लकत्वम् । प्रपेदिरे प्रजग्मुः । पद् गतौ लिट् उत्प्रेक्षा-लंकारः ॥ १५ ॥

भा० अ० चन्द्रमाके खण्ड के समान रानी के पैर की अंगुलियों के नख, संसार को जीतने की इच्छा करने वाले कामदेव के अस्त्रभूत ढाल और भाले बन गये । १५ ।

स्वर्गापगारक्तसरोरुहाणां सजातमेतद्द्वयमित्यवैमि ।
सुरांगनानां कथमन्यथास्ताम् चिराय सेव्यौ चरणौ मृगाक्ष्याः ॥१६॥

स्वर्गेत्यादि । मृगाक्ष्याः मृगस्येवाक्षिणी नयने यस्यास्तस्याः एणाक्ष्याः पद्मावत्याः । एतद्द्वयम् एतयोश्चरणयोर्द्वयम् तथोक्तम् । स्वर्गापगारक्तसरोरुहाणाम् स्वर्गस्यापगा नदी तथोक्ता सरसि रोहन्तीति सरोरुहाणि रक्तानि च तानि सरोरुहाणि च रक्तसरोरुहाणि स्वर्गापगायाः रक्तसरोरुहाणि तथोक्तानि तेषाम् । सजातम् सह जायतेस्म इति सजातम् सहोदरम् इति । अवैमि जानामि । इण् गतौ लट् । अन्यथा एवं नोचेत् । सुरांगनानाम् सुराणामंगनाः सुरांगनास्तासाम् देवमानिनीनाम् । चरणौ पादौ । "पदंघ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः । चिराय अनवतरम् । "चिराय चिररात्राय दीर्घकाले प्रयुज्यते" इति हलायुधः । सेव्यौ सेवितुं आराधितुं योग्यौ । कथं केन प्रकारेण । आस्ताम् अभवताम् । अस् भुवि लङ् उत्प्रेक्षालंकारः ॥ १६ ॥

भा० अ०—पद्मावती रानी के दोनों पैर स्वर्गीय नदी के रक्तकमलों के सहोदर से ज्ञात होते थे । यदि यह बात नहीं होती तो वे देवाङ्गनाओं से क्यों पूजित होते ? ।१६ ।

सपर्वरम्भासदृशोस्तदूर्वोः सजंघयोरंगजकाहला का ।
कियांश्च पञ्चायुधपृष्ठतूणः कियत्तरौ मन्मथदन्तिदन्तौ ॥१७॥

सपर्वेत्यादि । सपर्वरम्भासदृशोः पर्वणा ग्रन्थिना सह वर्तत इति सपर्वा सा चासौ रम्भा च सपर्वरम्भा तया सदृशौ तथोक्तौ तयोः । "सदृक्षः सदृशः सदृक्" इत्यमरः । सग्रन्थि-कदलीस्तम्भसमानयोरित्यर्थः । उपमा । सजंघयोः जंघाभ्यां सह वर्तते इति सजंघौ तयोः । तदूर्वोः तस्याः पद्मावत्या ऊरू तदूरू तयोस्तदूर्वोः पुरत इति शेषः । अंगजकाहला अंगे जायत इत्यंगजो मन्मथस्तस्य काहला । का काकुः तदूर्वोः पुरः कामस्य काहलाकि-

यतो भवतीत्यर्थः। पञ्चायुधपृष्ठतूणः पञ्चायुधानि यस्य स पञ्चायुधो मन्मथस्तस्य पृष्ठे शरीरचरमभागस्तस्मिन् विद्यमानस्तूण इषुधिः पञ्चायुधपृष्ठतूणः। कियान् किं मानमस्येति कियान् "घत्विदं किम" इति मानार्थे घतुप्रत्ययः "द् घ ड ख फ" इत्यादिना घस्य इयादेशः "किमिदिमः कीश्" इति किं शब्दस्य क्यादेशः उगित्वान्नुम्। मन्मथदन्तिदन्तौ मन्मथः कामस्तस्य दन्ती गजस्तस्य दन्तौ रदौ रूपकः। कियत्तरौ प्रकृष्टौ कियन्तौ कियत्तरौ। भवतः। आक्षेपालंकारः॥ १७॥

भा० अ०—गाँठ के साथ २ कदली के खंभे के समान पद्मावती रानी की दोनों जाँघों के आगे कामदेव का क्या वश था? कामदेव के तरकस तथा इनके हाथी के दोनों दाँत भी रानी की जाँघ के आगे कुछ नहीं थे। १७।

परिस्फुरत्काञ्चनकाञ्चिबन्धं निबद्धनीवीविलसद्दुकूलम्।
कलत्रभारं कलिकायुधोऽस्याश्चकार वास्त्रं किल चक्रयानम् ॥१८॥

परिस्फुरदित्यादि। कलिकायुधः कलिकाः कोरका एवायुधानि यस्य स तथोक्तः पुष्पायुध इत्यर्थः। अस्याः एतस्याः पद्मावत्याः। परिस्फुरत्कांचनकाञ्चिबन्धम् काञ्च्याः मेखलायाः बन्धस्तथोक्तः क्वचित् महतां प्रयोगे इकारान्तेकारान्तयोरभेदो लक्ष्यते। काञ्चनेन निर्मितः काञ्चिबन्धः काञ्चनकाञ्चिबन्धः परिस्फुरतीति परिस्फुरन् परिस्फुरन् काञ्चनकाञ्चिबन्धो यस्य स तथोक्तस्तत्। निबद्धनीवीविलसद्दुकूलम् निबद्धा चासौ नीवी च निबद्धनीवी तया ग्रन्थिरचनया विलसद्विराजद्दुकूलं सूक्ष्मश्वेतवस्त्रं यस्य स तम्। "दुकूलन्तु क्षौमे सूक्ष्मांशुकेऽपि तत्" इति भास्करः। कलत्रभारम् कलत्रस्य नितम्बस्य भारस्तम्। "कलत्रं श्रोणिभार्य्ययोः" इत्यमरः। वास्त्रम् वस्त्रेण छन्नं वास्त्रम् "छन्ने रथ" "इत्यण् प्रत्ययः। "रथे काम्बलवस्त्राद्याः कम्बलादिभिरावृते" इत्यमरः। चक्रयानम् चक्रे रूढं यानं चक्रयानम् रथमित्यर्थः। चकार विदधौ। डुकृञ् करणे लिट्। किल सम्भाव्यम्। उत्प्रेक्षालंकारः॥१८॥

भा० अ०—सुवर्णमय समुज्ज्वल कटिभूषण और नीवी-बन्धन-युक्त साड़ी से सुशोभित महारानी पद्मावती के नितम्ब-भार को कामदेव ने वस्त्र से ढँके हुए रथ का चक्का बना डाला। १८।

वलित्रयत्रासतरङ्गितेऽस्या विलग्नसौन्दर्य्यमहाम्बुराशौ॥
उपर्य्युदस्तस्तनशैलतक्यों रराज सेतुर्नवरोमराजिः ॥ १६ ॥

वलित्रयेत्यादि। अस्याः पद्मावत्याः। वलित्रयत्रासतरङ्गिते वलीनां त्रयं वलित्रयं तस्य त्रासाश्चलनानि त एव तरङ्गास्तथोक्ता वलित्रयत्रासतरङ्गाः संजाता अस्मिन्निति वलित्रय-

त्रासतरङ्गितस्तस्मिन्। विलग्नसौन्दर्य्यमहाम्बुराशौ विलगति सन्नतति अतिकृशत्वादिति विलग्नं मध्यम् "मध्यमञ्चावलग्नं च मध्योऽस्त्री" इत्यमरः। तस्य सौन्दर्य्यम् सौरूप्यम् तथोक्तम् अम्बूनां राशिरम्बुराशिः महांश्चासावम्बुराशिश्च तथोक्तो विलग्नसौन्दर्य्यमेव महाम्बुराशिस्तस्मिन्। उपरि अग्रे। उदस्तस्तनशैलतर्क्यः उदस्येतेस्म उदस्तौ उन्नतौ च तौ स्तनौ चोदस्तस्तनौ तावेव शैलौ ताभ्यां तर्क्कितुं योग्यस्तर्क्य ऊह्यस्तथोक्तः। नवरोमराजिः नवानि च तानि रोमाणि च नवरोमाणि तेषां राजिः श्रेणी नवरोमराजिः। सेतुः आलिः सेतुबन्ध इत्यर्थः। रराज बभौ राजृदीप्तौ लिट्। सेतुः सीतापतिना महेन्द्रशैलावधिबद्धः सत्विदानीमम्बुधिजलमग्नत्वादलक्ष्योऽप्यग्रभागे शैलं दृष्ट्वा यथा वितर्क्यते तथा विलग्नसौन्दर्य्यमहाम्बुराशौ निमग्नत्वादलक्ष्योऽप्यस्या नवरोमराजिरग्रभागे स्तनशैलमवलोक्य वितर्क्यत इति भावः। रूपकालंकारः ॥ १९ ॥

भा० अ०--त्रिवलीरूपी तरंगवाले कटि-सौन्दर्य समुद्र में ऊपर की ओर उठे हुए कुच रूपी पर्वतों से अनुमान की जाती हुई अंकुरित रोमावली सेतु के समान शोभती थी।१९।

भुजायता चम्पकमालिका स्यात् कुचोन्नतः पंकजकुड्मलश्च ॥
मृदुत्वकाठिन्यगुणौ मृगाक्ष्याः कथं दधीतोभयमप्युभय्याः ॥ २० ॥

भुजायतेत्यादि। मृगाक्ष्याः मृगस्येवाक्षिणी यस्याः सा मृगाक्षी तस्या मृगाक्ष्याः एणाक्ष्याः। भुजायता भुजाविवायतौ यस्या सा भुजायता बाहुदीर्घा। चम्पकमालिका चम्पकस्य हेमपुष्पस्य मालिका तथोक्ता। कुचोन्नतः कुचाविवोन्नतस्तुङ्गस्तथोक्तः। पंकजकुड्मलश्च पंके जायत इति पंकजं तस्य कुड्मलो मुकुलस्तथोक्तः। स्यात् भवेत्। तथापि उभयमपि चम्पकमालिकापंकजकुड्मलद्वयमपि। उभय्याः उभाववयवावस्या इत्युभयी "टिड्ढाणि तिङः" तस्याः भुजकुचद्वयस्य। मृदुत्वकाठिन्यगुणौ मृदोर्भावो मृदुत्वं कठिनस्य भावः काठिन्यं मृदुत्वञ्च काठिन्यञ्च मृदुत्वकाठिन्ये ते एव गुणौ पुनस्तौ। रूपकः। कथं केन प्रकारेण। दधीत स्वीकुर्य्यात्। डुधाञ् धारणे च लिङ् तङ्। प्रदीपालंकारः ॥ २० ॥

भा० अ०—मृगाक्षी पद्मावती की लम्बी बाहें यदि चम्पक की माला कही जायँ और उन्नत कुच कमल-कुड्मल कहे जायँ तो ये दोनों भुज और कुच की मृदुता तथा कठिनता कैसे धारण कर सकते हैं अर्थात् ये दोनों उपमायें अपनी सार्थकता सिद्ध नहीं कर सकतीं ॥ २० ॥

शुभेन रेखात्रितयेन तन्व्याः कण्ठः स्फुटं कम्बुसमान एव ॥
सुधासदार्द्रेण पुनः स्वरेण विपंचिकाप्यञ्चत एव तस्य ॥ २१ ॥

शुभेत्यादि। तन्व्याः कृशांग्याः। कण्ठः ग्रीवा। शुभेन प्रशस्तरूपेण। रेखात्रितयेन रेखाणां त्रितयं रेखात्रितयन्तेन। स्फुटम् व्यक्तम्। कम्बुसमान एव कम्बुः शंखस्तस्य समान एव शंखसदृश इत्यर्थः। "कम्बुर्नावलये शंखः" इत्यमरः।पुनः किन्तु। सुधासदार्द्रेण सदा अनवरतमार्द्रः सदार्द्रः सुधया पीयूषेण सदार्द्रस्तेन। स्वरेण नादेन। "स्वरोऽकारादि-मात्रासु मध्यमादिषु च ध्वनौ। उदात्तादिष्वपि प्रोक्तः स्वरो नामासमीरणे"इति विश्वः। निपञ्चिकापि वीणापि। तस्य कण्ठस्य। अञ्चत एव अञ्चनेनानतो दूरत एवेत्यर्थः। "मञ्चे लसदञ्चके" इति प्रभञ्जनचरित्रकारप्रयोगात् किम्पुनः कम्बुरिति भावः॥ २१॥

भा० अ०—कृशांगी पद्मावती रानी के कण्ठ में जो शुभ-सूचक तीन रेखाएँ थीं इन से वह शंख के समान कण्ठ अमृतमय सुमधुर स्वर से वीणा को भी पददलित किये हुआ था॥ २१॥

यदब्जसौन्दर्य्यसखं मुखञ्च यदम्बके मीनविडम्बके च।
नभःश्रियः साम्यमुपागता या सरःश्रियः साम्यमतो गता सा ॥२२॥

यदित्यादि। यत् यस्मात्कारणात्। मुखम् वक्त्रम्। अब्जसौन्दर्य्यसखम् अब्जस्य चन्द्रस्य कमलस्य च सौन्दर्य्यन्तस्य सखा अब्जसौन्दर्य्यसखम् "राजन्सखेः"इत्यट।"अब्जो धन्वन्तरौ चन्द्रे निचुले शंखपद्मयोरब्जं स्यात्"इति विश्वः। यच्च यस्माद्धेतोः। अम्बके च नयने। "दृग्दृष्टिर्नेत्रलोचनचक्षुर्नयनाम्बकेक्षणाक्षिणि" इति हलायुधः। मीनविडम्बके मीनस्य मत्स्यस्य मीनराशेश्च विडम्बके निरस्कारके "मीनो राश्यन्तरे मत्स्ये" इति विश्वः। अतः अस्मात् कारणात्। या देवी। नभःश्रियः नभसो व्योम्नः श्रीः शोभा तथोक्ता तस्याःसाम्यम् समस्य भावः साम्यम्। उपागता उपगच्छतिस्मेत्युपागता प्राप्ता। सा पद्मावती। सरःश्रियः सरसः कासारस्य श्रीः शोभा तस्याः साम्यम् तुलाम् गता प्राप्ता। मुखनेत्रयोः चन्द्रमीनराश्योः तुल्यया नभसः श्रीसाम्यम् पद्ममत्स्ययोस्साम्याच्च सरःश्रीसाम्यमिति नभःश्रीः सरःश्रीः राज्ञी चेति तिस्रोऽपि समाना इति भावः। उपमालंकारः॥ २२॥

भा० अ०—पद्मावती का मुख, चन्द्रमा की सुन्दरता का सहचर था तथा आँखे मछलियों को तिरस्कृत किये हुई थीं अतएव यह रानी आकाश की सुन्दरता की समानता करती हुई सरोवर की शोभा की तुलना किये हुई थी॥ २२॥

त्रिलोकनारीतिलकस्य तस्याः क्व केशपाशस्य पुरो भवामः॥
इतीदमद्याप्यभिनेतुमेते सधूतयश्चामरवालहस्ताः॥ २३॥

त्रिलोकनारीत्यादि। त्रिलोकनारीतिलकस्य त्रयश्चते लोकाश्चत्रिलोकास्तेषु विद्यमाना

नार्यस्त्रिलोकनार्य्यस्तासाम् तिलकं तथोक्तन्तस्य तिलकशब्दस्याविष्टलिङ्गत्त्व न्नपुंसकत्वम् उत्कृष्टाया इत्यर्थः। तस्याः पद्मावत्याः । केशपाशस्य केशानां पाशः केशपाशस्तस्य धम्मिल्लस्य । पुराऽग्रे । क्व कुत्र "क्व कुत्रात्र ह" इति निपातनात्साधुः । भवामः स्मः । सदृशा न भवाम इत्यर्थः । इतीदम् एतद्वचनम् । अभिनेतुम् अभिनयतयाभिनेतुं निजव्यापारेण दर्शयितुम् । एते इमे । चामरवालहस्ताः चमर्या इमे चामरास्ते च ते बालहस्ताश्च तथोक्ताश्चामरवाल-धियः "वालहस्तश्चवालधिः" इत्यमरः । अद्यापि इदानीमपि । सधूतयः धवनं धूतिः धूत्या सह वर्त्तन्ते इति सधूतयः सकम्पना इत्यर्थः । भवन्तीति साध्याहार । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ २३ ॥

भा० अ०--त्रिभुवन की ललनाओं में शिरोभूषण पद्मावती रानी के बालों की तुलना हम नहीं कर सकते—इस बात को जताने के लिये ही मानों चामर आज भी कम्पित होते रहते हैं ॥ २३ ॥

मनोजसम्मोहनमंत्रचिन्ताफलं नु भूपालतपःफलं नु ॥
जनेक्षणादृष्टफलं नु किञ्चिन्नवेद्मि सृष्टेः कलशाकृतिस्सा ॥२४॥

मनोजेत्यादि । सृष्टेः निर्मितेः । कलशाकृतिः कलशस्याकृतिराकारो यस्यास्सा कलशाकृतिः । सा पद्मावती देवी । मनोजसम्मोहनमन्त्रचिन्ता फलम् मनसि जायत इति मनोज-स्तस्य सम्मोहनन्तस्य मन्त्रो मनोजसम्मोहनमन्त्रस्तस्यचिन्ता तथोक्ता तस्याः फलम् मनोजसम्मोहनमन्त्रचिन्ताफलम् मन्मथवशीकरणमन्त्रध्यानसम्पादितफलमित्यर्थः । नु किम्वा । भूपालतपःफलम् भुवं पालयतीति भूपालस्तस्य तपो भूपालतपस्तस्य फलंलब्धकम् सुमित्र महाराजस्य गतभवविहिततपश्चरणफलमित्यर्थः । नु किम्वा । जनेक्षणादृष्टफलं जनानां मीक्षणानि जनेक्षणानि तेषामदृष्टन्तस्य फलं तथोक्तम् प्रेक्षकलोकनेत्राणां पुण्यफलमित्यर्थः । नु किम्वेति । किञ्चित् किमपि । न वेद्मि न जाने विद् ज्ञाने लट् । संशयालंकारः ॥ २४ ॥

भा०अ०—सृष्टि के कलश के समान पद्मावती रानी कामदेव के मोहन-मंत्र के ध्यान का फल स्वरूप है अथवा सुमित्र महाराज की पूर्व तपस्या का फल या जनता के दर्शन सौभाग्य का फल है यह बात मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता ॥ २४ ॥

निर्मूलिताशेषविपक्षकक्षो निराकुलीभूतसमस्तभूतः ।
युवा स पुष्पायुधबाणकोणव्यधात्परं व्याकुलमानसोऽभूत ॥२५॥

निर्मूलितेत्यादि । निर्मूल्यते स्म निर्मूलितमशेषाश्च ते विपक्षाश्चाशेषविपक्षास्त एव कक्षमरण्यं तथोक्तं निर्मूलितमशेषविपक्षकक्षं येन स तथोक्तः । "विपिनं गहनं कक्षमरण्यम्" इति धनञ्जयः । समूलोद्धृतसमस्तशत्रुविपिनः । निराकुलीभूतसमस्तभूतः प्रागनिरा

कुला इदानीं निराकुला भवन्तिस्मेति निराकुलीभूताः समस्ताश्च ते भूताश्च समस्तभूता निराकुलीभूताः समस्तभूता यस्मात्स तथोक्तः । बाधारहितसकलप्रजानिकरः । "युक्तेक्ष्मादावृते भूतं प्राण्यतीते समे त्रिषु" इत्यमरः । युवा तरुणः । "वयस्थस्तरुणो युवा" इत्यमरः । सः सुमित्रमहाराजः । पुष्पायुधबाणकोणव्यधात् पुष्पाण्येव आयुधानि यस्य स पुष्पायुधः मनोभूस्तस्य बाणः शरस्तस्य कोणोऽग्रं तस्य व्यधनं व्याधो घातस्तस्मात् मन्मथबाणाग्रबाधनादित्यर्थः । "वादनदण्डाश्रलगुडादिषु कोण" इति नानार्थरत्नकोषे । परम् केवलम् व्याकुलमानसः व्याकुलं मानसं यस्य स तथोक्तः व्यग्रधीः । अभूत् अभवत् भूसत्तायां लुङ् । रूपकालंकारः ॥२५॥

भा०अ०--सभी शत्रु रूप वनको निर्मूल कर सर्व प्राणिवर्ग को निराकुल करनेवाले नवयुवक सुमित्र महाराज कामदेव के बाणाग्र से बेधे जाने के कारण व्याकुल-चित्त हो गये । २५ ।

कुलागते वर्षिणि दृष्टशौचे समंत्रिवर्गेऽर्पितराज्यभारः ।
तया समं मन्मथशासनानि बभार भावातिमनोहराणि ॥२६॥

कुलागत इत्यादि । कुलागते कुलादागतस्तस्मिन् वंशपरम्परायाते । वर्षिणि वर्षाणि सन्त्यस्येति वर्षी वृद्धे भूतार्थे इन् तस्मिन् वर्षिणि । ज्यायसि वृद्ध इत्यर्थः । दृष्टशौचे दृष्टं शौचं यस्मिन्तस्मिन्नुपधाशुद्ध इत्यर्थः । "धर्मार्थकामभयव्याजेन परचित्तपरीक्षणमुपधा" इति राजनीतिवचनात् । मंत्रिवर्गे मंत्रिणां सचिवानां वर्गस्समूहस्तस्मिन् । अर्पितराज्यभारः राज्यस्य भारो राज्यभारोऽर्पितः संस्थापितो राज्यभारो येन स तथोक्तः । सः सुमित्रभूपः । तया पट्टमहिष्या पद्मावत्या । समं साकम् । "साकं सत्रा समं सह" इत्यमरः । भावातिमनोहराणि वक्ष्यमाणा भावा आलम्बोनोद्दीपनकारणानि नागादयो भावास्तैरालम्बनादिभिरतिमनोहराणि अत्यन्तं मनोहराणि तथोक्तानि । मन्मथशासनानि मन्मथस्य शासनानि तथोक्तानि कामराज्यानीत्यर्थः । बभार भरतिस्म भृञ् भरणे लिट् । परिवृत्यलंकारः ॥२६॥

भा० अ०—तथा वंशपरंपरा से चले आते हुए और सूक्ष्मदर्शी तथा बूढ़े मंत्रियों पर राज्यभार सौंप कर विविध भावों से पद्मावती के साथ मनोहर कामदेव के शासन को सहर्ष सम्पन्न करने लगे । २६ ।

अगायदेषा स ततान तानमनृत्यदेषा स तताड तालम् ।
अवादयद्वल्लकिकामथैषा स वल्लकीवानुजगौ द्वितीया ॥२७॥

अगायदित्यादि । एषा इयम्पद्मावती । अगायत् गानमकरोत् । कै ग र शब्दे लङ् । सः सुमित्रनृपः । तानम् श्रुतिम् । ततान विस्तारयतिस्म तनु विस्तारे लिट् । एषा पद्मावती

अनृत्यत् अनटत् नृ ती गात्र-विक्षेपे लङ् । सः सुमित्रः । तालम् कांस्यम् । तताड ताडयतिस्म तड ताडने लिट् । अथ अनन्तरे । एषा पद्मावती । वल्लकिकाम् वीणाम् । अवादयत् अनादयत् वद व्यक्तायां वाचि लङ् । सः सुमित्रः । द्वितीया द्वयोः पूर्णा द्वितीया । वल्लकीव वीणेव । अनुजगौ अनुगायतिस्म गै शब्दे लिट् ॥२७॥

भा० अ०—महारानी पद्मावती यदि गाती थी तो सुमित्र महाराज तान छेड़ते थे, वह नृत्य करती थी तो वे बाजे बजाते थे और वह कहीं वीणा बजाती थी तो सुमित्र महाराज दूसरी वीणा के समान अपने सुमधुर कण्ठ से गाते थे ॥ २७ ॥

सह प्रयातौ दयितौ वनान्तं सह प्रियौ केलिसरः प्रविष्टौ ।
सहाधिरूढौ रमणौ च दोलाम् सह स्थितौ सौधशिरस्सु कान्तौ ॥२८॥

सहेत्यादि । दयितौ दयिता च दयितश्चेति दयितौ स्त्रीपुरुषौ "समानमेकः" इत्येकशेषः । वनान्तम् वनमध्यं । सह साकम् । "साकं सत्रा समं सह" इत्यमरः । प्रयातौ । प्रियौ प्रिया च प्रियश्च प्रियौ अत्रमप्येकशेषः । केलिसरः केल्याः सरः केलिसरः क्रीडासरोवरम् । सह समम् । प्रविष्टौ प्रविशतस्म । रमणौ रमणी च रमणश्च रमणौ दम्पती । अत्राप्येकशेषः । दोलाम् प्रान्दोलिकाम् । "आन्दोलनं स्यादान्दोला दोलास्याद्दोलिकापि च" इति वैजयन्ती । सह सत्रा । अधिरूढौ अधिरोहतःस्म तथोक्तौ । कान्तौ कान्ता च कान्तश्च कान्तौ एकशेषः । सौधशिरस्सु सौधानां शिरांसि तथोक्तानि तेषु हर्म्याग्रभागेषु । सह साकम् । स्थितौ तिष्ठतः स्म ॥२८॥

भा० अ०—कमनीय कलेवर वाले ये युगल दम्पती साथ ही साथ वन में जाकर सरोवरों में जल क्रीड़ा करते थे । हिंडोले पर झूलते थे और राजप्रासाद की छत पर बैठते थे ॥२८॥

उरोजयोरेणमदेन तस्याः कुतूहलीयं मकरं लिलेख ।
विभावयामास स भावयोनेः स्थूलाग्रजाग्रन्मकरध्वजस्य ॥२९॥

उरोजयोरित्यादि । तस्याः पद्मावत्याः । उरोजयोः उरसि जायेते इत्युरोजौ तयोः स्तनयोः । एणमदेन एणस्य मद एणमदस्तेन कस्तूर्या । कुतूहलीयम् कुतूहलाय भवं कुतूहलीयम् । "कौतूहलं कौतुकञ्च कुतुकञ्च कुतूहलं" इत्यमरः । मकरम् जलचरविशेषम् । लिलेख लिखतिस्म लिख अक्षरविन्यासे लिट् । सः मकरः । भावयोनेः भाव एव योनिरुत्पत्तिस्थानं यस्य स तस्य मारस्य । स्थूलाग्रजाग्रन्मकरध्वजस्य स्थूलस्य पटकुट्या अग्रं स्थूलाग्रं "दूष्यं स्थूलं पट कुटी गुणलयनी केणिका तुल्याः" इति वैजयन्ती । अथवा स्थूलस्य दूष्यकुटस्याग्रं स्थूलाग्रम्

"स्थूलं स्यात्पीवरे कूटे निष्प्रज्ञे पुनरन्यवत्" इति विश्वः। तस्मिन् जागर्तीति जाग्रत् प्रस्फुरन् मकरो यस्य स स्थूलाग्रजाग्रन्मकरस्स चासौ ध्वजश्च तथोक्तस्तस्य। कर्म्मणि षष्ठी। विभावयामास स्मारयतिस्म। भूकृपोरवकल्पने लिट्। पुनश्च कामोद्दीप्तिमकरोदिति भावः। अतिशयालंकारः॥२६॥

भा० अ०—पद्मावती के दोनों स्तनों पर कस्तूरिकामय चन्दन से चित्रित कुतूहलकारक मकरचिह्न कामदेव के तम्बू के मकरध्वज के समान दिखाई पड़ता था॥२६॥

सखीसभायां चतुरङ्गकेलौ चुचुम्ब संरक्षितुमादृतस्य॥
हयस्य याच्ञाकपटेन कामी मुहुर्मुहुः स्मेरमुखीं कपोले॥३०॥

सखीत्यादि। कामी कामोऽस्यास्तीति कामी सुमित्रः। सखीसभायाम् सखीनां सभा सखीसभा तस्याम् वयस्यानां गोष्ठ्याम्। चतुरंगकेलौ चत्वार्य्यङ्गानि यस्य तत् चतुरंगम् तस्य केलिस्तस्याम् चतुरंगक्रीडायाम्। आदृतस्य आद्रियतेस्मेत्यादृतस्तस्य प्रीतस्य वांछितस्य वा। "आदृतौ सादरार्चितौ" इत्यमरः। हयस्य अश्वस्य। संरक्षितुम् संरक्षणाय संरक्षितुम्। कृतकामुकस्येति कर्म्मणि षष्ठी। याच्ञाकपटेन याच्ञायाः प्रार्थनायाः कपटेन व्याजेन। स्मेरमुखीम् स्मेरेण स्मितेन युक्तं मुखं यस्यास्सा ताम् दरहासवदनाम्। कपोले गण्डस्थले। मुहुर्मुहुः पुनः पुनः। चुचुम्ब चुम्बतिस्म। चुबि वक्त्रसंयोगे लिट्॥ ३०॥

भा० अ०—सखियों की मण्डली में पद्मावती के साथ चौसर खेलते हुए सुमित्र महाराज अपने प्यारे घोड़े (घोड़े के नाम से विख्यात एक चौसर की गोटी) की रक्षा के लिये प्रार्थना के बहाने मन्द २ मुसकुराती हुई पद्मावती का बारबार मुखचुम्बन किया करते थे॥ ३०॥

मुक्तागुणच्छायमिषेण तन्व्याः रसेनलावण्यमयेन पूर्णे।
नाभिह्रदे नाथनिवेशितेन विलोचनेनानिमिषेण जज्ञे॥३१॥

मुक्तागुणेत्यादि। तन्व्याः कृशाङ्ग्याः। लावण्यमयेन लावण्यस्य विकारो लावण्यमयस्तेन देहकान्तिमयेन। "लावण्यम् देहकान्तिता च" इत्यभिधानात्। रसेन अमृतद्रवेण। "रसो रागे विषे वीर्य्ये तिक्तादौ पारदे द्रवे। रेतस्यास्वादने हेम्नि निर्य्यासेऽमृतशब्दयोः" इति वैजयन्ती। मुक्तागुणच्छायमिषेण मुक्तानां गुणा दामानि "मौर्व्यप्रधान" इत्यादि नानार्थकोषे। तेषां छाया छविर्मुक्तागुणछायं अनञ् तत्पुरुषे "सेनाच्छायाशालासुरानिशा" इति स्त्रीनपुंसकविशेषपाठात् षष्ठीतत्पुरुषे छायाशब्दस्य वा नपुंसकत्वम् मुक्तागुणच्छायस्य मिषं व्याजस्तेन "छायात्वनातपे कान्तौ मिषं गजनिमीलनम्" इत्यभिधानात्। पूर्णे

सम्पूर्णे । नाभिह्रदे नाभिरेव ह्रदस्तस्मिन् "तत्रागाधजलो ह्रदः" इत्यमरः । नाथनिवेशितेन पत्या निवेशितं तथोक्तन्तेन । विलोचनेन नयनेन । अनिमिषेण मत्स्येन । रूपकः । जज्ञे जनैङ् प्रादुर्भावे कर्म्मणि लिट् जातमित्यर्थः ॥३१॥

भा० अ०—मौक्तिक कांची (करधनी) से प्रकाशित और सुन्दरता तथा अमृत रससे परिपूर्ण पद्मावती के नाभि-सरोवर पर सुमित्र महाराज की एकटक दृष्टि लगी हुई थी ॥३१॥

अमर्षणाया: श्रवणावतंसमपाङ्गविद्युद्विनिवर्त्तनेन ॥
स्मरेण कोशादवकृष्यमाणं रथाङ्गमुर्वीपतिराशशंके ॥३२॥

अमर्षणाया इत्यादि । उर्वीपतिः उर्व्याः भूमेः पतिः स्वामी उर्वीपतिः सुमित्रविभुः । अमर्षणायाः प्रणयकोपयुतायाः । अपाङ्गविद्युद्विनिवर्तनेन अपाङ्गः कटाक्षः स एव विद्युत् अपांगविद्युत् तस्या विनिवर्त्तनं पुनर्व्यावर्त्तनं तेन । श्रवणावतंसम् श्रवणयोः कर्णयोरवतंसमाभूषणम् "पुंस्युत्तंसावतंसौ द्वौ कर्णपूरे च शेखरे" इत्यमरः । स्मरेण कामेन । कोशात् आयुधपिधानात् । "कोषोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधानेर्थौघद्दिव्ययोः" इत्यमरः । अवकृष्यमाणम् आकृष्यमाणम् । रथाङ्गम् चक्रायुधम् "चक्रं रथाङ्गम्" इत्यमरः । आशशंके आशंकतेस्म शकि शंकायाम् लिट् ॥ उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ३२ ॥

भा० अ०—सुमित्र महाराज प्रणयकलहवती पद्मावती के विजली के समान त्यौरी बदलने पर उसके कर्णभूषण को कामदेव के द्वारा म्यान से निकला हुआ चक्रायुध समझते थे ॥ ३२ ॥

रहस्सु वस्त्राहरणे प्रवृत्ताः सहासगर्जाः क्षितिपालवध्वाः ॥
सकोपकन्दर्पधनुष्प्रमुक्तशरौघहूंकाररवा इवाभुः ॥ ३३ ॥

रहस्स्वित्यादि । क्षितिपालवध्वाः क्षितिं पालयति रक्षतीति क्षितिपालः सुमित्रनरेन्द्रस्तस्य वधूर्नारी पद्मावती राज्ञी तस्याः । रहस्सु एकान्तेषु । "तथा रहः रहश्चोपांशु चालिङ्गे" इत्यमरः । वस्त्राहरणे वस्त्रस्याहरणन्तथोक्तं तत्र वसनावकर्षणे । प्रवृत्ताः जाताः । सहासगर्जाः हासेन हसनेन सह वर्त्तन्त इति सहासास्ते च ते गर्जा गर्जनानि च तथोक्ताः । सकोपकन्दर्पधनुष्प्रमुक्तशरौघहूंकाररवा इव कोपेन सह वर्त्तत इति सकोपः स चासौ कन्दर्पश्च सकोपकन्दर्पस्तस्य धनुः चापं तस्मात्प्रमुच्यन्तेस्म प्रमुक्तास्ते शराश्चेति सकोपकन्दर्पधनुष्प्रमुक्तशरास्तेषामोघः समूहः परम्परा वा "ओघो वृन्दे पयोवेगे द्रुतनृत्योपदेशयोः ओघः परम्परायां च" इति विश्वः । हूं करोतीति हूंकारोऽनुकरणध्वनिः सकोपकन्दर्पधनुष्प्रमुक्तशरौघस्य हूंकारस्तथोक्तास्ते च ते रवाश्च तथोक्ताः त इव । अभुः

अचकासुः । शोभन्तेस्म भा दीप्तौ लङ् । उत्प्रेक्षोलंकारः ॥ ३३ ॥

भा० अ०—एकान्त में पद्मावती रानी का वस्त्रापहरण करते समय जो हँसी के साथ कुछ शब्द हुए वे शरसमूहों को छोड़ते समय क्रुद्ध कामदेव के हुंकार के समान ज्ञात होते थे । ३३ ।

इति किलाभिमतौ सुरदम्पतीप्रतिमरूपकलागुणशालिनौ ॥
विविधकेलिरसैः कृतसम्मदैः सफलतां युवतामुपनिन्यतुः ॥३४॥

इतीत्यादि । इति एवं प्रकारेण । किल वार्त्तादौ । "किल शब्दस्तु वार्त्तायां सम्भाव्यानुनयार्थयोः" इति विश्वः । अभिमतौ अभिमन्येतेस्मेत्यभिमतौ अभीष्टावित्यर्थः । सुरदम्पतीप्रतिमरूपकलागुणशालिनौ सुराणां दम्पती जायापती सुरदम्पती रूपं सौन्दर्यं च कलाधाः कौशल्यश्च गुणो नायकनायकीभावश्च रूपकलागुणाः सुरदम्पत्याः प्रतिमाः समानाश्च ते रूपकलागुणास्तथोक्तास्तैः शालिनौ समृद्धौ देवमिथुनसमानसौन्दर्य्यसंगीतादिकलाविशिष्टगुणप्रपूर्णावित्यर्थः । कृतसम्मदैः क्रियन्तेस्म कृतास्ते च ते सम्मदाश्च तथोक्तास्तैः विहितप्रमोदैः "प्रमोदा मोदसम्मदा" इत्यमरः । विविधकेलिरसैः विविधाश्च ताः केलयश्च विविधकेलयस्तासां रसास्तैः नानाविधक्रीडास्वादनैः । "रसो रागे विषे वीर्य्ये तिक्तादौ पारदे द्रवे रेतस्यास्वादने हेम्नि निर्य्यासेऽमृतशब्दयोः" इति वैजयन्ती । युवताम् यूनो भावः कृत्यस्वा युवता ताम् तरुणत्वम् । सफलताम् फलेन सह वर्त्तत इति सफलम् तस्य भावः सफलता ताम् सार्थकत्वम् । उपनिन्यतुः प्रापयतः स्म । णीञ् प्रापणे लिट् । इत्यर्हद्दासकृतकाव्यरत्नस्य टीकायां सुखबोधिन्यां भगवज्जननीजनकवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गोऽयं समाप्तः ॥ ३४ ॥

भा० अ०—देवदम्पती के समान कला तथा गुण को धारण करने वाले सुमित्र महाराज और रानी पद्मावती जैसे अभीष्ट आदर्शभूत दम्पती ने अत्यन्त आनन्दप्रद विविध केलि क्रीडाओं से अपना यौवनकाल सार्थक किया । ३४ ।

इति द्वितीय सर्ग समाप्त

अथ तृतीयः सर्गः

एषैकदा तु नवकल्पलतेव भूयो भूयः प्रपन्नऋतुकाऽपि फलेन हीना ॥
आलोक्य केलिकलहंसवधूं सगर्भां दध्यौ धराधिपवधूरिति दीनचेताः ॥१॥

एषेत्यादि। एकदा एकस्मिन् काले एकदा तु विशेषोऽस्ति। नवकल्पलतेव कल्पा चासौ लता च तथोक्ता नवा चासौ कल्पलता च नवकल्पलता सेव। भूयो भूयः पुनः पुनः। प्रपन्नऋतुकापि प्रपन्नाः प्राप्ताः ऋतवः षडृतवो यस्यास्सा तथोक्ता पक्षे प्रपन्ना ऋतुरार्तवं यस्यास्सा तथोक्ता "ऋतुः स्त्रीकुसुमे मासि वसन्तादिषु धारयोः" इति विश्वः। ऋत्यकः" इति ह्रस्वादेशात् अरादेशो न भवति। फलेन सन्तत्या शलाटुना च। हीना रहिता। एषा इयम्। धराधिपवधूः धराया अधिपो धराधिपस्तस्य सुमित्रनृपालस्य वधूर्वल्लभा पद्मावती देवी। सगर्भाम् गर्भेण सह वर्तत इति सगर्भा ताम् गर्भिणीमित्यर्थः। केलिकलहंसवधूम् कलहंसस्य वधूस्तथोक्ता केल्याः कलहंसवधू सा ताम् क्रीडाकादम्बस्त्रियम्। "कलहंसस्तु कादम्बे राजहंसे नृपोत्तमे" इति विश्वः। आलोक्य वीक्ष्य। दीनचेताः दीनं चेतो यस्यास्सा तथोक्ता अधीरचित्ता सती। इति वक्ष्यमाणप्रकारेण। दध्यौ चिन्तयामास। ध्यै चिन्तायां लिट्॥ १॥

भा० अ०—नव कल्पलतासी राज-महिषी पद्मावती बार बार ऋतुमती होती हुई भी फलहीन होने के कारण एक दिन क्रीड़ासक्त कलहंसवधू को गर्भवती देखकर उदासीन-चित्त हो सोचने लगी ॥१॥

आपुष्पितापि विफलेव रसालयष्टिः सेनेव नायकगतापि जयेन शून्या ॥
काले स्थितापि घनराजिरवर्षणेव मिथ्या दधामि हतकुक्षिमदृष्टतोका ॥२॥

आ इत्यादि। रसालयष्टिः इक्षुदण्डः "रसाल इक्षुः" इत्यमरः। पुष्पितापि पुष्पं संजातमस्य इति पुष्पिता संजातकुसुमापि। विफलेव विनष्टं फलं यस्यास्सा विफला सेव। सेना चमूः। नायकगतापि नेतृयुतापि नायकं गच्छतिस्म नायकगतापि। जयेन विजयेन। शून्येव रहितेव। घनराजिः मेघश्रेणिः काले प्रावृट्समये। स्थितापि तिष्ठतिस्म स्थितापि। अवर्षणेव न विद्यते वर्षणं वृष्टिर्यस्यास्सा अवर्षणा सेव वृष्टिहीनेव। अहं पुष्पितापि ऋतुमत्यपि नायकगतापि पतियुतापि काले वयसि स्थितापि अदृष्टतोका अदृष्टं तोकमपत्यं यया सा तथोक्ता अप्राप्तनन्दना "तुक्तोकं चात्मजः प्रजा" इति धनञ्जयः। हतकुक्षिम् हन्यतेस्म हतः स चासौ

कुक्षिश्च तं दग्धोदरमित्यर्थः । मिथ्या व्यर्थम् । दधामि धरामि डुधाञ् धारणे च लट् । आपीडायाम् । "आस्तु स्यात् कोपपीडयोः" इत्यमरः । उपमालंकारः ॥२॥

भा० आ०—पुष्पयुक्त होने पर भी फलहीन इक्षुदण्ड के समान, सेनापति से अधिष्ठित होने पर भी विजयशून्य सेना के तुल्य तथा वर्षा ऋतु में भी बिना वृष्टि की मेघमाला के समान मैंने व्यर्थ ही बिना सन्तान का यह उदर धारण किया है। अर्थात् ऋतुमती पतियुक्ता और युवती होने पर भी निस्सन्तान होकर निरर्थक सी हूं ॥२॥

चिन्ताभरादिति वहन्नयनोदकान्तां कान्तोऽनुषद्य करपल्लवदत्तगण्डाम् ॥
व्यग्रीभवत्परिजनादवगम्य सर्वमाश्वासयत्युचितसूक्तिरसेन यावत् ॥३॥

चिन्तेत्यादि । कान्तः सुमित्रमहाराजः । इति उक्तरीत्या । चिन्ताभरात् चिन्ताया भरस्तथोक्तस्तस्मात् "भरोऽतिशयभारयोः" इति विश्वः । करपल्लवदत्तगण्डाम् कर एव पल्लवः करपल्लवः करपल्लवे दत्तो गण्डो यया सा तथोक्ता ताम् हस्तकिसलयनिविष्टकपोलाम् । वहन्नयनोदकाम् नयनयोरुदकं नयनोदकं वहतीति वहत् निस्यन्दत् नयनोदकं यस्यास्सा वहन्नयनोदका ताम् पद्मावतीम् । अनुषद्य अनुसदनं पूर्वं पश्चात्किञ्चिदिति अनुषद्य "कोऽनञःप्यः" इति क्त्वा प्रत्ययस्य ल्यादेशः समीपमाश्रित्य । व्यग्रीभवत्परिजनात् प्रागव्यग्र इदानीं व्यग्रो भवतीति व्यग्रीभवन् व्यग्रीभवश्चासौ परिजनश्चेति व्यग्रीभवत्परिजनस्तस्मात् । "व्यग्रो व्यासक्त आकुले" इत्यमरः । सर्वम् हंसवधूप्रेक्षणादिसकलवृत्तान्तम् । अवगम्य ज्ञात्वा । यावत् यन्मानमस्य यावत्कालमित्यर्थः । "यावत्तावच्च साकल्ये ऽवधौ मानेऽवधारणे" इत्यमरः । उचितसूक्तिरसेन सुष्ठु उक्तिः सूक्तिरुचिता चासौ सूक्तिश्चोचितसूक्तिस्तस्या रसस्तेन योग्यसुवचोऽमृतेन । "रसो रागे विषे वीर्य्ये तिक्तादौ पारदे द्रवे रेतस्यास्वादने हेम्नि निर्य्यासेऽमृतशब्दयोः" इति वैजयन्ती । आश्वासयति सान्त्वयति श्वस् प्राणने णिजन्ताल्लिट् ॥ ३ ॥

भा०अ०—महाराज सुमित्र व्याकुल परिजनों से सभी वृत्तान्त जानकर चिन्ता की अधिकता से करकमल पर कपोल रक्खे हुई अश्रुपूर्ण नेत्रवाली महारानी पद्मावती के पास जाकर उन्हें अपनी सरल युक्तिपूर्ण मीठी २ बातों से समझाने लगे ॥३॥

तावत्तमम्बरतलादवतीर्य्य देव्यो मित्रं दिनेन मितया रमया समेतम् ॥
मुक्त्वा श्रिया सततसंगतया सनाथं भक्तुं सुमित्रमिव दीधितयोऽधिजग्मुः ॥४॥

तावदित्यादि । तावत् तन्मानमस्य तावत् तदाश्वासनावसरे । देव्यः देवानां भार्य्या देव्यो देवरमण्यः । अम्बरतलात् अम्बरस्य विहायसस्तलन्तथोक्तन्तस्मात् व्योमप्रदेशात् ।

अवतीर्य्य अवतरणं पूर्वं पश्चात्किञ्चिदित्यवतीर्य्य आपत्य। दिनेन दिवसेन त्रिंशद्घटिकाभिरित्यर्थः। मितया मीयतेस्म मिता तया प्रमितया। रमया लक्ष्म्या। समेतम् संयुतम्। मित्रम् सूर्य्यम् सखायम्वा। मुक्त्वा त्यक्त्वा। सततसंगतया अनवरतयुतया। श्रिया सम्पदा। सनाथम् युक्तम्। तं सुमित्रम् सुष्ठु मित्रः सुमित्रस्तम् विशिष्टरविं शोभनसुहृदं सुमित्रमहाराजम्वा "मित्रं सुहृदि मित्रोऽर्के" इति विश्वः। भक्तुम् भजनाय भक्तुम् सेवितुम्। दीधितय इव द्युतय इव। अधिजग्मुः अधिगच्छन्तिस्म। गम्लृगतौ लिट्। सहस्रकिरणस्य किरणा दिनमात्रप्रमिताश्रितत्वात् तं त्यक्त्वा सुमित्रनरेन्द्रं श्रयन्ति वेतिदेव्यः उपजग्मुरितिभावः। उत्प्रेक्षालंकारः ॥४॥

भा० अ०—इतनेही में आकाश से देवांगनायें मानों किरणों के समान केवल दिन भर साथ देने वाले मित्र (सूर्य) को छोड़कर सदा सहचरी लक्ष्मी से युक्त सुमित्र महाराज के निकट आई ॥४॥

भूपोऽथजीवजयनन्दपदास्पदास्यास्ता: प्राञ्जलीरभिनिरीक्ष्य विलक्षचक्षुः।
प्राप्तासनेषु विनिवेश्य मुदेदमूचे प्राप्ताःकिमत्र सुरलोकसुखैकसाराः ॥५॥

भूपइत्यादि। अथ अनन्तरे। विलक्षचक्षुः विलक्षे चक्षुषी यस्य स विलक्षचक्षुः विचित्रोपेतनयनः। "विलक्षो विस्मयान्वितः" इत्यमरः। भूपः भुवम्पाति रक्षतीति भूपः सुमित्रनरेन्द्रः। जीवजयनन्दपदास्पदास्याः जीव जीवतात् जीवप्राणधारणे लोट् जय सर्वोत्कर्षेण वर्त्तस्व जिजि अभिभवे लोट् नन्द समृद्धो भव टु नदु समृद्धौ लोट् "उदित्वात्" नम् जीवेति जयेति नन्देति पदानि जीवजयनन्दपदानि तेषामास्पदं निलयः आस्यं मुखं यासान्तास्तथोक्ताः। जीवेत्याद्याशीर्वादशब्दाधारास्याः। प्राञ्जलीः प्रकृष्टोऽञ्जलिर्यासान्ता कृतकरकुड्मलाः। "तौ युवतावञ्जलिः पुमान्" इत्यमरः। ताः देवकामिनीः। अभिनिरीक्ष्य अवलोक्य। प्राप्तासनेषु प्राप्तानि च तान्यासनानि च प्राप्तासनानि तेषु दत्तोचितासनेषु। विनिवेश्य उपस्थाप्य। सुरलोकसुखैकसाराः सुराणां लोकस्सुरलोकस्तस्य सुखमानन्दस्तेनैका मुख्यास्ताश्च तास्साराश्च तथोक्ताः स्वर्गसौख्यकेवलनिर्य्यासाः यूयम्। "एके मुख्यान्यकेवलाः। सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु" इत्यमरः। अत्र अस्मिन्नत्र इह भुवि। किम् किं कारणम्। प्राप्ताः प्राप्नुवन्तिस्म प्राप्ताः आयाताः। इति एवं एतद्वचः। मुदा हर्षेण। ऊचे ब्रूतेस्म ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लिट्। "अस्तिब्रुवोर्भूवचौ" इति वचादेशः "स्वपादिस्वव्वच् किति" इत्यनेन यञ इक् ॥५॥

भा० अ०—चिरंजीवी हो, जयशाली हो तथा प्रसन्न रहो इत्यादि वचनों को उच्चारण

करती हाथ जोड़े हुई उन देवाँगनाओं को आश्चर्य-भरी दृष्टि से देख कर तथा समुचित आसनों पर बैठा कर महाराज सुमित्र ने उनसे पूछा कि स्वर्गसुख की सारभूत आप यहाँ कैसे आयीं ॥५॥

आकर्ण्य वाचमिति तस्य सुरांगनाभिः श्रीरीरिता कथयदागमहेतुमेवम् ॥
मन्दस्मितद्विगुणमंजुलवाक्प्रसूनैर्वर्त्स्यत्फलं क्षितिपतेरिव सूचयन्ती ॥६॥

आकर्ण्येत्यादि। तस्य सुमित्रराजस्य। इति एवम्। वाचम् वाणीम्। आकर्ण्य श्रुत्वा। सुरांगनाभिः सुराणामंगनास्तथोक्तास्ताभिः सुरस्त्रीमन्तिनीभिः। ईरिता ईर्य्यतेस्म ईरिता प्रेरिता। श्रीः श्रीदेवी। मन्दस्मितद्विगुणमंजुलवाक्प्रसूनैः मन्दश्च तत् स्मितञ्च मन्दस्मितम् द्वौ गुणौ येषान्तानि द्विगुणानि मन्दस्मितेनेषद्धसनेन द्विगुणानि तथोक्तानि वाच एव प्रसूनानि कुसुमानि तथोक्तानि "प्रसूनं पुष्पफलयोः" इत्यमरः। मंजुलानि मनोज्ञानि च तानि वाक्प्रसूनानि च तथोक्तानि "मनोज्ञं मंजु मंजुलम्" इत्यमरः। मन्दस्मितद्विगुणानि च तानि मंजुलवाक्प्रसूनानि च तथोक्तानि मन्दस्मितानि वाक्प्रसूनानि च तानि मिलितत्वात् द्विगुणानीत्यर्थस्तैः। वर्त्स्यत्फलं वर्त्स्यतीति वर्त्स्यत् भविष्यत् तच्च तत्फलं च तथोक्तम्। क्षितिपतेः क्षित्याः पतिः तस्य सुमित्रावनीन्द्रस्य। सूचयन्तीव सूचयतीति सूचयन्ती सेव--लता यथा प्रसूनैर्भविष्यत् फलन्तथेयमपि ज्ञापयन्तीव। आगमहेतुम् आगमनमागमस्तस्य हेतुस्तम् निजागतनिमित्तम्। एवम् वक्ष्यमाणप्रकारेण। अकथयत् अब्रवीत्। कथ वाक्यप्रबन्धे लङ् ॥६॥

भा० अ०—सुमित्र महाराज की यह बात सुनकर तथा और देवांगनाओं से प्रेरित होकर श्रीदेवी ने मन्दहास्य से द्विगुणित मधुर भाषण रूप कुसुम-वर्षण के द्वारा मानों राजा का भावी फल कहती हुई इस प्रकार अपने आने का कारण कहा ॥६॥

भूपार्य्यखण्ड इह भूविदितेऽङ्गदेशे चम्पापुरे नृपवरो हरिवर्म्मनामा ॥
आसीद्यशःकवचितावनिरस्रधारासंप्लावितारिनृपतद्वनितावितानः ॥७॥

भूप इत्यादि। भूप भो सुमित्रनृप। इह अस्मिन्निह। आर्य्यखण्डे आर्य्याणां खण्डं भूभाग आर्य्यखण्डन्तस्मिन् धर्म्मखण्डे "भित्तं सकलखण्डे वा" इत्यमरः। भूविदिते भुवि विदितस्तस्मिन् भुवनप्रसिद्धे "बुद्धं बुधितं मनितं विदितम्" इत्यमरः। अंगदेशे अंगश्चासौ देशश्च तथोक्तस्तस्मिन् अंग इति वा देशस्तस्मिन्। चम्पापुरे चम्पेति पुरन्तस्मिन्। यशःकवचितावनिः यशसा कीर्त्या कवचिता वर्म्मिता तथोक्ता सावनिः क्षितिर्यस्य स तथोक्तः कीर्त्तिव्याप्तभूतलः। अस्रधारासंप्लावितारिनृपतद्वनितावितानः अस्रं रक्तम-

श्रु च "अस्रमश्रुणि शोणिते" इति विश्वः। अस्रश्चास्रश्चेति अस्रे "सुप्यसंख्येये" इत्येकशेषः अस्रयोर्धारा तथोक्ता अरयो रिपवश्च ते नृपाश्च तथोक्तास्तेषां वनितास्तद्वनिता अरिनृपाश्च तद्वनिताश्चेत्यरिनृपतद्वनिताः तासां वितानं समूहः "वितानो यज्ञविस्तारोल्लोचेषु वृत्तभेदावसरयोः" इति विश्वः। अस्रधारया रुधिरधारया बाष्पाम्बुधारया च संप्लावितं सार्द्रीकृतमरिनृपतद्वनितावितानं यस्य स तथोक्तः रक्तार्द्रीकृतशत्रुनिवहः अश्रुसार्द्रीकृततद्वनितानिवहश्चेत्यर्थः। हरिवर्म्मनामा हरिवर्म नाम यस्यासौ हरिवर्मनामा। नृपवरः नृपेषु वरो नृपवरो नृपश्रेष्ठ इत्यर्थः। आसीत् अभवत् अस भुवि लङ्। अतिशयालंकारः ॥७॥

भा० अ०—हे राजन्! इस लोक-प्रसिद्ध आर्यखण्ड के अंगदेश के अन्तर्गत चंपापुर नगर में यश से भूमण्डल को आच्छादित किये हुआ तथा शत्रुभूत राजाओं की स्त्रियों को उनकी अश्रुधारा से सिक्त करनेवाला एक नृपश्रेष्ठ हरिवर्मा नाम का राजा था ॥७॥

ज्ञात्वा जिनाज्जननदुःखमनन्तवीर्य्यादेषोऽवगीतभवभोगशरीररागः॥
मत्वा तृणाय निजराज्यपदं मनीषी तत्पादयोः किल बभार जिनेन्द्रमुद्राम् ॥८॥

ज्ञात्वेत्यादि। मनीषी कोविदः। "धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः" इत्यमरः। एषः अयम् हरिवर्म्मा। अनन्तवीर्य्यात् अनन्तमनवसानं वीर्य्यं यस्य स तस्मात्। जिनात् दुर्जयकर्म्मठकर्म्मारातीन् जयति निर्मूलयतीति जिनस्तस्मात्। जननदुःखम् जननस्य जन्मनो दुःखम् जननदुःखं संसारजनितदुःखम्। ज्ञात्वा विज्ञाय। अवगीतभवभोगशरीररागः भवश्च भोगश्च शरीरञ्चेति भवभोगशरीराणि तेषां तेषु वा रागो विरागस्तथोक्तः अवगीतः स्फुटं गर्हितो भवभोगशरीररागो येन स तथोक्तः "अवगीतः ख्यातगर्हणः" इत्यमरः। निरस्तसंसारभोगशरीरानुराग इत्यर्थः "भावो भवश्च संसारः संसरणं च संसृतिः। तत्त्वज्ञश्चतुरो धीरस्त्वजेजन्माजवंजवम्" इति धनंजयः। निजराज्यपदम् राज्ञो भावः कृत्यम्वा राज्यन्तस्य पदं राज्यपदं निजस्य स्वस्य राज्यपदं तथोक्तम्। तृणाय मत्वा तृणं मत्वा तृणादप्यवमत्येत्यर्थः। "मन्यस्याकाकादिषु" इत्यादि कर्म्मणि चतुर्थी। तत्पादयोः तस्य पादौ तत्पादौ तयोस्तत्पादयोः अनन्तवीर्य्यजिनस्य पादयोः। जिनेन्द्रमुद्राम् जिनानामिन्द्रस्तस्याप्रमत्तादिक्षीणकषायावसानैकदेशजिनानामीशस्यार्हतो मुद्रा तथोक्ता ताम् दिगम्बरमुद्राम्। बभार किल दध्रे किल दधावित्यर्थः। भृञ भरणे लिट्। अत्र विरागस्य भवभोगशरीरभेदात्त्रैविध्यमिष्यते ॥ ८ ॥

भा० अ०—मनस्वी हरिवर्मा राजा ने अनन्तवीर्य मुनि से जन्मजन्य दुखों को जान कर मोहमायादि शारीरिक विषयवासना को दूर कर तथा राज्य को तुच्छ समझ कर उक्त मुनिमहाराज की सेवा में जिनदीक्षा धारण कर ली ॥८॥

सन्त्यक्तसर्वविषयोऽप्यवरोधमुक्तोऽप्येकाक्षरक्षणपरोऽप्यनिशं यतीशः ॥
सम्भक्तसर्वविषयोऽजनि सावरोधः पञ्चाक्षनिग्रहपरः परमेष चित्रम् ॥९॥

सन्त्यक्तेत्यादि। एषः अयम् हरिवर्म्मा। सन्त्यक्तसर्वविषयोऽपि सर्वे च ते विषयाश्च सर्वविषयाः सन्त्यक्ताः सर्वविषया येन स तथोक्तः सर्वपञ्चेन्द्रियविषयरहितोऽपि। सम्भक्तसर्वविषयः सम्भक्ताः सर्वविषया येन स तथोक्तः संसेवितविश्वजनपदः "विषयः स्यादिन्द्रियार्थे देशे जनपदेऽपि च" इति विश्वः। अवरोधमुक्तोऽपि अवरोधस्समवरोधस्तेन मुक्तस्त्यक्तोऽपि अन्तःपुररहितोऽपि। सावरोधः अवरोधेन सह वर्त्तत इति सावरोधः दुष्कर्मसम्वरसहितः। "अवरोधस्तिरोधाने शुद्धान्ते राजवेश्मनि" इति विश्वः। एकाक्षरक्षणपरोऽपि एकमक्षमिन्द्रियं येषान्ते तथोक्ता एकेन्द्रियप्राणिनस्तेषां रक्षणन्तथोक्तं तस्मिन् परस्तत्पर एकेन्द्रियजीवपालनशक्तोऽपि। पञ्चाक्षनिग्रहपरः पञ्च च तान्यक्षाणि च पञ्चाक्षाणि तेषां स्पर्शनादीनां निग्रहः स्वविषयासंचरणं तस्मिन् परस्तत्परः। "अक्षः कर्षे तुषे चक्रे शकटे व्यवहारयोः। आत्मज्ञे पाशके चाक्षं तुत्थसौवर्चलेन्द्रिये" इति विश्वः। परं केवलम्। "परोऽरिः परमात्मा च केवले परमव्ययम्" इति भास्करः। अजनि अजायत। जनैङ् प्रादुर्भावे कर्त्तरि लुङ्॥ चित्रम् अद्भुतम्। अत्र संत्यक्तसर्वविषयस्य सम्भक्तसर्वविषयत्वम् अवरोधमुक्तस्य सावरोधत्वम् एकाक्षरक्षणपरस्य पञ्चाक्षनिग्रहत्वं च विरुद्धम् तत्परिहारोऽर्थान्तरेण निश्चितमिति भावः। विरोधाभासालंकारः॥ ९॥

भा० अ०—आश्चर्य की बात है कि, उक्त मुनिमहाराज विषयों को त्यागकर भी सभी विषयों (संसार के सभी जनपदों) की सेवा (भलाई) करने वाले, अवरोध (अन्तःपुर) से मुक्त होने पर भी अवरोध (दुष्कर्मों का सम्वर) के साथ रहने वाले तथा एकाक्ष (एकेन्द्रियजीव) के रक्षक होते हुए भी पंचाक्ष (पंचेन्द्रियों) को दमन करनेवाले थे॥९॥

कुर्वंस्तपो जिननिरूपितलक्ष्मलक्ष्मीभूतं प्रभूतविनयो विविधं मुनीन्द्रः ॥
एकादशांगकुशलोऽजनि हेतुयुग्मसामग्र्यसंजनिततीर्थकरत्वपुण्यः ।१०।

कुर्वन्नित्यादि। जिननिरूपितलक्ष्मलक्ष्मीभूतम् जिनेन निरूपितं जिननिरूपितं तच्च तल्लक्ष्म च जिननिरूपितलक्ष्म प्रागलक्ष्मिदानीं लक्ष्मं भवतिस्म लक्ष्मीभूतम् "चिह्नं लक्ष्म च लक्षणं। लक्ष्मं लक्ष्यञ्च" इत्युभयत्राप्यमरः। जिननिरूपितलक्ष्मणो लक्ष्मीभूतं तथोक्तम् जिनप्रणीतचरणानुयोगलक्षणस्य लक्ष्यजातमित्यर्थः। विविधम् नानाप्रकारम्। तपः इच्छानिरोधस्तप इति पारिव्राज्यम्। कुर्वन् करोतीति कुर्वन्। प्रभूतविनयः प्रभूतो बहुलो विनयो यस्य स तथोक्तः प्रचुरज्ञानादिविनयवान्। "प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्" इत्यमरः। मुनीन्द्रः मुनीना-

मिन्द्रो मुनीन्द्रो मुनिश्रेष्ठ इत्यर्थः । एकादशांगकुशलः एकेनाधिका दश एकादश तानि च तान्यंगानि चैकादशांगानि आचारांगादीनि तेषु कुशलः प्राज्ञस्तथोक्त एकादशांगश्रुतवेदीत्यर्थः । हेतुयुग्मसामग्र्यसंजनिततीर्थकरत्वपुण्यः हेत्वोर्बाह्याभ्यन्तरसाधनयोर्युग्मं द्वन्द्वं तस्य समग्रस्य भावः सामग्र्यं साकल्यन्तथोक्तम् तेन संजनितं समुद्भूतं तत्राद्यो हेतुर्दर्शनविशुद्ध्यादिरितरस्तु केवलिनः श्रुतकेवलिनो वा सन्निधिः तीर्थं करोतीति तीर्थकरस्तस्य भावस्तीर्थकरत्वम् तच्च तत्पुण्यश्च तथोक्तम् तीर्थकरत्वस्य नामकर्मेत्यर्थः । "तीर्थं प्रवचने पात्रे लब्धाम्नाये विदाम्वरे । पुण्यारण्ये जलोत्तारे महासत्ये महामुनौ" इति धनंजयः । हेतुयुग्मसामग्र्यसंजनितं तीर्थकरत्वपुण्यं यस्य स तथोक्तः । अजनि अजायत । जनैङ् प्रादुर्भावे कर्त्तरि लुङ् ॥ १० ॥

भा० अ०—जिन-प्रणीत चरणानुयोग की लक्ष्यभूत अनेक प्रकार की तपस्या करते हुए एकदशांग श्रुत के मर्मज्ञ मुनि महाराज ने अन्तरंग और वहिरंग साधनों की अधिकता से तीर्थङ्कर नाम कर्म का बन्ध किया ॥ १० ॥

अन्ते समाधिविधिसात्कृतदेहभारः स्वःप्राणते तदभिधानविमानमध्ये ॥
स प्राणतेन्द्र इति सेन्द्रपतिर्बभूव लोकेषु तप्ततपसां किमसाध्यमस्ति ।११।

अन्त इत्यादि । सः हरिवर्म्मा । अन्ते आयुरवसाने । समाधिविधिसात्कृतदेहभारः समाधेर्विधिस्समाधिविधिः समाधिविधावधीनं क्रियतेस्मेति समाधिविधिसात्कृतः देह एव भारो देहभारः रूपकः समाधिविधिसात्कृतो देहभारो येन स तथोक्तः तत्राधीनार्थे सात्प्रत्ययः समाधिविधानेन स्वायत्तीकृतशरीरभार इत्यर्थः । "समाधिर्नियमे ध्याने नीवाके च समर्थने" इति विश्वः । प्राणते प्राणतनाम्नि । स्वः स्वर्गे । "स्वरव्ययम्" इत्यभिधानात् सर्वत्र सदृशं रूपम् । तदभिधानविमानमध्ये तदेवाभिधानं यस्य तत् तच्च तद्विमानञ्च तदभिधानविमानं तस्य मध्यं तदभिधानविमानमध्यम् तस्मिन् प्राणतनामधेयविमानमध्य इत्यर्थः । प्राणतेन्द्र इति प्राणतस्येन्द्रः प्राणतेन्द्रः स इति । सेन्द्रपतिरिति सेन्द्राणां देवानाम्पतिः सेन्द्रपतिः सुरेश्वर इत्यर्थः "निलिम्पाः स्वर्गिणः सेन्द्राः" इत्यभिधानात् । बभूव जज्ञे भूसत्तायां लिट् । तथाहि लोकेषु जगत्सु । तप्ततपसाम् तप्यतेस्मेति तप्तं तप्तं तपो येषान्ते तप्ततपसस्तेषान्ततपसां योगीन्द्राणाम् । असाध्यम् न साध्यमसाध्यमप्राप्यम् । किमस्ति न किमपीत्यर्थः ॥ अर्थान्तरन्यासः ॥ ११ ॥

भा० अ०—अन्त में वे मुनिराज समाधिमरण से शरीर त्याग कर प्राणत-स्वर्ग के प्राणत नामवाले विमान में प्राणतेन्द्र नाम के देवेन्द्र हुए। उत्तम तपस्वियों के लिये संसार में कोई वस्तु अलभ्य नहीं है ॥ ११ ॥

मासानतीत्य षडयं गुडनिर्विशेषीभूतेतविंशतिनदीपतिसम्मितायुः ॥
सूनुर्भविष्यति च तेऽतुलपुण्यराशेस्तीर्थस्य विंशतितमो भविता च कर्त्ता ।१२

मासानित्यादि । गुडनिर्विशेषीभूतेतविंशतिनदीपतिसम्मितायुः प्रागनिर्विशेषमिदानीं निर्विशेषम्भवतिस्मेति निर्विशेषीभूतम् सदृशमित्यर्थः गुडस्येक्षुपाकस्य निर्विशेषीभूतं तथोक्तम् एतिस्म इतं गतं नदीनाम्पतयो नदीपतयः नदीपतय इव नदीपतयो विंशति नदीपतयस्तथोक्तास्तैस्सम्मितं प्रमितं विंशतिनदीपतिसम्मितं गुडनिर्विशेषीभूतश्च तदितश्च तथोक्तम् तच्च विंशतिनदीपतिसम्मितमायुर्य्यस्य स तथोक्तः गुडवत्सुखप्रदत्वेनैव गलितविंशतिसागरोपमायुष्मानित्यर्थः । अयं हरिवर्म्मचरः प्राणतेन्द्रः । षण्मासान् वर्षार्धम् । अतीत्य अत्ययनं पूर्वं पश्चात्किञ्चिदित्यतीत्य अपसार्य्य । विंशतितमः विंशतेः पूर्णा विंशतितमः मुनिसुव्रतजिनः । तीर्थस्य धर्म्मस्य प्रवचनस्य वा कर्त्ता प्रभुः । भविता भविष्यतीति भविता लृप्रत्ययः भविष्यन्नित्यर्थः । अतुलपुण्यराशेः न विद्यते तुला यस्य सोऽतुलः पुण्यानां राशिः पुण्यराशिरतुलः पुण्यराशिर्य्यस्य स तथोक्तस्तस्य अनुपमेयसुकृतोत्करस्य अतुलः पुण्यराशिर्यस्मात्तस्येति तीर्थस्य वा विशेषणम् । ते तव । सूनुः नन्दनः । भविष्यति जनिष्यते । भूसत्तायां लृट् ॥ १२ ॥

भा० अ०—इक्षुरस-पाक के स्वादुतुल्य सुखपूर्वक व्यतीत होती हुई बीस सागर प्रमाण की आयुवाले वे प्राणतेन्द्र, छः मास के बाद से तुम्हारे जैसे पुण्यात्माके घर अवतीर्ण होकर मुनिसुव्रत नाम के बीसवें तीर्थङ्कर होंगे ॥ १२ ॥

तस्माद्वयं जिनपतेर्भुवनैकवन्द्यपादारविन्दयुगलस्य भविष्यतोऽग्रे ॥
दास्यं विपुण्यजनदुर्लभमद्ययाता मातुर्विधातुममरेश्वरशाशनेन ॥१३॥

तस्मादित्यादि । तस्मात् कारणात् । भुवनैकवन्द्यपादारविन्दयुगलस्य पादावेवारविन्दे पादारविन्दे तयोर्युगलं तथोक्तम् भुवने एकवन्द्य भुवनैकवन्द्य भुवनैकवन्द्यं पादारविन्दयुगलं यस्य स तस्य । अग्रे पुरः । भविष्यतः भविष्यतीति भविष्यन् तस्य । जिनपतेः जिनश्चासौपतिश्च तथोक्तः जिनानां पतिर्वा तस्य मुनिसुव्रतस्वामिनः । मातुः जनन्याः पद्मावत्याः । विपुण्यजनदुर्लभम् विनष्टं पुण्यं येषान्ते विपुण्याः विपुण्याश्चते जनाश्च तथोक्ताः दुःखेन महताकष्ठेन लभ्यत इति दुर्लभम् सुकृतिविहितलोकालभ्यम् । दास्यम् दासस्य भावो दास्यम् किंकरत्वम्-अमरेश्वरशासनेन अमराणामीश्वरस्तथोक्तस्तस्य शासनं तेन देवेन्द्राज्ञया । "शासनं राजदत्तोर्व्यां लेखाज्ञा शास्त्रशास्त्रिषु" इति विश्वः । विधातुम् विधानाय विधातुं कर्त्तुम् । वयम् श्र्यादयोऽमरस्त्रियः । अद्य अस्मिन् काले अद्येदानीम् । याताः आगताः ॥ १३ ॥

भा० अ०—इसीलिये इन्द्रमहाराज की आज्ञा से हम सब आज उस भावी तीर्थङ्कर महाराज की पूज्य माता की सेवा—जो बड़े बड़े पुण्यात्माओं को भी दुर्लभ है करने को आई हैं॥ १३॥

इत्थं तदीयमुखचन्द्रमसस्समुद्यद्वाक्चन्द्रिकाम् श्रुतिपुटेन निपीय सद्यः॥
चेतस्यवाप चपलेक्षणया समेतो भूपश्चकोर इव भूरितरप्रमोदम् ॥१४॥

इत्थमित्यादि। चपलेक्षणया चपले चञ्चले ईक्षणे यस्यास्सा तया चञ्चललोचनया पद्मावत्या चकोर्या च। समेतः समेतिस्म समेतः सहितः। भूपः सुमित्रनरेश्वरः। इत्थम् अनेन प्रकारेणेत्थम् उक्तरीत्या। तदीयमुखचन्द्रमसः तस्याः श्रीदेव्या इदं तदीयं "दोश्छ" इति छ प्रत्ययः। तच्च तत्तदीयमुखञ्च तदेवचन्द्रमास्तस्मात्। "चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः" इत्यमरः। समुद्यद्वाक्चन्द्रिकाम् समुदेतीति समुद्यती वागेव चन्द्रिका वाचन्द्रिका समुद्यती चासौ वाचन्द्रिका च तथोक्ता ताम् समुत्पद्यमानज्योत्स्नाम् रूपकः। चकोर इव चकोर पक्षी इव उपमा। श्रुतिपुटेन श्रुतिरेवपुटं तथोक्तन्तेन श्रोत्रपात्रेण। निपीय पीत्वा। सद्यः तस्मिन् काले सद्यः। चेतसि चित्ते। भूरितरप्रमोदम् प्रकृष्टो भूरिर्भूरितरः भूरितरश्चासौ प्रमोदश्च तथोक्तस्तम् बहुतरतोषम्। अवाप ययौ आप्लृव्याप्तौ लिट्॥१४॥

भा० अ०—चंचल नेत्रवाली चकोरी रूप पद्मावती से युक्त चकोर के समान सुमित्र महाराजाने उन देवांगनाओं के मुखरूप चन्द्रमा से निकली हुई वचन रूपी चन्द्रिका को पान कर तत्क्षण अपने चित्तमें बड़ी प्रसन्नता प्राप्त की॥ १४॥

भूमीपतेरनुमताभिरथामराणां भ्रूवल्लरीविलसनेन विलासिकाभिः॥
भूपालमौलिदयिता भृतसम्मदाभिर्भूलोकसेव्यचरणाम्बुरुहा सिषेवे॥१५॥

भूमीपतेरित्यादि। अथ अनन्तरे। भूमीपतेः भूम्याः पृथिव्याः पतिः स्वामी तस्य सुमित्रभूभुजः। भ्रूवल्लरीविलसनेन भ्रुवावेव वल्लर्यौ मञ्जर्यौ भ्रूवल्लर्यौ तयोर्विलसनं तेन भ्रूविक्षेपेण। अनुमताभिः अनुमन्यन्तेस्मेत्यनुमतास्ताभिः सम्मताभिर्भ्रूभंगेन तत्सेवार्थप्रेरिताभिरित्यर्थः। भृतसम्मदाभिः भृतस्सम्मदो याभिस्ताभिः धृतहर्षाभिः। अमराणाम् देवानाम्। विलासिकाभिः विलासिन्य एव विलासिकास्ताभिः सीमन्तिनीभिः। भूलोकसेव्यचरणाम्बुरुहा भुवि विद्यमाना लोका भूलोकास्तैः सेव्ये चरणाम्बुरुहे यस्यास्सा तथोक्ता भूजनाराध्यपादकमला। भूपालमौलिदयिता भुवं पालयन्ति रक्षन्तीति भूपालाः मौलिरिव मौलिः श्रेष्ठः भूपालानां मौलिस्तथोक्तस्तस्य सुमित्रनरेश्वरस्य दयिता पद्मावती देवी तथोक्ता। सिषेवे सेव्यतेस्म षेवृङ् सेवने लिट्॥ १५॥

भा० अ०—इसके बाद सुमित्र महाराज की आँखों के इशारे से अनुमत तथा अत्यन्त प्रसन्न वे देवांगनायें संसार के सभी लोगों के पूजित चरण कमलवाली राजमहिषी पद्मावती की सेवा करने लगीं ॥ १५ ॥

साधः कयाऽपि विधृतस्य सुरेन्द्रनीलच्छत्रस्य चारुवलयस्य महौषधीव ॥
रेजे प्रकाण्डरुचिरस्य सुरद्रुमस्य धारान्तरस्य च घनस्य तटिल्लतेव ॥१६॥

सेत्यादि। कयाऽपि देववनितयाऽपि। विधृतस्य भृतस्य। चारुवलयस्य चारु सुन्दरं वलयं वृत्तं यस्य तथोक्तस्य। सुरेन्द्रनीलच्छत्रस्य सुरेन्द्रनीलेन इन्द्रनीलरत्नेन निर्मितं छत्रमातपत्रं तथोक्तस्तस्य। अधः अधोभागे। सा पद्मावती देवी। प्रकाण्डरुचिरस्य प्रकाण्डैः शाखाभिः रुचिरो मनोरमस्तथोक्तस्तस्य "प्रकाण्डो विटपे शस्ते मूलस्कन्धान्तरे तरौ" इति विश्वः। सुरद्रुमस्य सुराणां द्रुमस्तथोक्तस्तस्य कल्पवृक्षस्य। अधः अधस्तले। महौषधीव महती चासावौषधी च तथोक्ता सेव संजीवनवत्। धारान्तरस्य धाराणां जलधाराणामन्तरे विद्यमानो धारान्तरस्तस्य आसारमध्यगतस्य। घनस्य मेघस्य। अधः अधरदेशे। तटिल्लतेव तटितो लता तटिदेव लता वा सा तथोक्ता सेव विद्युद्वल्लीव। रेजे बभौ राज् दीप्तौ लिट्। राज्ञी महौषधी तटिल्लता च दीप्राङ्गत्वात् मिथः समान इति भावः। उत्प्रेक्षालंकारः ॥१६॥

भा० अ०—किसी देवांगना से लगाये गये सुन्दर वृत्ताकार तथा इन्द्रनील मणि-जटित छत्र के नीचे पद्मावती शाखोपशाखा से सुमनोहर कल्पवृक्ष के नीचे संजीवनौषधी के समान शोभती थी ॥ १६ ॥

दिव्याङ्गनावधुतचामरलालिताङ्गा तिष्ठन्त्यसावरुचदुन्नतरत्नपीठे ॥
लक्ष्मी सुधाब्धिचटुलोर्मिहतेव शेषे चान्द्रीकलेव शरदभ्रचितोदयाद्रौ॥१७॥

दिव्याङ्गनेत्यादि। उन्नतरत्नपीठे रत्नैर्निर्मितं पीठं रत्नपीठं उन्नतश्च तद्रत्नपीठश्च तथोक्तस्तस्मिन् उत्तुङ्गमाणिक्यासने। तिष्ठन्ती तिष्ठतीति तिष्ठन्ती। दिव्याङ्गनावधुतचामरलालिताङ्गा दिवि भवा दिव्यास्ताश्च ता अङ्गनाश्चेति दिव्याङ्गनास्ताभिरवधुतानि च तानि चामराणि च दिव्याङ्गनावधुतचामराणि तैर्लालितमङ्गं यस्यास्सा तथोक्ता देवस्त्रीसुक्षिप्तप्रकीर्णकशोभिताङ्गा। "अङ्गं गात्रान्तिकोपायप्रतीकेष्वप्रधानके" इति विश्वः। असौ पद्मावती। शेषे महाशेषे "शेषोनन्तो वासुकिस्तु सर्पराजः" इत्यमरः। सुधाब्धिचटुलोर्मिहता सुधारूपोऽब्धिः सुधाब्धिश्चटुलाश्चता उर्मयस्तथोक्ताः सुधाब्धेश्चटुलोर्मयस्ताभिर्हता तथोक्ता क्षीरोदधिचञ्चलतरङ्गप्रोता। लक्ष्मीरिव श्रीरिव। उदयाद्रौ उदयस्याद्रिरुदयाद्रिस्तस्मिन् पूर्वाचले। शरदभ्रचिता शरदोऽभ्रं शरदभ्रं तेन चीयतेस्मेति चिता शरत्कालाभ्राश्रिता। चान्द्री चन्द्रस्येयं

चान्द्री सुधासम्बधिनी। कलेव कलावत्। "कला स्यान्मूलविवृद्धौ शिल्पादावंशमात्रके। षोडशांशे च चन्द्रस्य कलनाकालयोः कला" इति विश्वः। अरुचत् रोचतेस्म। रुच् दीप्तौ लुङ्। उत्प्रेक्षालंकारः।

भा० अ०—उन्नत रत्नजटित सिंहासन पर बैठी हुई तथा देवांगनाओं से लगाये गये छत्र से समुद्भासित शरीरवाली पद्मावती शेष नाग के ऊपर क्षीरसमुद्र की चंचल तरंगों की उछाल खाती हुई लक्ष्मी के समान और उदयाचल पर्वत पर शरत्कालीन निर्मलाकाश में उगी हुई चाँदनी की सी शोभती थी ॥ १७॥

सा कुंकुमेन परया कुचयोर्विलिप्ता कर्पूरक्लृप्ततिलका निटिले चकासे ॥
सम्बद्धकुन्तलभरा शिरसि द्विरेफव्याप्तेव पल्लवितपुष्पितकल्पवल्ली ॥१८॥

सेत्यादि। परया अन्यया देवस्त्रिया। कुचयोः स्तनयोः। कुंकुमेन काश्मीरेण। विलिप्ता विलिप्यतेस्मेति विलिप्ता। निटिले ललाटे। कर्पूरक्लृप्ततिलका कर्पूरेणक्लृप्तं तिलकं यस्याः सा तथोक्ता घनसाररचिततिलका। शिरसि मस्तके। सम्बद्धकुन्तलभरा कुन्तलानां भरस्तथोक्तः सम्बध्यतेस्म सम्बद्धः सम्बद्धः कुन्तलभरो यस्यास्सा तथोक्ता नन्दितशिरोरुहातिशया। "भरोऽतिशयभारयोः" इति नानार्थरत्नमालायाम्। सा पद्मावती देवी। द्विरेफव्याप्ता द्विरेफैर्व्याप्ता भ्रमरैराश्रिता। पल्लवितपुष्पितकल्पवल्ली पल्लवः संजातोऽस्या इति पल्लविता पुष्पं संजातमस्या इति पुष्पिता सा चासौ कल्पवल्ली च पुष्पितकल्पवल्ली पल्लविता चासौ पुष्पितकल्पवल्ली च तथोक्ता कुंकुमलेपनेन पल्लवितेव कर्पूरतिलकेन पुष्पितेव कुन्तलभरेण द्विरेफव्याप्तकल्पवल्लीव चकासे बभासे काश्रृदीप्तौ लिट्। उत्प्रेक्षालंकारः ॥ १८ ॥

भा० अ०—किसी दूसरी देवांगना द्वारा दोनो कुचों पर कुंकुम और ललाट पर कर्पूर तिलक लगाये हुई तथा वेणी बाँधे हुई महारानी पद्मावती भ्रमरों से परिवेष्टित पल्लवित और पुष्पित कल्पवल्ली के तुल्य शोभती थीं ॥ १८ ॥

तस्याः शिरोरुहभरे विनियोज्यमानं कृष्णां कयाऽपि चमरीरुहमावभासे ॥
तापिच्छकच्छमुपसर्पदिवान्धकारं निलाब्जकुञ्जमुपयन्निव भृंगराशिः ॥१९॥

तस्या इत्यादि। तस्याः पद्मावत्याः। शिरोरुहभरे शिरसि रोहन्ति इति शिरोरुहास्तेषां भरस्तथोक्तस्तस्मिन् कुन्तलसमूहे। कयापि देवस्त्रिया। विनियोज्यमानम् निक्षिप्यमाणम्। कृष्णम् श्यामलम्। चमरीरुहम् आरोहतीत्यारोहश्चमर्यामारोहश्चमरीरुहस्तम्। तापिच्छकच्छम् तापिच्छास्तमालाः "कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि" इत्यमरः। कच्छो वनं प्रत्युक्तं च राघवपाण्डवीये "कच्छान्तरेषु मरुतः कृतपुष्पवासा" इति। तापिच्छानां कच्छ-

स्तथोक्तस्तम् तमालतरुकुञ्जम्। उपसर्पत् उपसर्पतीत्युपसर्पत् समाश्रयत् । अन्धकारमिव अन्धं करोतीत्यन्धकारस्तम् ध्वान्तमिव। "अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम्" इत्यमरः । नीलाब्ज-कुञ्जम् नीलानि च तान्यब्जानि तेषां कुञ्जं तथोक्तम् नीलोत्पलषण्डम्। उपयन् उपैतीत्युपयन् उपगच्छन्। भृंगराशिरिव भृंगाणां भ्रमराणां राशिस्समूहस्तथोक्तः स इव आवभासे रेजे भासृङ् दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षालंकारः॥१९॥

भा० अ० –महारानी पद्मावती के केशगुच्छ में किसी अन्य देवांगना से लगाया गया चमरी का काला बाल तमालोपवनान्तर्गत अन्धकार के समान तथा नीलकमल के कुंज में मड़राते हुए भ्रमर समूह के समान ज्ञात होता था ॥ १९ ॥

कर्पूरमौक्तिकखगेन्द्रमणिप्रक्लृप्तैस्ताटंकहारवलयैरपरोपनीतैः ।
डिण्डीरितः क्वचन बुद्बुदितः परत्र शैवालितःक्वचिदहो सुषमाब्धिरस्याः २०

कर्पूरेत्यादि। अस्याः पद्मावत्याः। सुषमाब्धिः सुषमैवाब्धिः सुषमाब्धिः देहकान्तिसमुद्रः। "सुषमं चारुसमयोः सुषमा परमद्युतौ" इति विश्वः। अपरोपनीतैः अपराभिरुपनीतानि तैः अन्यदेवस्त्रीभिर्न्यस्तैः । कर्पूरमौक्तिकखगेन्द्रमणिप्रक्लृप्तैः कर्पूरश्च मौक्तिकञ्च खगेन्द्रमणिश्च कर्पूरमौक्तिकखगेन्द्रमणयस्तैः प्रक्लृप्तानि तैः कर्पूरमौक्तिकखगेन्द्रमणिप्रक्लृप्तैः घनसारमुक्ताफलगरुडोद्गाररत्नरचितैः । ताटंकहारवलयैः ताटंकश्च हारश्च वलयश्चेति ताटंकहारवलयानि तैः कर्णभूषणहारकंकणैः। "कर्णपूरस्तु पुष्पाद्यैस्ताडंगो दन्तकादिभिः" इति वैजयन्ती। क्वचन क्व कस्मिन् क्वचन प्रदेशे। "असाकल्ये तु चिच्चन" इत्यमरः। डिंडीरितः डिंडीरस्संजातोऽस्येति तथोक्तः संजातडिंडीरः। "डिंडीरोऽब्धिकफः फेनः" इत्यमरः। परत्र परस्मिन्निति परत्र अन्यप्रदेशे। बुद्बुदितः बुद्बुदं संजातोऽस्येति बुद्बुदितः संजातबुद्बुदः । क्वचित् प्रदेशे। शैवालितः शैवाल एव शैवालः शैवालः संजातोऽस्येति तथोक्तः संजातशैवालः "जलनीली तु शैवालः" इत्यमरः। अहो आश्चर्य्यम् । अत्रोपमानोपमेयपदानां क्रमेणार्थोऽन्वीयते । उत्प्रेक्षालंकारः॥२०॥

भा० अ०—कर्पूर, मोती तथा गरुड़ मणि से बने हुए कर्णभूषण, हार और कंकणों से किसी दूसरी देवबाला द्वारा सुसज्जित की गयी पद्मावती का सुषमा-समुद्र (सौन्दर्यजलनिधि) कहीं फैन युक्त, कहीं जलबुद्बुदमय तथा कहीं शैवाल युक्त प्रतीत होता था ॥२०॥

वामे फलव्यवहिते व्यरुचत्कुचोऽन्यस्तंत्रीविवादनचलस्त्रिदशांगनायाः ॥
वक्त्रेन्दुना सहचरीमभिशंक्य यातामुत्कम्पमान इव कान्तिभरीरथाङ्गः २१

वामेत्यादि। त्रिदशांगनायाः कस्याश्चिद्देवतास्त्रियाः। वामे वामकुचे। फलव्यहिते फलेन व्यवहितस्तस्मिन् वीणाफलेनान्तरिते। तंत्रीविवादनचलः तंत्र्या विवादनं तथोक्तं

तेन चलस्तथोक्तः तंत्रीध्वनचंचलः । अन्यः कुचः दक्षिणकुचः । वक्त्रेन्दुना वक्त्रमेवेन्दुर्वक्त्रेन्दुस्तेन वक्त्रेन्दुना मुखचन्द्रेण । याताम् यातिस्मेति याताम् वियुक्ताम् । सहचरीम् सहचरतीति सहचरी ताम् प्राणकान्ताम् । अभिशंक्य आशंक्य । उत्कम्पमानः उत्कम्पत इत्युत्कम्पमानः विरहोद्रेकचकितः । कान्तिझरीरथाङ्गः कान्तिरेव झरी कान्तिझरी तस्यां प्रवर्त्तमानो रथाङ्गस्तथोक्तः किरणप्रवाहप्रवर्त्तमानचक्रवाकपक्षीव । "प्रवाहो निर्झरो झरी" इत्यभिधानात् ई प्रत्ययान्तोऽप्यस्त्येव । व्यरुचत् व्यराजत् रुच्दीप्तौ लुङ् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥२१॥

भा० अ०—वीणा की तुम्बीसे किसी एक देवांगना के वामकुच के ढक जानेपर वीणावादन से चलायमान दक्षिणकुच अपनी सहचरी चक्रवाकी को मुखचन्द्र से वियुक्त हुई मानकर कान्ति-प्रवाह में प्रवाहित अत एव कम्पायमान चक्रवाक के समान ज्ञात होता था ॥ २१ ॥

ताभिर्यथावसरमित्थमुपास्यमाना सा नीततुर्य्यसवना किल तीर्थतोयैः ॥
शुभ्राम्बराभरणमाल्यविलेपना च शिश्ये सुखेन रमणेन समानतल्पा ॥ २२ ॥

ताभिरित्यादि । इत्थम् अनेन प्रकारेणेत्थं एतत्प्रकारेण । यथावसरम् अवसरमनतिक्रम्य यथावसरम् कालानुकूलमित्यर्थः । ताभिः देववनिताभिः । उपास्यमाना उपास्यत इत्युपास्यमाना सेव्यमाना । तीर्थतोयैः तीर्थानां तोयानि तीर्थतोयानि तैः पुण्योदकैः । नीततुर्य्यसवना चतुर्णां पूर्णं तुर्य्यं "यछौ च श्लुक् "इति य प्रत्ययश्चकारलोपश्च तुर्य्यञ्च तत्सवनञ्च तथोक्तं नीयतेस्मेति नीतं नीतं तुर्य्यसवनं यस्यास्सा तथोक्ता प्रापितचतुर्थस्नाना । शुभ्राम्बराभरणमाल्यविलेपना च अम्बरम्वस्त्रञ्चाभरणञ्च माल्यं पुष्पमाल्यञ्च विलेपनञ्चेत्यम्बराभरणमाल्यविलेपनानि शुभ्राणि अम्बरादीनि यस्यास्सा तथोक्ता । अत्र वस्त्रादीनां शुभ्रविशेषणमिष्यते । सा पद्मावती देवी । रमणेन सुमित्रनरेन्द्रेण । समानतल्पा समानं तल्पं यस्यास्सा तथोक्ता सदृशशयना सती । "तल्पं शय्याट्टदारे" इत्यमरः । सुखेन सौख्येन । शिश्ये किल सुष्वाप किल । शीङ् स्वप्ने लिट् ॥२२॥

भा० अ०—उन देवांगनाओं से सेवित, तीर्थजलों से चौथे दिन का स्नान किये हुई तथा सुन्दर कपड़े गहने और पुष्पमाला पहने हुई पद्मावती पति के साथ साथ शय्या पर सोयी ॥ २२ ॥

नागं वृषाधिपगजारिरमाश्च माले चन्द्रार्कमीनयुगकुंभयुगानि वापीम् ॥
अंभोनिधिं च हरिपीठविमानभोगिस्थानानि रत्ननिकरं च विधूममग्निम् ॥ २३ ॥

स्वप्नेऽथ सा सदृशताप्रणयादिवैतानेतान् गजेन्द्रगतिरात्तवृषाधिपत्वा ॥
शातोदरी सविभवा सुकुमारगात्री चन्द्रानना सकलविष्टपसेव्यपादा ॥२४॥

मीनेक्षणा घटकुचा ह्रदनिम्ननाभिर्गाम्भीर्यपर्यवसितिः सुनितंबपीठा ॥
मानोन्नता च कृतभोगिपतिप्रमोदा चेतस्विरत्नममला क्रमशो ददर्श ॥२५॥

नागमित्यादि। अथ इत्यनंतरे। गजेन्द्रगतिः गजानामिन्द्रो गजेन्द्रस्तस्येव गतिर्यस्यास्सा तथोक्ता मत्तगजेन्द्रवत् मंदगमना। आत्तवृषाधिपत्वा अधिपस्य भावोऽधिपत्वं वृषस्याधिपत्वं तथोक्तं आधीयतेऽस्य आत्तं प्राप्तं वृषाधिपत्वं यस्यास्सा तथोक्ता संप्राप्तसद्धर्माधिपतया "सुकृते वृषभे वृषः" इत्यभिधानादत्र वृषभार्थः श्लेषेणोपमीयते। शातोदरी शातमुदरं यस्यास्सा तथोक्ता सिंहवत् कृशोदरी "शितं शातं च निशिते कृशे शातं च शर्मणि" इति विश्वः। सविभवा विभवेन सह वर्तत इति सविभवा। श्रीरिव ससंपत्। सुकुमारगात्री सुकुमारं गात्रं यस्यास्सा तथोक्ता पुष्पधामवत्कोमलांगी "सुकुमारन्तु कोमलं मृदुलं मृदु" इत्यमरः। चन्द्रानना चन्द्र इवाननं यस्याः सा तथोक्ता सुधांशुमुखी। सकलविष्टपसेव्यपादा सकलश्च तद्विष्टपश्च तथोक्तं तेन सेव्यौ पादौ यस्यास्सा तथोक्ता चरणौ किरणाश्च अर्कवन्निखिललोकाराध्यपादा "पादा रश्म्यंघ्रितुर्यांशाः" इत्यभिधानात्किरणार्थः श्लेषत्वेनोपमीयते।

मीनेक्षणा मीनाविवेक्षणे यस्यास्सा तथोक्ता मीनलोचना। घटकुचा घटाविव कुचौ यस्यास्सा तथोक्ता कुंभवत्पीनोन्नतस्तना। ह्रदनिम्ननाभिः ह्रद इव निम्नो नाभिर्यस्यास्सा तथोक्ता ह्रदवद्गंभीरनाभिः। गांभीर्यपर्यवसितिः गांभीर्यस्य पर्यवसितिः तथोक्ता अंभोधिवद्गंभीरत्वपर्यवसाना। सुनितंबपीठा सु शोभनं नितंबस्य पीठं यस्यास्सा तथोक्ता नितंबमेव पीठं यस्या वा तथोक्ता भद्रासनवत् पृथुलश्रोणिप्रदेशा। मानोन्नता च मानेनोन्नता तथोक्ता ज्ञानोत्कृष्टा "मानं प्रमाणे प्रस्थादौ मानश्चित्तोन्नतौ ग्रहः" इत्यभिधानादत्र मानार्थः श्लेषभावेनोपमीयते। कृतभोगिपतिप्रमोदा भोगोऽस्यास्तीति भोगी स चासौ पतिश्च भोगिपतिस्तस्य प्रमोदस्तथोक्तः कृतो भोगिपतिप्रमोदो यस्यास्सा तथोक्ता विहितभोगींद्रवद्भोगी भर्तृतोषा "भोगी भुजंगमे राज्ञि ग्रामण्यां नापितेऽपि च" इति विश्वः। चेतस्विरत्नं चेतोऽस्त्यासामिति चेतस्विन्यस्तासां रत्नं प्रधानभूतविशिष्टलिङ्गत्वान्नपुंसकत्वं "मनस्विनि भवत्यार्ये" इति धनंजयः। "रत्नं स्वजातिश्रेष्ठेऽपि" इत्यमरः। अमला न विद्यते मलं यस्यास्साऽमला निर्धूमवह्निवन्निर्मलस्वभावा। सा पद्मावती देवी। एतानिव प्रागुक्तषोडशविशेषणस्थस्वभावानिव।

नागं गजेन्द्रम्। वृषाधिपगजारिरमाश्च वृषाणामधिपो वृषाधिपो वृषभेन्द्रः गजानामरिस्तथोक्तस्सिंहो वृषाधिपश्च गजारिश्च रमा श्रीश्च वृषाधिपगजारिरमास्ताः वृषभसिंहलक्ष्म्यश्च। माले माला च माला च माले द्वंद्वैकशेषः द्विवचनबलेन मालायुगलमित्यर्थः। चन्द्रार्कमीनयुगकुंभयुगानि मीनयोर्युगं मीनयुगं कुंभयोर्युगं कुंभयुगं चन्द्रश्च अर्कश्च मीनयुगं च कुंभयुगं च तथोक्तानि चन्द्रसूर्यमत्स्ययुग्मपूर्णकलशयुग्मानि। वापीम् सरोवरं। अंभोनिधिं च अंभांसि निधीयंते ऽस्मिन्नित्यंभोनिधिस्तं समुद्रं च। हरिपीठविमानभोगिस्थानानि हरिभिर्धृतं पीठं हरिपीठं भोगोऽस्त्येषामिति भोगिनस्तेषां स्थानं भोगिस्थानं हरिपीठं च विमानं च भोगिस्थानं च तथोक्तानि सिंहासनव्योमयाननागेन्द्रधामानि। रत्ननिकरं रत्नानां निकरः तथोक्तस्तं मणिराशिं। विधूमं विनिर्गतो धूमो यस्मात्स तं निर्धूमं। अग्निं पावकं च। एतान् इमान् षोडश। सदृशताप्रणयात् सदृशस्य भावः सदृशता तस्याः प्रणयस्तथोक्तस्तस्मात् प्राग्विशेषणैः स्वस्मिन्नारोपितधर्मस्नेहात्। "प्रणयः प्रेम्णि विश्रंभे याच्ञाप्रसरयोरपि" इति विश्वः। स्वप्ने स्वपने। क्रमशः क्रमेण क्रमशः "बह्वल्पार्थशशसि" इति शस् प्रत्ययः। ददर्श पश्यतिस्म दृश्प्रेक्षणे लिट्। त्रिभिः विशेषकम्। २३। २४। २५।

भा० अ०—कृशोदरी, ऐश्वर्यवती, सुकुमारांगी, गजगामिनी, चन्द्रमुखी, मीनाक्षी, उन्नतस्तनी, गंभीरनाभिवाली, गंभीरता में आदर्शभूत, सुन्दरनितम्बवाली, मलरहिता, मनस्विनियों में शिरमोर, धर्माधिरत्य प्राप्त किये हुई, अपने प्राणवल्लभ को सन्तुष्ट किये हुई तथा सभी देवताओं द्वारा सेवित चरणकमलोंवाली महारानी पद्मावती ने समानस्नेह के विकाश से गजेन्द्र, वृषभ, सिंह, महालक्ष्मी, मालायें, चन्द्र, सूर्य, युगलकलश तथा मीन, सरोवर, समुद्र, सिंहासन, रथ, नागभवन, रत्नराशि तथा निर्धूमाग्नि ऐसे सोलह स्वप्नों को देखा। २३, २४ और २५।

राज्ञी विबुध्य सुरवल्लभिकासुगीतैः कादम्बिनीकलकलैरिव केकिकांता ॥
उत्थाय तल्पतलतः सुसमाप्य कृत्यं प्राभातिकं सपदि वल्लभमाससाद ॥२६॥

राज्ञीत्यादि। राज्ञी राज्ञ भार्या राज्ञो पद्मावती महादेवी। सुरवल्लभिकासुगीतैः सु शोभनानि गीतानि सुगीतानि वल्लभा एव वल्लभिकाः सुराणां वल्लभिकास्तथोक्तास्तासां सुगीतानि सुरवल्लभिकासुगीतानि तैः प्रभातप्रयुक्तैः देवरमणीसंगीतैः। केकिकांता केकाऽस्यास्तीति केकी तस्य कांता तथोक्ता मयूरपत्नी। कादंबिनीकलकलैरिव कादंबिन्याः कलकलास्तैः मेघमालाकोलाहलैरिव "कादंबिनी मेघमाला। कोलाहलः कलकलः" इत्युभयत्राप्यमरः। विबुध्य विबोधनं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति विबुध्य प्रबुध्य। तल्पतलतः तल्पस्य तलं तल्पतलं तल्पत-

लात्तल्पतलतः शय्यातलात् । उत्थाय उत्थानं पूर्वं पश्चात्किंचिदित्युत्थाय । प्राभातिकं प्रभातस्येदं प्राभातिकं उदयकालसंबंधि । कृत्यं कर्तुं योग्यं कृत्यं स्नानदेवपूजादिकार्यं । सुसमाप्य सुसमापनं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति सुसमाप्य संपूर्णं कृत्वा । वल्लभं प्राणकांतं । सपदि शीघ्रं । "द्राङ् मंक्षु सपदि द्रुते" इत्यमरः । आससाद ययौ षद्लृविशरणगत्यवसादनेषु लिट् उत्प्रेक्षालंकारः ॥२६॥

भा० अ०—कादम्बिनी (मेघमाला) की गंभीर ध्वनि के समान देवांगनाओं के संगीत से मयूरी के समान प्रसन्न हो जगकर महारानी पद्मावती शय्या त्याग प्रातःकालीन कृत्य सम्पन्न कर शीघ्र अपने प्रियतम के पास पहुँची ॥ २६ ॥

अर्धासने प्रियनिवेशितवल्लभायै स्थित्वा क्षणं श्रुतिसुखं विनिवेदितायाः ॥
स्वप्नावलेरिति जगाद फलं कुचांते दंतार्चिषा विरचयन्निव चर्चिकां सः ॥२७॥

अर्धासन इत्यादि । आसनस्यार्धमर्धासनं तस्मिन् "समेऽर्धम्" इति समासः । प्रियनिवेशितवल्लभायै प्रियेण निवेशिता प्रियनिवेशिता सा चासौ वल्लभा च प्रियनिवेशितवल्लभा तस्यै प्राणकांतेननिवेशितरमण्यै । क्षणं क्षणपर्यन्तम् । "कालाध्वनोर्व्याप्तौ" इति कालवाचिनो व्याप्त्यर्थे द्वितीया । स्थित्वा स्थापनं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति स्थित्वा । श्रुतिसुखं श्रुत्योस्सुखं यथा भवति तथा क्रियाविशेषणं । विनिवेदितायाः विनिवेदयतिस्म विनिवेदिता तस्याः विज्ञापितायाः । स्वप्नावलेः स्वप्नानामवलिस्तथोक्ता तस्याः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । फलं । सः । कुचांते कुचयोरंतः कुचांतस्तस्मिन् स्तनयोर्मध्ये । दन्तार्चिषा दन्तानामर्चिस्तेन दन्तकांत्या "अर्चिर्मयूखशिखयोः" इति विश्वः । चर्चिकां चर्चेव चर्चिका तां लेपनं "चर्चा तु चार्चिक्यं स्थासकः" इत्यमरः । विरचयन्निव विरचयतीति विरचयन् कुर्वन्निव । जगाद उवाच । गदव्यक्तायां वाचि लिट् उत्प्रेक्षालंकारः ॥२७॥

भा० अ०—महाराज सुमित्र ने अर्द्धासन पर बैठाकर रानी पद्मावती से श्रवण-सुखद पूर्वोक्त सोलह स्वप्नों को सुनकर अपनी दन्तद्युति से उनके स्तनों को प्रतिफलित करते हुए उन का फल कहा ॥ २७ ॥

नागेन तुंगचरितो वृषतो वृषात्मा सिंहेन विक्रमधनो रमयाधिकश्रीः ॥
स्रग्भ्यां धृतश्च शिरसा शशिना क्लमच्छित्सूर्येण दीप्तिमहितो झषतः सुरूपः ॥२८॥

कल्याणभाक्कलशतः सरसः सरस्तो गंभीरधीरुदधिनासनतस्तदीशः ॥
देवाहिवासमणिराश्यनलैः प्रतीतदेवोरगागमगुणोद्गमकर्मदाहः ॥२९॥

एवंविधस्तव भविष्यति तीर्थकर्त्ता पुत्रो जगत्त्रयविनेयजनैकमित्रं ॥
मर्त्यामरोरगखगप्रमदातिशायिपुण्यातिशायनघनायितचारुमूर्तेः ॥३०॥

नागेन गजेन्द्रदर्शनेनेत्यर्थः । तुंगचरितः तुंगं चरितं यस्य स तथोक्तः यथाख्याताख्य-महाचारित्रः । वृषतो गवेंद्रात् । वृषात्मा वृष एव आत्मा यस्य स तथोक्तः धर्मस्वरूपः "धर्मोऽयं वृषरूपेण" इति धर्मस्य वृषत्वप्रसिद्धेः रूपकः । सिंहेन मृगेंद्रेण । विक्रमधनः विक्रम एव धनं यस्य सः तथोक्तोऽनंतवीर्यः । रमया श्रीदेव्या । अधिकश्रीः अधिका श्रीर्यस्य स अधिक-श्रीः । स्रग्भ्यां मालाभ्यां । शिरसा मस्तकेन । धृतश्च भृतश्च धरतीति धृत इति कर्तरि क्तः उभयलक्ष्मीपरिणयार्ह इत्यर्थः । शशिना चंद्रेण । क्लमच्छित् क्लमं छिनत्तीति क्लमच्छित् संसारक्लेशनाशकः । सूर्येण दिवाकरेण । दीप्तिमहितः दीप्त्या महितः देहकांतिसमृद्धः । झषतः झषाभ्यां झषतः मीनयुगलतः । सुरूपः सु शोभनं रूपं यस्य स तथोक्तः मनोहररूपः ॥२८॥

कल्याणभागित्यादि । कलशतः कलशाभ्यां कलशतः पूर्णघटयुगलात् । कल्याणभाक् कल्याणानि भजतीति कल्याणभाक् "विण भज" इति विण् प्रत्ययः पंचकल्याणसेवितः । सरस्तः सरसः सरस्तः सरोवरात् सरसः रसेन सह वर्त्तत इति सरसः वात्सल्यसहितः । उदधिना उदकानि धीयंतेऽस्मिन्नित्युदधिस्तेन समासत्वादुदादेशः समुद्रेण । गंभीरधीः गंभीरा धीर्यस्य स तथोक्तः गंभीरबुद्धिः । आसनतः आसनादासनतः सिंहासनात् । तदीशः तस्य ईशस्तथोक्तः सिंहासनाधिपः । देवाहिवासमणिराश्यनलैः देवाश्चाहयश्च देवाहयस्तेषां वासस्तथोक्तः मणीनां राशिर्मणिराशिः देवाहिवासश्च मणिराशिश्च अनलश्च देवाहिवासमणिराश्यनलास्तैः देवविमाननागभवनरत्नराशिवह्निभिः । प्रतीतदेवोरगागमगुणोद्गमकर्मदाहः देवाश्चोरगा-श्च तथोक्तास्तेषामागमस्तथोक्त उद्गमनमुद्गमो गुणानामुद्गमः प्रादुर्भावस्तथोक्तः दहनं दाहः कर्मणां दाहस्तथोक्तः देवोरगागमश्च गुणोद्गमश्च कर्मदाहश्च तथोक्ताः प्रतीता जगद्विनुता देवोर-गागमगुणोद्गमकर्मदाहा यस्य सः तथोक्तः प्रसिद्धस्वसेवार्थिकल्पवासिदेवागमनभवनवासिदे-वागमनकेवलज्ञानादिगुणोत्पत्तियुतोऽष्टविधकर्मदाहकश्च ॥२९॥

एवंविध इत्यादि । मर्त्यामरोरगखगप्रमदातिशायिपुण्यातिशायनघनायितचारुमूर्तेः मर्त्या-श्च अमराश्च उरसा गच्छंतीत्युरगाः नागाश्च खे गच्छन्तीति खगा विद्याधरास्ते च मर्त्याम-रोरगखगास्तेषां प्रमदास्तथोक्तास्ताः अतिशेत इत्येवं शीलं तदतिशायि तच्च तत्पुण्यं च मर्त्यामरोरगखगप्रमदातिशायिपुण्यं तस्यातिशायनं तेन घनायतेस्म घनायिता चार्वी चासौ मूर्तिश्च चारुमूर्तिः मर्त्यामरोरगखगप्रमदातिशायिपुण्यातिशायनघनायितचारुमूर्तिर्यस्यास्सा तथोक्ता तस्याः मनुष्यकल्पवासिभवनविद्याधरवनितात्युत्कृष्टसुकृतप्रवर्धनघनीभूतमनोरम-शरीरस्य । एवंविधः कथितप्रकारः । जगत्त्रयविनेयजनैकमित्रं जगतां त्रयं जगत्त्रयं विनेतुं योग्यं

विनेयास्ते च ते जनाश्च तथोक्ताः जगत्त्रयस्य विनेयजनास्तथोक्ताः जगत्त्रयविनेयजनानामेकं च तत् मित्रं च तथोक्तं सद्धर्मोपदेशेन श्रेयस्पथप्रापकत्वात् त्रिलोकभव्यजनमुख्यबंधुः "एके मुख्यान्यकेवला" इत्यमरः। मित्रशब्दस्य विशिष्टलिंगत्वान्नपुंसकत्वं। तीर्थकर्त्ता तीर्थस्य कर्त्ता तीर्थकर्त्ता सद्धर्मोद्धारकः। तत्र ते युष्मदस्मदोरलिंगत्वात् त्रिलिंग्यामेकत्वं। पुत्रः तनयः। भविष्यति जनिष्यति। अतिशयालंकारः। नागेनेत्यादिपद्यत्रयेण विशेषकम् इत्यन्वयो विधातव्यः ॥३०॥

भा० अ०—अयि! मनुष्य-कल्पवासी भवनवासी तथा विद्याधरों की स्त्रियों के पुण्य को पद दलित करने वाले पुण्य से सुन्दर मूर्त्ति वाली पद्मावती! गजेन्द्र-दर्शन से यथाख्यात महाचरित्रवाला, वृषभ से धर्मोद्धारक, सिंह दर्शन से पराक्रमी, लक्ष्मी से अधिक श्री-सम्पन्न, माला से सबों का शिरोधार्य, चन्द्रमा से संसार के सन्ताप को दूर करने वाला, सूर्य से अधिक तेजस्वी, तथा मीनदर्शन से सुन्दर आकृति वाला, कलश से कल्याणास्पद अर्थात् पञ्चकल्याण द्वारा सेवित, सरोवर से वात्सल्य रस-युक्त समुद्र से गंभीर बुद्धि वाला, सिंहासन से राज्यसिंहासनारोही, देवविमान, नाग-भवन, रत्नराशि तथा अग्नि आदि के दर्शन से देवों का आगम, नागों का आगमन, गुणों के प्रकटीकरण तथा अष्टकर्म दहनादि गुणों से युक्त त्रिभुवन के विनीत भव्यों के एक मात्र मित्र ऐसा तीर्थङ्कर के रूप में तुम्हें पुत्र होगा ॥२८॥ २६ और ३० ॥

एतन्निशम्य वचनं रुचितस्य देवी रोमांचकंचुकितचंचुरगात्रयष्टिः।
आकर्णितान्यभृतमंजुरवा वनांते माकंदवल्लिरिव कोरकिता बभूव ॥३१॥

एतदित्यादि। देवी पद्मावती राज्ञी। रुचितस्य रोचतेस्म रुचितस्तस्य प्राणकान्तस्य। एतत् इदं। वचनं भाषितं। निशम्य निशमनं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति निशम्य श्रुत्वा। वनांते वनमध्ये। माकंदवल्लिः माकंदाश्चासौ वल्लिश्च तथोक्ता आम्रलता। आकर्णितान्यभृतमंजुरवा मंजुश्चासौ रवश्च मंजुरवः अन्येन भ्रियतेस्म अन्यभृतस्तस्य मंजुरवस्तथोक्तः आकर्ण्यतेस्म आकर्णितोऽन्यभृतमंजुरवो यया सा तथोक्ता आकर्णितकोकिलमनोहरध्वनियुता। "वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिकः, मनोज्ञं मंजु मंजुलं" इत्युभयत्राप्यमरः। कोरकिता कोरकः संजातोऽस्या इति कोरकिता संजातकलिकेव कोकिलनादस्य वसंतसूचकत्वात्तन्निनादेन कोरकिता यथा बभूव तथा इत्युपचारोक्तिः। रोमांचकंचुकितचंचुरगात्रयष्टिः रोमांचेन कंचुकः संजातोऽस्या इति रोमांचकंचुकिता रोमांचकंचुकिता चंचुरगात्रयष्टिर्यस्याः सेति बहुपदबहुव्रीहिः रोमांचसंजातकंचुकमनोहरदेहयष्टिः। बभूव भवतिस्म उत्प्रेक्षालंकारः ॥३१॥

भा० अ०—अपने प्राणवल्लभ की यह बात सुनकर कोयल की कुहू २ की ध्वनि से जैसे उपवनों में आम्रवल्ली मुकुलित होती है उसी प्रकार महारानी पद्मावती की देहयष्टि रोमाञ्च-रूप कंचुकसे आच्छन्न हो गयी ॥३१॥

देवोऽथ पूर्वगदितस्त्रिदिवादुपेतो देव्या वपुः करिवपुर्वदनादविक्षत् ॥
पक्षे परे नभसि मासि तिथौ द्वितीये योगे शिवे श्रवसि भे विरतौ रजन्याः ॥३२॥

देव इत्यादि। अथ अनंतरे। पूर्वगदितः गद्यतेस्म गदितः पूर्वस्मिन् गदितस्तथोक्तः प्रागुक्तः। देवः हरिचर्मचरः प्राणतेंद्रः। नभसि श्रावणे। "श्रावणे तु स्यान्नभाः श्रावणिकश्च सः" इत्यमरः। मासि मासे पद्न्नित्यादिना मासशब्दस्य मासादेशः। परे अपरे। पक्षे कृष्णपक्ष इत्यर्थः। द्वितीये द्वयोः पूरणो द्वितीयस्तस्मिन् "तिथयोर्द्वयोः" इत्यमरसिंहप्रामाण्याद्विशेष्यस्य पुंस्त्वेन विवक्षितत्वाद्विशेषणस्यापि पुंस्त्वं। तिथौ दिवसे। शिवे योगे शिवनामयोगे। श्रवसि श्रवणे—ज्योतिषिकप्रसिद्धप्रयोगोऽयं। भे नक्षत्रे। "नक्षत्रमृक्षं भं तारा" इत्यमरः। रजन्याः निशायाः। विरतौ विरमणं विरतिस्तस्यामवसाने। त्रिदिवात् स्वर्गात्। उपेतः उपैतिस्म उपेतः आगतः सन्। करिवपुः करोऽस्यास्तीति करी करिणो वपुरिव वपुर्यस्य सः तथोक्तः गजाकारस्सन्। देव्याः पद्मावती-महादेव्याः। वपुः शरीरं। वदनात् मुखात् वदनविवरात्। अविक्षत् आविशत् विशप्रवेशने लुङ् "व्रश्च भ्रस्ज" इत्यादिना शस्य षः "षढः कस्सि" इति षस्य कः॥ ३२॥

भा० अ०—पूर्वोक्त प्राणतेन्द्र स्वर्ग से आकर श्रावण कृष्ण द्वितीया को श्रवण-नक्षत्र तथा शिव-योग में रात बीत जाने पर गजाकार से मुखद्वारा पद्मावती के शरीर में प्रविष्ट हुए॥३२॥

विज्ञायासनकंपतः सुरपतिस्तस्यावतारं प्रभोः
स्वर्गादेत्य चतुर्विधैस्सह सुरैरस्यांबिकां कल्पजैः।
आकल्पांबरगंधमाल्यनिवहैरभ्यर्च्यनामं स्तवं
गानं नर्तनमारचय्य जनकं चादृत्य भूयो गतः॥३३॥

विज्ञायेत्यादि। सुरपतिः सुराणां पतिः सुरपतिः सौधर्मेन्द्रः। तस्य प्रभोः मुनिसुव्रततीर्थेशस्य। अवतारं अवतरणमवतारस्तं गर्भावतरणं। आसनकंपतः आसनस्य कंपस्तथोक्त आसनकंपादासनकंपतः सिंहासनकंपतः। विज्ञाय विबुध्य। चतुर्विधैः चत्वारो विधा येषां तैः चतुःप्रकारैः भवनव्यंतरज्योतिष्ककल्पवासिभेदैरित्यर्थः। सुरैः देवैः। सह साकं।

स्वर्गात् त्रिदिवात् । एत्य आगत्य । अस्य मुनिसुव्रततीर्थेशस्य । अंबिकां जननीं । जनकं च पितरं च । कल्पजैः कल्पे जायंत इति कल्पजास्तैः स्वर्गसंभूतैः । आकल्पांबरगंधमाल्यनिवहैः आकल्पाश्च अंबराणि च गंधाश्च माल्यानि च आकल्पांबरगंधमाल्यानि तेषां निवहास्तैः आभरणदुकूलगंधमालासमूहैः । "आकल्पवेषौ नेपथ्यं प्रतिकर्म प्रसाधनः" इत्यमरः । अभ्यर्च्य अभ्यर्चनं पूर्वं पश्चात्किंचिदित्यभ्यर्च्य पूजयित्वा । नामं नमनं नामस्तं नमस्कारं । स्तवं स्तोत्रं । गानं गीतं । नर्तनं आनंदनर्तनं च । आरचय्य आरचनं पूर्वं पश्चात्किंचिदित्यारचय्य कृत्वा । भूयः पुनः । भव्यजनं च आदृत्य सत्कृत्य । गतः गच्छतिस्म गतः यातः ॥३३॥

इत्यर्हद्दासकृतेः काव्यरत्नटीकायां सुखबोधिन्यां भगवद्गर्भावतरणवर्णनो
नाम तृतीयः सर्गोऽयं समाप्तः

भा० अ०—सौधर्मेन्द्र अपने सिंहासन के कम्पित होने से श्रीमुनिसुव्रत तीर्थङ्कर का गर्भावतार जान भवन, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा कल्पवासी देवों के साथ आकर स्वर्गीय भूषण, वसन, गन्ध तथा मालाओं से मुनिसुव्रत महाराज के पिता माता की पूजाकर वन्दना, स्तुति तथा नृत्यकर के पुनः अपने स्थान को चले गये ॥३३॥

इति तृतीय सर्ग समाप्त

॥ अथ चतुर्थः सर्गः ॥

न्यग्रोधशाखेव रराज सांद्रच्छाया दधाना पुरुषोत्तमं तम् ॥
पत्रोदरेऽथाऽऽर्त्तवमुष्णशीतमुच्चैस्तनीयं नुदति प्रियस्य ॥१॥

न्यग्रोधेत्यादि । अथ अनंतरम् । सांद्रच्छाया सांद्रा छाया यस्या सा तथोक्ता निरंतरकांतियुता । "घनं निरंतरं सांद्रं । छाया सूर्यप्रिया कांतिः प्रतिबिंबमनातपः" इत्युभयत्राप्यमरः । पत्रोदरे पत्रमिवोदरं तथोक्तं तस्मिन् पर्णवत्कृशोदरे । पुरुषोत्तमं पुरुषेषूत्तमस्तथोक्तस्तं पुरुषश्रेष्ठम् । तं मुनिसुव्रतस्वामिनं । दधाना दधन इति दधाना "सलङ्" इत्यादिना आनश् प्रत्ययः । प्रियस्य प्राणनाथस्य । आर्तवं ऋतुषु भवमार्तवं समस्तर्तुसंभूतं । उष्णशीतं उष्णं च शीतं च उष्णशीतं तद्द्वन्द्वैकत्वं उष्मशीतलं । नुदति नुदतीति नुदति अपहरति शतृप्रत्ययान्तात् "नृदुगिद्" इत्यादिना ङी । उच्चैस्तनी उच्चैस्तनौ यस्याः सा तथोक्ता पीनोत्तुंगपयोधरा । इयं एषा देवी । सांद्रा छाया यस्याः सा तथोक्ता निबिडानातपवती । पत्रोदरे पत्रस्योदरं पत्रोदरं तस्मिन् पर्णांतर्भागे । तं प्रसिद्धं । पुरुषोत्तमं नारायणं "श्रीपतिः पुरुषोत्तमः" इत्यमरः । दधाना धरन्ती । प्रियस्य प्रीतिमज्जनस्य । आर्तवं ऋतुषु भवं उष्णशीतं नुदति । उच्चैस्तनी उच्चैर्भवा तथोक्ता । "सायं चिरं प्राह्णेप्रगेऽव्ययात्" इति अनट् प्रत्ययः अतिमहतीत्यर्थः । "अल्पे नीचैर्महत्युच्चैः" इत्यमरः । न्यग्रोधशाखा न्यग्रोधस्य शाखा तथोक्ता सेव । रराज राजृ दीप्तौ लिट् श्लेषोपमा । यदाह—"शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले तु शीतलं । कूपोदकं वटच्छाया तांबूलं तरुणीस्तनौ" इति । सप्तसागराणां परतः विष्णुर्वटपत्रे शेत इति लौकिकोक्तिरुपमीयते ॥ १ ॥

भा० अ०—सदा ज्योतिर्मयी, उन्नतस्तनी पत्रवत् कृशोदर में तीर्थङ्कर भगवान को धारण किये हुई पद्मावती पत्रान्तर्भाग में नारायण भगवान को धारण किये हुई सघन छायावली वटच्छाया के समान अपने प्रियतम का ऋतुसम्बन्धी शीतोष्णजन्य सन्ताप अपहरण करती हुई शोभती थी ॥१॥

सा गर्भिणी सिंहकिशोरगर्भा गुहेव मेरोरमृतांशुगर्भा ॥
वेलेव सिंधोः स्मृतिरत्नगर्भा रेजेतरां हेमकरंडिकेव ॥२॥

सेत्यादि । गर्भिणी गर्भोऽस्या अस्तीति गर्भिणी अंतर्वत्नी । सा महादेवी । सिंहकिशोरगर्भा सिंहस्य किशोरः पोतो गर्भेऽन्तर्भागे यस्याः सा तथोक्ता । "बालः किशोरः"इत्यमरः । मेरोः मंदरपर्वतस्य । गुहेव गह्वरवत् । अमृतांशुगर्भा अमृतरूपा अंशवो यस्य स तथोक्तस्स एव गर्भे यस्यास्सा तथोक्ता चंद्रयुक्तांतर्भागा । सिंधोः समुद्रस्य । वेलेव तीरमिव । "वेलाब्धितीराब्धिवृध्योः कालमर्यादयोरपि" इति भास्करः । स्मृतिरत्नगर्भा स्मृत्यर्थप्रधानं रत्नं स्मृतिरत्नं तदेव गर्भे यस्यास्सा तथोक्ता चिंतामणिसहितांतर्भागा । "गर्भो भ्रूणेऽर्भके कुक्षौ संधौ पनसकंटके" इति विश्वः । हेमकरंडिकेव हेम्ना विरचिता करंडिका तथोक्ता सुवर्णभाजनमिव । रेजेतरां बभासेतरां । "द्वयोर्विभज्ये च तरप्" इति तरप् प्रत्ययः । गर्भस्थस्य तस्य सिंहकिशोरामृतांशुस्मृतिरत्नदृष्टांतत्वेन क्रमाद्दृश्यत्वगुणाभिगम्यतागुणत्यागगुणभूयिष्ठत्वं सूचितं भवति । तस्यास्तु मेरुगुहासिंधुवेलाहेमकरंडिकादृष्टांतत्वेनानाक्रम्यत्वगांभीर्यदिव्यौषधशुद्धोरस्त्वानि सूचितानि भवन्ति उत्प्रेक्षालंकारः ॥ २ ॥

भा० अ०—गर्भवती महादेवी पद्मावती सिंहशिशु को रक्खे हुई गिरि-गुहा के तुल्य, चन्द्रगर्भा समुद्र वेलाके समान और चिन्तामणियुक्त सुवर्ण-मंजूषा के सदृश ज्ञात होती थीं ॥२॥

वल्ली वसंतात्सरसी घनांतात्संपन्नयाच्चन्द्रमसोऽब्धिवेला ॥
यथा तथाऽजायत सा कृशांगी गर्भार्भकादुज्वलरूपसंपत् ॥३॥

वल्लीत्यादि । कृशांगी कृशं अंगं यस्याः सा तथोक्ता तन्वी । सा पद्मावती । वसंतात् वसंतकालात् । वल्ली लता । घनांतात् घनस्य अन्तस्तथोक्तस्तस्मात् वर्षकालांतात् शरत्कालादित्यर्थः । सरसी सरोवरः । नयात् नीतिमार्गात् । संपत् । चंद्रमसः चन्द्रात् । अब्धिवेला अब्धेर्वेला तथोक्ता । यथा येन प्रकारेण यथा । तथा तेन प्रकारेण तथा । गर्भार्भकात् गर्भे विद्यमानोऽर्भको गर्भार्भकस्तस्मात् । उज्वलरूपसंपत् रूपस्य संपत् रूपसंपत् उज्वला रूपसंपत् यस्यास्सा तथोक्ता । अजायत अभूत् । जनैङ् प्रादुर्भावे लङ् ।

भा० अ०—वसन्तागमन से वल्ली के समान, शरत्काल से सरसी के समान, सुन्दर-नय से सम्पत्ति के समान तथा चन्द्रमा से समुद्र-वेला के समान गर्भस्थित बालक से कृशांगी पद्मावती अत्यन्त उज्ज्वल सौन्दर्य्य-सम्पत्ति से सम्पन्न हुई ॥३॥

जिनस्य माहात्म्यपदेन हृष्टौ सामिप्यलाभेन कुचौ तदीयौ ॥
न बिभ्रतुः श्यामलतां मुखेऽल्पामप्येष नो हर्षयतीह कांस्कान् ॥४॥

जिनस्येत्यादि । जिनस्य जिनबालकस्य । सामिप्यलाभेन समीपमेव सामिप्यं तस्य लाभस्तथोक्तस्तेन आसन्नतालाभेन । माहात्म्यपदेन महांश्चासावात्मा च महात्मा तस्य

भावस्तथोक्तं महात्म्यमेव पदं व्याजस्तेन महत्त्वव्याजेन। हृष्टौ हृष्येतेस्म हृष्टौ संतुष्टौ। तदीयौ तस्याः इमौ तदीयौ पद्मावतीसंबंधिनौ। कुचौ स्तनौ। मुखे वक्त्रे अग्रे च चूचुक इत्यर्थः। अल्पामपि स्तोकामपि। श्यामलतां श्यामलस्य भावः श्यामलता तां कृष्णत्वम्। न बिभ्रतुः न धरतःस्म भृञ् भरणे लिट्। तथाहि—एषः अयं सामिप्यलाभः। इह अस्मिन्निह। काँस्कान् कान् कान् "काँस्कान् सीसक्" इति निपातनात्सिद्धं। नो हर्षयति न संतोषयति अपि तु सर्वान् हर्षयत्येव। हृषु अलीके लट् अतिशयालंकारः॥४॥

भा० अ०—जिनेन्द्र भगवान के समीप रहने से अथवा जिनेन्द्र भगवान की महिमा की अधिकता से पद्मावती के दोनों स्तनों ने जरा भी कृष्णता धारण नहीं की। जिनेन्द्र भगवान् का सामिप्य-लाभ इस संसार में भला किसको प्रसन्न नहीं कर सकता है॥४॥

सुतस्य गंभीरतरस्य संगात्तस्योदरिण्या अपि राजपत्न्याः ।
नाभिर्न तत्याज गभीरभावं गुणाँस्त्यजेत्को गुणिसंगमेन ॥५॥

सुतस्येत्यादि। उदरिण्या अपि उदरमस्या अस्तीत्युदरिणी तस्याः गर्भिण्या अपि। राजपत्न्याः राज्ञः पत्नी तथोक्ता तस्याः पद्मावत्याः। नाभिः नाभिस्थानं। गंभीरतरस्य प्रकृष्टो गंभीरो गंभीरतरस्तस्य अत्यंतगंभीरस्य। तस्य सुतस्य जिनबालकस्य। संगात् संसर्गात्। गभीरभावं गभीरस्य भावस्तथोक्तस्तं निम्नत्वं गंभीरत्वं। न तत्याज न मुमोच। त्यज हानौ लिट् "निम्नं गभीरं गंभीरम्" इत्यमरः। तथाहि—गुणिसंगमेन गुणास्संत्यस्येति गुणी तस्य संगमस्तथोक्तस्तेन गुणवतस्संसर्गेण। गुणान् गांभीर्यादिस्वभावान्। कः को वा पुरुषः। त्यजेत् मुंचेत् त्यज हानौ लिट्। अर्थांतरन्यासः॥५॥

भा० अ०—गर्भवती होती हुई भी राजमहिषी पद्मावती की नाभी ने गांभीर्य गुणशाली उन तीर्थङ्कर-रूप पुत्र के समागम से अपनी स्वभाविक निम्नता नहीं छोड़ी। गुणी के आ जाने पर कौनसा व्यक्ति अपना गुण छोड़ सकता है?॥५॥

गर्भेऽपि बोधत्रयनायकोऽयमितीदमावेदयितुं किलास्याः ॥
वलिप्रभावाद्वलयो न नष्टाः सनाभिनाशं भुवि के सहन्ते ॥६॥

गर्भ इत्यादि। अयं जिनबालकः। गर्भेऽपि उदरेऽपि। बोधत्रयनायकः बोधानां त्रयं बोधत्रयं तस्य नायकस्तथोक्तः मतिश्रुतावधिरूपज्ञानत्रयस्य स्वामी। इति एवं प्रकारवचनं। आवेदयितुं ज्ञापयितुं। अस्याः पद्मावत्याः। वलयः त्रिवलयः। वलिप्रभावात् बलमस्यास्तीति बली तस्य प्रभावस्तस्मात् "यमकश्लेषचित्रेषु वबयोर्डलयोरभेदः" इति वाग्भट्टभाषणात् बवयोरभेदः। बलवतोऽनंतवीर्यवतोऽर्हतः सामर्थ्यात् पक्षे वलिनां च प्रभावात्। न नष्टाः न नश्यंतिस्म न

नष्टाः अदृश्यतां नापुः। तथाहि—भुवि भुवां। सनाभिनाशं नाभिना सह वर्तत इति सनाभिस्तस्य नाशस्तथोक्तस्तं संयुक्तनाभयस्त्रिवलयस्तन्नाशं बंधुनाशं सपिंडनाशमितिध्वनिः "सनाभिस्सगोत्रो बंधुश्च" इति धनंजयः। के सहन्ते के क्षमंते न केऽपीत्यर्थः सह मर्षणे लोट्। अर्थांतरन्यासः ॥६॥

भा० अ०—मति-श्रुति-अवधि ज्ञानत्रय के धारक ये मुनिसुव्रत-नाथ हैं। यह सूचित करने के लिये ही मानो पद्मावती के गर्भ की त्रिवली ज्यों की त्यों रही। अर्थात् नष्ट नहीं हुई थी। ठीक है संसार में सनाभि (सहोदर) का नाश कौन सहन कर सकता है ॥६॥

तत्संगमे सर्वसमृद्धिहेतौ निरन्तरं सत्यपि कुक्षिरस्याः ॥
समृद्धिमल्पामपि न प्रपेदे भाग्यानुसारीणि फलानि कामं ॥७॥

तत्संगम इत्यादि। सर्वसमृद्धिहेतौ सर्वेषां समृद्धिस्सर्वसमृद्धिस्तस्या हेतुस्तस्मिन् सकललोकप्रवृद्धिकारणे। तत्संगमे तस्य संगमस्तत्संगमस्तस्मिन् तज्जिनकुमारसंबंधे। निरन्तरं अंतरान्निर्गतं निरंतरं अनवरतं। सत्यपि विद्यमानेऽपि। अस्याः पद्मावती-देव्याः। कुक्षिः जठरः। अल्पामपि स्तोकामपि। समृद्धिं सम्पूर्तिं। न प्रपेदे न प्राप पदगतौ लिट्। तथाहि—फलानि लब्धयः। कामं यथेष्टं। "कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सितम्" इत्यमरः। भाग्यानुसारीणि भाग्यस्यानुसारीणि अदृष्टानुकूलानि। भवंतीत्यध्याहारः। अर्थांतरन्यासः ॥७॥

भा० अ०—सभी समृद्धि के कारण-भूत श्रीजिनेन्द्र भगवान् के गर्भ में सदा विद्यमान रहने पर भी गर्भ की थोड़ी भी वृद्धि नहीं हुई। क्योंकि कर्म के फल भाग्यानुसार ही हुआ करते हैं ॥७॥

स्मरज्जनानामपि नाशयंतमंतस्तमो नूतनरत्नदीपम् ॥
साक्षाद् दधत्या जिनमंतरस्याः स्प्रष्टुं तमो नैष्ट भियेव जातु ॥८॥

स्मरज्जनानामित्यादि। स्मरंतीति स्मरंतस्ते च ते जनाश्च स्मरज्जनास्तेषां ध्यायल्लोकानामपि। अंतस्तमः अंतर्भागे विद्यमानं तमः अज्ञानध्वांतं। नाशयंतं ध्वंसयंतं। नूतनरत्नदीपं नव एव नूतनः रत्नमिव दीपः नूतनश्चासौ रत्नदीपश्च नूतन रत्नदीपस्तं अपूर्वं अंतस्तमो ध्वंसकत्वान्नूतनत्वम्। साक्षात् प्रत्यक्षं। "साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः" इत्यमरः। जिनं जिनबालकं। अंतः गर्भे। दधत्याः दधातीति दधती तस्याः धरंत्याः। अस्याः पद्मावत्याः। अंतः अंतरंगं तमः अज्ञानतमः। "शोकाज्ञानध्वांतगुणस्वर्भानुरुधिरेषु तमः" इति नानार्थकोषे। स्प्रष्टुं स्पर्शनाय स्प्रष्टुं भियैव भीत्यैव। जातु कदाचिदपि। नैष्ट नदक्षमभूत् ईश ऐश्वर्ये लुङ् ॥८॥

भा० अ०—स्मरण करनेवालों के भी अन्तस्तम को नष्ट करने वाले उन नूतन रत्न प्रदीप रूप जिनेन्द्र भगवान् को साक्षात् धारण करती हुई पद्मावती का अज्ञानान्धकार उस रत्न-प्रदीप को डरके मारे छूने में भी समर्थ नहीं हो सका ॥८॥

गर्भस्य लिंगं परमाणुकल्पमप्येतदंगेष्वनवेक्ष्य रक्षी ॥
जगत्त्रयोद्धारणदोहदेन परं नराणां बुबुधे ससत्वां ॥९॥

गर्भस्येत्यादि । नाराणां मनुष्याणां । रक्षी रक्षतीत्येवं शीलो रक्षी पालकः सुमित्र-भूपालः । एतदंगेषु एतस्या अंगान्येतदंगानि तेषु पद्मावत्यवयवेषु। "अङ्गं गात्रांतिकोपाय-प्रतीकेषु प्रधानकः" इति विश्वः । परमाणुकल्पमपि परमाणुसमानमपि ईषदसमाप्तः परमाणुः परमाणुकल्पस्तं "ईषदसमाप्ते ऽङांदेः कल्पब्देश्यब्देशीयर्" इति कल्प प्रत्ययः । गर्भस्य पिण्डस्य । लिङ्गं चिह्नं । "लिंग चिह्ने ऽपि मानेऽपि सांख्योक्तप्रकृतावपि शिवमूर्तिविशेषेऽपि मेहनेऽपि प्रचक्षते" इति विश्वः । अनवेक्ष्य अनवेक्षणं पूर्वं पश्चातिकंचिदित्यनवेक्ष्य अदृष्ट्वा । परम् केवलं । जगत्त्रयोद्धारणदोहदेन जगतां त्रयं जगत्त्रयं तस्योद्धारणं च तत् दोहदं च तथोक्तं तेन त्रिलोकोद्धारणाभिलाषेण । "अथ दोहदं कामोऽभिलाषस्तर्षश्च" इत्यमरः । ससत्वां सत्वेन सह वर्तत इति ससत्वा तां गर्भसहितां । "आपन्नसत्वा स्याद्गुर्विणी" इत्यमरः । बुबुधे मेने बुधि मनि-ज्ञाने लिट् अनुमानालंकारः ॥९॥

भा० अ०—लोकपाल सुमित्र महाराज ने पद्मावती के शरीर में गर्भ का तनिक भी चिह्न न देख कर केवल त्रिभुवन को उद्धार करने की अभिलाषा से पद्मावती को गर्भवती समझा ॥९॥

संबंधदुःखाखिलजीवमुक्तेर्हेतुं तमक्षार्थगतस्पृहं च ॥
प्रसोष्यती तेन समाभवत्साप्युपाधिवत् स्वच्छतरं हि वस्तु ॥१०॥

संबन्धेत्यादि । संबंधदुःखाखिलजीवमुक्तेः संम्बधादनादिकर्मकृतसंबंधादागतं दुःख-मेषां ते संबंधदुःखा अखिलाश्च ते जीवाश्च तथोक्ताः संबंधदुःखाश्च ते अखिलजीवाश्च तथोक्ता-स्तेषां मुक्तिस्तस्याः अनादिवासनायातभवदुःखयुक्तसर्वजीवमोक्षस्य अनादिविरोधा-गतकारागारादिदुःखयुतनिखिलप्राणिमोचनस्य च हेतुं कारणभूतं "मुक्तिः स्यान्मोचने मोक्षः" इति विश्वः । अक्षार्थगतस्पृहं च अक्षाणामिंद्रियाणामर्थास्तेषु पक्षे स्पर्शनमात्रं तस्मिन् गता स्पृहा यस्य स तं स्पर्शनादिंद्रियविषयवांछारहितमित्यर्थः "अथाक्षमिंद्रिये अथोऽभिधेय-रैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु" इत्यमरः । तं मुनिसुव्रतस्वामिनं । प्रसोष्यतीति प्रसोष्यती प्राप्स्यती । सापि पद्मावत्यपि । तेन जिनेन । समा समाना । अभवत् अभूत् । सम्बन्ध-दुःखाखिलप्राणिमोचनस्य हेतुः पत्युपभोगमात्रस्पर्शनेन्द्रियविषयसुखे गतस्पृहा चाभवदिति

यावत् । तथाहि—स्वच्छतरं प्रकृष्टं स्वच्छं स्वच्छतरं निर्मलतरं । वस्तु स्फटिकादिपदार्थः । उपाधिवद्धि उपरंजकवद्धि । "उपाधिर्धर्मचिन्तायां कैतवेऽपि विशेषणे । कुटुंबव्यापृतेऽपि स्यादुपाधिर्व्याधिचक्रयोः" इति विश्वः । अर्थान्तरन्यासः ॥१०॥

भा० अ०—अनादिकालीन दुःखों से व्याकुल जीव की मुक्ति के कारण तथा इन्द्रियजन्य सुखों से विरत तीर्थङ्कर को पद्मावती उत्पन्न करेगी अतः यह पद्मावती भी उन्हीं के समान हो गयीं। अर्थात् गर्भस्थ जिनेन्द्र भगवान् का शुद्ध प्रतिबिम्ब पड़ने से पद्मावती भी उनके विशुद्ध गुणों को धारण कर जिनेन्द्र-तुल्य हो गयीं। क्योंकि उपाधि-भेद से वस्तु में भी स्वच्छता आ जाती है ॥१०॥

गुणान्वितोऽपास्ततमःप्रपंचः प्रकाशितात्मेतरवस्तुरेषः ॥
बभौ जिनेन्द्रो जठरे जनन्याः दीपो यथा स्फाटिकपात्रमध्ये ॥ ११ ॥

गुणान्वित इत्यादि। गुणान्वितः गुणैरन्वितस्तथोक्तः केवलज्ञानादिगुणयुक्तः । अपास्ततमःप्रपंचः तमसां प्रपंचः तथोक्तः अपास्तः तमःप्रपंचो येन सः निराकृतसमस्ताज्ञानविस्तारः "विपर्यासे विस्तारे च प्रपंचः" इत्यमरः । प्रकाशितात्मेतरवस्तुः आत्मा च इतराणि आत्मेतराणि तानि च वस्तूनि च तथोक्तानि प्रकाशितानि चात्मेतरवस्तूनि च येन सः तथोक्तः प्रकाशितस्वपरपदार्थः बहुव्रीहेराश्रयांगत्वात् पुल्लिङ्गवत्प्रक्रिया । एषः अयं । जिनेन्द्रः जिनानामिन्द्रः जिनेन्द्रः । जनन्याः मातुः । जठरे उदरे । स्फाटिकपात्रमध्ये स्फटिकेन निर्मितं स्फाटिकं तच्च तत् पात्रं च तथोक्तं तस्य मध्यं स्फटिकपात्रमध्यं तस्मिन् । गुणान्वितः गुणेन वर्तिकयान्वितो युक्तः "गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येंद्रियामुख्यतंतुषु" इति वैजयन्ती । अपास्ततमःप्रपंचः तमसां तिमिराणां प्रपंचः समूहस्तथोक्तः अपास्ततमःप्रपंचो यस्य सः तथोक्तः । प्रकाशितात्मेतरवस्तुः प्रकाशितानि आत्मेतरवस्तूनि येन स तथोक्तः प्रकाशितस्वपरपदार्थः । दीपः प्रदीपः । यथा येन प्रकारेण । बभौ भातिस्म। तेन प्रकारेण । बभौ व्यराजत भा दीप्तौ लिट् । गर्भात्पुरैव सुरस्त्रीभिः दिव्यौषधैः कृतशोधनत्वात् जठरस्य स्फाटिकपात्रदृष्टांतत्वम्॥ ११ ॥

भा० अ०—स्फटिकमय पात्र के भीतर प्रदीप के समान केवलज्ञान गुण से युक्त हो अज्ञानान्धकार को दूर किये हुए तथा स्वपर पदार्थ को समुद्भासित किये हुए ये जिनेन्द्र भगवान् अपनी माता के उदर में प्रतिफलित हुए ॥११॥

तद्गर्भवासे निवसन्नपीशः स भास्वरांगो निहतांधकारः ।
तत्याज बोधत्रितयं न तेजस्त्यजेत्करंडेऽपि मणिर्महार्घ्यः ॥१२॥

तद्गर्भवास इत्यादि। भास्वरांगः भासत इत्येवं शीलो भास्वरः भास्वरमंगं यस्य स तथोक्तः "भंजभास्"इत्यादिना वर प्रत्ययः। निहतांधकारः निहतोऽन्धकारो येन स तथोक्तः निराकृतांतस्तमः। सः जिनबालकः। तद्गर्भवासे गर्भे वासो गर्भवासस्तस्या गर्भवासस्तथोक्तस्तस्मिन् पद्मावतीगर्भवासे। निवसन्नपि निवसतीति निवसन् तिष्ठन्नपि। ईशः स्वामी। बोधत्रितयं बोधानां त्रितयं तथोक्तं मतिश्रुतावधिरूपज्ञानत्रयं। न तत्याज न मुमोच त्यज हानौ लिट्। तथाहि—भास्वरांगः भासुरावयवः। निहतांधकारः निराकृततिमिरः। महार्घ्यः महानर्घ्यो यस्य सः महार्घ्यः। "मूल्ये पूजाविधावर्घ्यः" इत्यमरः। मणिः रत्नं। करंडे करंडके। वसन्नपि। तेजः प्रकाशं। न त्यजेत न मुंचेत् त्यज हानौ लिङ्। अर्थान्तरन्यासः ॥१२॥

भा० अ०—प्रकाशमय शरीर वाले तथा अज्ञानान्धकार को विनष्ट किये हुए जिनेन्द्र भगवान् ने गर्भ में वास करके भी मतिश्रुति अवधि ज्ञानत्रय को पिटारी में रक्खी हुई जाज्वल्यमान बहुमूल्य मणि जिस प्रकार अपने तेज को नहीं छोड़ती है उसी प्रकार नहीं छोड़ा ॥१२॥

मासान्पुरे पंचदशानुसंध्यं बंधुर्महेशस्य वसून्यवर्षत् ।
सौधा यदंशुच्छुरिता विरेजुः शैला यथा कर्बुरिताभ्रलिप्ताः ॥१३॥

मासानित्यादि। महेशस्य ईशानस्य। बंधुः कुबेरः। "कुबेरस्त्र्यंबकसखः" इत्यमरः। पुरे राजपुरे। पंचदश पंचभिरधिका दश तथोक्तास्तान् पंचदशमितान् मासान् पर्यंतं "कालाध्वनोर्व्याप्तौ" इति द्वितीया। अनुसंध्यं संध्यां संध्यामनुसंध्यं। "शब्दप्रथा" इत्यादिनाव्ययीभावः "सप्तम्याः" इति विकल्पेन त्रिसंध्यास्वित्यर्थः। वसूनि रत्नानि। "वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु योक्त्रे वके स्माद्वसुहट्टके च। वृद्ध्यौषधश्यामधनेषु रत्ने वसुस्मृतं स्यानमधुरेन्यवच्च" इति-विश्वः। अवर्षत् वृषू सेचने लङ्। यदंशुच्छुरिताः एषां रत्नानामंशवः यदंशवः तैः छुरिताः तथोक्ताः आच्छादिताः। सौधाः राजसदनानि। कर्बुरिताभ्रलिप्ताः कर्बुरं संजातमस्येति कर्बुरितं कर्बुरितं च तत् अभ्रं च तथोक्तं तेन लिप्ताः नानावर्णमेघावृताः। शैलाः पर्वताः। यथा येन प्रकारेण विरेजुः तथा विरेजुरित्यर्थः उत्प्रेक्षालंकारः ॥ १३ ॥

भा० अ०—राजपुरी नगरी में कुबेर ने पन्द्रह मास तक तीनों सन्ध्या रत्न की वृष्टि की। इसी से चित्रित मेघ से लिप्त पर्वत के समान रत्न की चमक से प्रतिभासित कोठों की छतें शोभने लगीं ॥१३॥

स्वनामसार्थीकरणाय भक्तिच्छलेन गत्वातिबलेन राज्ञा ॥
विधित्सितं पुंसवनादिकर्म पुरैव शक्रः स्वयमस्य चक्रे ॥१४॥

स्वनामेत्यादि। स्वनाम स्वस्य नाम स्वनाम शक्नोतीति शक्र इति निजनामधेयं सार्थीकरणाय प्रागसार्थकः इदानीं सार्थस्य करणं तथोक्तं तस्मै सफलकरणनिमित्तम्। शक्रः देवेंद्रः। स्वयं गत्वा यात्वा। भक्तिच्छलेन भक्तिरेव छलं तथोक्तं तेन गुणानुरागव्याजेन। अतिबलेन अति प्रकृष्टं बलं यस्यासावतिबलस्तेन शक्तित्रयाद्यधिकसामर्थ्येन। "प्रकर्षे लंघनेप्यति" इत्यमरः। राज्ञा सुमित्रेण। विधित्सितं विधातुमिष्टं विधित्सितं कर्तुमिष्टं। अस्य मुनिसुव्रतस्वामिनः गर्भस्येति वा। पुंसवनादिकर्म पुंसवनमादिर्यस्य तत् पुंसवनादि कर्म क्रियां। पुरैव पूर्वमेव। चक्रे विदधौ डुकृञ् करणे लिट् ॥१४॥

भा० अ०—इन्द्र अपने नामको सार्थक करने के लिये भक्ति के व्याज से अत्यन्त बलशाली सुमित्र महाराज की करने योग्य जो पुंसवनादि क्रियाये हैं उन्हें स्वयं सम्पादित किया ॥१४॥

मुग्धामरीगानसुधानिपानमुदच्छलान्मीलितचक्षुरेषा ॥
विचिन्वती क्षेमवतोऽपि सूनोः क्षेमित्वमायात्समयं प्रसूतेः ॥१५॥

मुग्धामरीत्यादि। मुग्धामरीगानसुधानिपानमुदच्छलात् मुग्धाः मनोहरांग्यस्ताश्च ता अमर्यश्च मुग्धामर्यस्तासां गानं तथोक्तं। "मुग्धः सुंदरमूढयोः" इति विश्वः। मुग्धामरीगानमेव सुधा तथोक्ता रूपकः तस्या निपानं मुग्धामरीगानसुधानिपानं तस्माज्जाता मुदः प्रमोदः मुद् हर्षे इति धातोः "ज्ञाप्रीगृगुपांत्यात्कः" इति क प्रत्ययत्वाद्दंतत्वं स इति छलं तस्मात् मनोहरांगीदेवस्त्रीणां संगीतामृतसाकल्यपानजनितसंतोषव्याजात्। मीलितचक्षुः मीलिते चक्षुषी यस्यास्सा तथोक्ता। क्षेमवतोपि क्षेममस्यास्तीति क्षेमवान् तस्य क्षेमयुक्तस्यापि। सूनोः नंदनस्य। क्षेमित्वं क्षेममस्यास्तीति क्षेमी तस्य भावः तथोक्तं। विचिन्वती विचिनोतीति तथोक्ता "नृदुगित्" इत्यादिना ङी शतृप्रत्ययः। सम्पादयन्ती। एषा इयं पद्मावती। प्रसूतेः प्रसवस्य। समयं कालं। आयात् आगच्छत् या प्रापणे लङ् ॥१५॥

भा० अ०—भोली भाली देवांगनाओं के गानामृतपानजन्य हर्ष-प्रकर्ष से आँखें मूँदे हुई तथा मंगलमय होते हुए भी अपने पुत्र (मुनिसुव्रत) का कल्याण चाहती हुई पद्मावती को प्रसव का समय आ उपस्थित हुआ ॥१५॥

अवाप्य चैत्रासितपक्षपूर्णामथो तिथिं सश्रवणामसूत ॥
असावहंपूर्विकयेव सूनुं भानुं यथैवेंद्रदिशा तथैव ॥१६॥

अवाप्येत्यादि। अथो अनंतरे "मंगलानंतरारंभप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथोऽथ" इत्यमरः। चैत्रासितपक्षपूर्णां चैत्री पौर्णमासी अस्यास्तीति चैत्रः "सास्यपौर्णमासी" इत्यण् चैत्रश्चासौ मासश्च

चैत्रमासः असितश्चासौ पक्षश्च असितपक्षः चैत्रस्यासितपक्षस्तथोक्तस्य पूर्णा तथोक्ता ताम् चैत्रमासे कृष्णपक्षे पंचम्यां "नंदा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा च तिथयः क्रमात्" इति तिथीनां नामान्तरत्वात्। सश्रवणां श्रवणेन नक्षत्रेण सह वर्तत इति सश्रवणा तां श्रवणनक्षत्रसहितां तिथिम्। अवाप्य अवापनं पूर्वं पश्चात्किंचिदित्यवाप्य लब्ध्वा। असौ पद्मावती देवी। यथैव यस्मिन् काल एव। इन्द्रदिशा इन्द्रस्य दिशा इन्द्रदिशा पूर्वदिक् "दिग्दिशादक्षकन्यागाराशाकाष्ठाहरित्ककुभः" इति जयकीर्तिः। भानुं आदित्यं। असूत असूयत। तथैव तत्काल एव। अहंपूर्विकयेव अहं पूर्वमहं पूर्वमित्युक्तेरहंपूर्विका तया इव परस्परस्पर्धयेव "अहं पूर्वमहं पूर्वमित्यहंपूर्विका स्त्रियाम्" इत्यमरः। सूनुं जिननंदनम् असूत असूयत षूङ् प्राणिप्रसवे लुङ् ॥१६॥

भा० अ०—पूर्व दिशा से सूर्य के समान श्रीमुनिसुव्रतनाथ चैत्र कृष्ण पञ्चमी को श्रवण नक्षत्र में महारानी पद्मावती के उदर से उत्पन्न हुए ॥१६॥

बभुः स्त्रियस्तन्निहतांधकारं नवोदितं विश्वजनैकमित्रम् ॥
विलोकयंत्यः सरसीव सौधे फुल्लाक्षिपद्मा इव पुष्करिण्यः ॥१७॥

बभुरित्यादि। सरसीव सरोवर इव उपमा। सौधे राजसदने। निहतान्धकारं निहतोऽन्धकारो येन स तं निरस्ततिमिरं। नवोदितं नवश्चासौ उदितश्च नवोदितस्तं नूतनजनितम्। विश्वजनैकमित्रं विश्वे च ते जनाश्च तथोक्ताः एकश्चासौ मित्रश्च एकमित्रः विश्वजनानामेकमित्रः तं। सुहृत्पक्षे मित्रशब्दस्य नपुंसकत्वात्तत्पक्षे समासस्तथावसीयः। सकलजनमुख्यसूर्यं सखायं च "द्युमणिस्तरणिर्मित्रः। अथ मित्रं सखा सुहृत्" इत्युभयत्राप्यमरः। तं जिनबालकं। विलोकयंत्यः विलोकयंतीति विलोकयंत्यः वीक्षमाणाः। स्त्रियः वनिताः। फुल्लाक्षिपद्माः फुल्लानि च तान्यक्षीणि च फुल्लाक्षीणि तान्येव पद्मानि यासां ताः उन्मीलितलोचनकमलाः। पुष्करिण्य इव पुष्कराणि संत्यासामिति पुष्करिण्यः नलिन्य इव। बभुः रेजिरे भा दीप्तौ लिट्। श्लेषोपमा ॥१७॥

भा० अ०—सूर्योदय से सरोवर में विकसित कमलनेत्र वाली नलिनी के समान स्त्रियाँ राज-प्रासाद में नवोदित तथा विश्वमात्र के मित्र श्रीमुनिसुव्रत भगवान को उदित देखकर शोभने लगीं ॥१७॥

गृहान्तराले शशिकान्तभित्तित्विषैव निर्वीततमःप्रपंचे ॥
सुरांगना कापि तदा प्रदीपानबोधयत्केवलमंगलार्थम् ॥१८॥

गृहांतराल इत्यादि। तदा तत्समये। कापि सुरांगना देवस्त्री। शशिकांतभित्तित्विषैव शशिकांतस्य भित्तिः शशिकांतभित्तिस्तस्याः त्विट् तयैव इंदुकांतकुड्यकांत्यैव।

निर्वान्ततमःप्रपंचे तमसां प्रपंचस्तमःप्रपंचः निर्वांतस्तमः प्रपंचो यस्मिन् तत् तस्मिन् विहतांधकारसमूहे । "विपर्यासे विस्तरे च प्रपंचः" इत्यमरः । गृहांतराले गृहस्यांतरालं तथोक्तं तस्मिन् राज-सदनमध्ये । केवलमंगलार्थं मंगलाय इदं मंगलार्थं केवलं मंगलार्थं तथोक्तम् मंगलनिमित्तं । "निर्णीते केवलमिति त्रिलिंगं त्वेककृत्स्नयोः" इत्यमरः । न तु तमःप्रपंचापनयनार्थं । प्रदीपान् । अबोधयत् बोधयतिस्म बुधि बोधने णिजन्ताल्लुङ् ॥१८॥

भा० अ०—प्रसूतिका-गृह का भीतरी भाग चन्द्रकान्तमणिमय भित्ति की चमक से ही प्रज्वलित हो रहा था । उस समय वहाँ किसी देवांगना ने जो प्रदीप जलाया था वह केवल मांगलिक विधि की पूर्ति के लिये था न कि प्रकाश के लिये । १८ ।

हतांधकारेऽपि शिशुप्रभावात् गृहोदरे तद्द्युतिपूर्णमेतत् ॥
अजानती काचन रत्नदीपानतिष्ठपद् भक्तिभरेण मुग्धा ॥ १९ ॥

हतांधकार इत्यादि । गृहोदरे गृहस्योदरं तथोक्तं तस्मिन् राजसदनमध्ये । शिशुप्रभावात् शिशोः प्रभावस्तथोक्तस्तस्मात् जिनबालकस्य देहकांतिसामर्थ्यात् । हतांधकारेऽपि हतोंऽधकारो यस्मिन् नष्टांधकारे सत्यपि । एतत् गृहोदरं । अन्वादेशे एनदादेशः । तद्द्युतिपूर्णं तस्य द्युतिस्तद्द्युतिः तया पूर्णं जिनबालकनीलदेहकांतिपूर्णमिति । अजानती अबुध्यमाना । काचन कापि । मुग्धा मूढा । भक्तिभरेण भक्तेर्भरो भक्तिभरस्तेन भक्त्यतिशयेन । रत्नदीपान् रत्नान्येव दीपास्तान् । अतिष्ठपत् । अस्थापयत् । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लुङ् । भ्रांतिमानलंकारः ॥ १९ ॥

भा० अ०—नवोत्पन्न तीर्थङ्कर श्रीमुनिसुव्रतनाथ के प्रभाव से भवन का भीतरी भाग अन्धकार-रहित होने पर भी प्रसूतिकागृह को प्रकाशमय नहीं जानती हुई किसी मुग्धा देवबालाने भक्ति-भारसे रत्न का प्रदीप बाला । १९ ।

अरिष्टहर्म्यस्य सवज्रवेदेर्बालांगनीलद्युतिपूरितस्य ॥
मध्ये विरेजुर्नवदीपमाला मालामणीनामिव वारिराशेः ॥२०॥

अरिष्टेत्यादि । सवज्रवेदेः वज्रस्य वेदिः तया सह वर्तत इति सवज्रवेदिस्तस्य । सवज्रवितर्धितस्य सवज्रवेलस्य च । बालांगनीलद्युतिपूरितस्य बालस्यांगः बालांगः नीला चासौ द्युतिश्च नीलद्युतिः तथोक्ता तया पूरितं तस्य । अरिष्टहर्म्यस्य अरिष्टं च तत् हर्म्यं च तथोक्तस्य । "अरिष्टं सूतिकागृहं" इत्यमरः । मध्ये अंतरे । नवदीपमाला नवाश्च ते दीपाश्च नवदीपास्तेषां माला तथोक्ता नूतनप्रदीपपङ्क्तिः वारिराशेः वारीणां राशिः वारिराशिस्समुद्रस्तस्य । मणीनां रत्नानां मालेव पङ्क्ति-

रिव "मालमुन्नतभूर्माला पङ्क्तौ पुष्पादिधामनि" इति नानार्थरत्नमालायां। विरेजुः बभुः राजृ दीप्तौ लिट् ॥ उपमालङ्कारः ॥ २० ॥

भा० अ०—बच्चे के अंगकी नीलद्युति से परिपूर्ण तथा वज्रवेदी से युक्त प्रसूतिका-गृह के मध्य में प्रदीपपुंज (दीपपंक्ति) समुद्र की मणिराशि के तुल्य शोभते थे। २०।

कुमारजन्मादिमवार्तिकत्राकृतांगभूषो हृषितः क्षितीन्द्रः ॥
विधूतपत्रोद्गतकोरकस्य विधामधान्नीपतरोर्मुहूर्तम् ॥ २१ ॥

कुमारेत्यादि। कुमारजन्मादिमवार्तिकत्राकृतांगभूषः कुमारस्य जन्म कुमार-जन्म आदौ भवः आदिमः "पश्चादाद्यंताग्रादिमः" इति म प्रत्ययः। वार्तया जीवन् वार्तया हरन्वा वार्तिकः आदिमश्चासौ वार्तिकश्च आदिमवार्तिकः कुमारजन्मन आदिमवार्ति-कस्तस्य तस्मै वा देयत्वेनाधीनानि कृता कुमारजन्मादिमवार्तिकत्रा कृता "देयेत्राच" इति त्रा प्रत्ययः अंगस्य भूषा अंगभूषा कुमारजन्मादिमवार्तिकत्रा कृता अंगभूषा यस्य स तथोक्तः। "अंगं गात्रांतिकोपायः प्रतीकेषु प्रधानकः" इति विश्वः। हृषितः हृष्यतेस्म हृषितः संतुष्टः रोमांचितः। क्षितीन्द्रः क्षितेरिन्द्रस्सुमित्रः धराधीश्वरः। मुहूर्तपर्यंतं "कालाध्वनोर्व्याप्तौ" इति द्वितीया। विधूतपत्रोद्गतकोरकस्य विधूतानि पत्राणि यस्य सः तथोक्तः उद्गच्छन्तिस्म उद्गताः उद्गताः कोरका यस्य सः तथोक्तः विधूत-पत्रश्चासौ उद्गतकोरकश्च तथोक्तस्तस्य अपगतपर्णस्योत्पन्नकलिकस्य च। नीपतरोः नीपश्चासौ तरुश्च निपतरुस्तस्य कदंबवृक्षस्य। "नीपप्रियककदंबास्तु हरिप्रियः" इत्यमरः। विधां उपमा "विधा विधौ प्रकारेच" इत्यमरः। अधात् अधरत् डु धाञ् धारणे लुङ ॥२१॥

भा० अ०—पुत्रजन्म का शुभ सम्वाद सुनाने वाले भृत्य को अपने शरीर के सारे आभूषण दे डालने वाले सन्तुष्ट राजा ने पुराने पत्तों को हटाकर कोरकयुक्त कदम्ब वृक्ष की उपमा धारण की। २१।

गंधांबुसिक्ता विरजाः पुरश्रीः श्रीखण्डपंकेन विलिप्तदेहा ॥
दुकूलमुक्तावलिमाल्यरम्या भृशं बभूवात्मपतेः प्रियाय ॥२२॥

गंधांबुसिक्तेत्यादि। गंधांबुसिक्ता गंधेन मिश्रितमंबु गंधांबु तेन सिच्यतेस्म सिक्ता गंधोदकोक्षिता। विरजाः विगतं रजो यस्या सा तथोक्ता अपगतविधूलिः आर्तवविशुद्धा च। "रजः स्यादार्तवे गुणे। रजः परागे रेणौ" इत्यादि विश्वः। श्रीखंड-पंकेन श्रीखंडस्य पंकं तथोक्तं तेन श्रीगंधकर्दमेन। विलिप्तदेहा विलिप्यतेस्म विलिप्तः विलिप्तो देहो यस्यास्सा तथोक्ता। दुकूलमुक्तावलिमाल्यरम्या। दुकूलं च मुक्तानामावलिः

मुक्तावलिश्च माल्यं च दुकूलमुक्तावलिमाल्यानि तैः रम्या क्षौमवस्त्रमुक्ताफलमालाभिर्मनोहरा । पुरश्रीः पत्तनलक्ष्मीः कामिनीति ध्वन्यते । आत्मपतेः आत्मनः पतिस्तथोक्तस्तस्य निजाधिपस्य । प्रियाय प्रीतिनिमित्तं । भृशं अत्यंतं । बभूव भवतिस्म भू सत्तायां लिट् ॥२२॥

भा० अ०—गन्धोदक से सिक्त, रजो रहित अथवा आर्तव-विशुद्ध श्री चन्दन से लिप्तांग तथा साड़ी और मालाओं से रमणीयता धारण किये हुई पुरलक्ष्मी अपने प्रियशासक की प्रीतिपात्र हुई । २२ ।

प्रत्यंगणं कल्पितपंचरत्नरंगालयश्चक्रुरनेकभंगाः ॥
जिनेन्द्रजन्मावसरप्रणश्यत्पयोधरस्रस्तधनुर्विशंकाम् ॥२३॥

प्रत्यंगणमित्यादि । अनेकभंगाः अनेको भंगो यासां तास्तथोक्ताः बहुविधाः । "भंगस्तरंगे रुग्भेदे भेदे जयविपर्यये" इति विश्वः । प्रत्यंगणं अंगणमंगणं प्रति प्रत्यंगणं । कल्पितपंचरत्नरंगालयः पंच च तानि रत्नानि च पंचविधानि रत्नानीति वा पंचरत्नानि रंगाणामालयो रंगालयः पंचरत्नैः कृता रंगालयस्तथोक्ताः कल्प्यंतिस्म कल्पितास्ताश्च ताः पंचरत्नरंगालयश्च तथोक्ताः "रंगो रणे खले रागे नृत्ये रंगं त्रपुण्यपि" इति विश्वः । जिनेंद्रजन्मावसरप्रणश्यत्पयोधरस्रस्तधनुर्विशंकां जिनानामिंद्रो जिनेंद्रस्तस्य जन्म जिनेंद्रजन्म तस्यावसरस्तथोक्तः प्रणश्यतीति प्रणश्यन् पयोधरतीति पयोधरः प्रणश्यंश्चासौ पयोधरश्च तथोक्तः जिनेंद्रजन्मावसरे प्रणश्यत्पयोधरस्तथोक्तः तस्मात्स्रस्तं तथोक्तं "स्रस्तं ध्वस्तं भ्रष्टं स्कन्नं पन्नं च्युतं गलितम्" इत्यमरः । तच्च तत् धनुश्च जिनेन्द्रजन्मावसरप्रणश्यत्पयोधरस्रस्तधनुस्तस्य विशंका तां तथोक्तां जिनेश्वरस्योत्पत्तिकाले विनश्यन्मेघावस्रस्तसुरचापसंदेहम् । चक्रुः कुर्वंतिस्म डुकृञ् करणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥

भा० अ०—जिनेन्द्र भगवान के जन्म-समय में प्रत्येक प्रांगण में पंचरत्न से रचित विविध रंग के मण्डन (चित्रावली), विलीन होते हुए मेघ से इन्द्रधनुष गिरने की शंका किया करते थे । २३ ।

उत्क्षिप्तचित्रध्वजपंक्तयोऽपि समीरमार्गे जिनजन्महृष्टाः ॥
चंचत्पताकाग्रमिवाभ्यनृत्यत्परस्परं गाढमिवालिलिंगुः ॥२४॥

उत्क्षिप्तेत्यादि । समीरमार्गे समीरस्य वायोर्मार्गस्तथोक्तस्तस्मिन् आकाशे । "समीरमारुतमरुज्जगत्प्राणसमीरणाः" इत्यमरः । उत्क्षिप्तचित्रध्वजपंक्तयोऽपि चित्राणि च तानि ध्वजानि च तथोक्तानि उत्क्षिप्तानि च तानि चित्रध्वजानि च उत्क्षिप्तचित्रध्व-

जानि तेषां पंक्तयः तथोक्ता उन्नमितविविधकेतनराजयः किंपुनर्वारांगनादय इत्यपि शब्दार्थः । जिनजन्महृष्टाः जिनस्य जन्म तेन हृष्टा तथोक्ताः । अभ्यनृत्यत् नर्तनं कुर्वत् । चंचत्पताकाग्रमिव चंचंत्यश्च ताः पताकाश्च चंचत्पताकास्तासामग्रं तथोक्तं विलसद्वैजयंत्यग्रम् तदिव । परस्परं अन्योन्यं गाढमिव दृढमिव । आलिलिंगुः आलिंगंतिस्म आलिलिंगुरिव बभुरितिवान्वयः लिगु गतौ लिट् ॥२४॥

भा० अ०—आकाश-मार्ग में जिनेन्द्र भगवान् के जन्म से प्रसन्न होकर मानों नृत्य करती हुई अनेक रंग की ऊंची २ पताकायें कम्पित वैजयन्ती के अग्रभाग के समान प्रतीत होकर परस्पर आलिंगन किया करती थीं ॥ २४ ॥

मृदंगमन्द्रध्वनिमांसलेन गीतेन नृत्यद्गणिकानिकायः ॥
उद्वेलमुज्जृंभितरागवार्धेस्तरंगमालाकृतिमाललम्बे ॥२५॥

मृदंगेत्यादि । नृत्यद्गणिकानिकायः नृत्यन्तीति नृत्यन्त्यः ताश्च ताः गणिकाश्च तथोक्तास्तासां निकायः नृत्यल्लुञ्जिकाप्रकरः । मृदंगमंद्रध्वनिमांसलेन मंद्रश्चासौ ध्वनिश्च मंद्रध्वनिः मृदंगस्य मंद्रध्वनिस्तथोक्तः मृदंगमंद्रध्वनिना मांसलं तेन मुरजगंभीरनिनादपुष्टेन "मंद्रस्तु गंभीरे । बलवान्मांसलोंऽसलः" इत्युभयत्राप्यमरः । गीतेन गानेन । उद्वेलं वेलामुद्गतं यथा भवति तथा । उज्जृम्भितरागवार्धेः राग एव वार्धिस्तथोक्तः उज्जृंभतेस्म उज्जृंभितः स चासौ रागवार्धिश्च तथोक्तस्य प्रवृद्धप्रमोदसमुद्रस्य । तरंगमालाकृतिं तरंगाणां माला तरंगमाला तस्या आकृतिस्तथोक्ता तां ऊर्मिमालाकारं । आललंबे स्वीकरोतिस्म लबु अवस्रंसने लिट् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ २५ ॥

भा० अ०—मृदंग की गंभीर ध्वनिमय गान गा गा कर नाचती हुई अप्सरायें उत्ताल तरंगयुक्त तट वाले आनन्द-समुद्र की तरंग-माला के समान शोभती थीं । २५ ।

भव्याश्चिरं दुःसहगंधबन्धमुक्त्यर्थिनोऽस्मिन्नुदिते विमुक्तिम् ॥
यास्यंति यत्तन्नययुस्तदैव क्षितीन्द्रबंधो यदिदं हि चित्रम् ॥२६॥

भव्या इत्यादि । अस्मिन् जिनेश्वरे । उदिते उदेतिस्म उदितस्तस्मिन् सति । चिरं दीर्घकालं । दुस्सहगंधबंधमुक्त्यर्थिनः दुःखेन महता कष्टेन सह्यत इति दुःसहः दुस्सहो गंधो वासना यस्य सः तथोक्तः दुस्सहगंधश्चासौ बंधश्च तथोक्तः मुक्तिमर्थयंत इत्येवं शिला मुक्त्यर्थिनः दुस्सहगंधबंधस्य मुक्त्यर्थिनस्तथोक्ताः । भव्याः रत्नत्रयाविर्भवनयोग्याः भव्याः विनेयजनाः । विमुक्तिं स्वात्मोपलब्धिं । यास्यंति गमिष्यन्ति । यत्तत् यदेतद्वचः । चित्रं न आश्चर्यं न भवति । किंतु—तदैव तत्समय एव । क्षितीन्द्रबंधः क्षित्याः इन्द्राः क्षितीन्द्राः

तेषां बंद्यस्तथोक्ताः शत्रुभूपालकाराबंधनानि "प्रग्रहोपग्रहौ बंद्यां कारा स्याद् बंधनालये" इत्यमरः। विमुक्तिं मोचनं "मुक्तिः स्यान्मोचने मोक्षे" इति विश्वः। ययुः अगुः। यदिदं यदेतत्। चित्रं हि अथाद्भुतं खलु ॥ २६ ॥

भा० अ०—चिर काल की दुःसह वासना से मुक्ति पाने की इच्छा करने वाले भव्य जीव जिनेन्द्र-मार्त्तण्ड के उदित होने पर मुक्ति पायेंगे इस में तो कोई आश्चर्य ही नहीं है। पर शत्रु भूत राजसमूह जो बन्दी हुए थे वे भी मुक्त हो गये यही आश्चर्य है। अर्थात्- जिनेन्द्र-जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में सभी बन्दी राजे छोड़ दिये गये। २६।

श्रीखंडषंडेन जिनस्य गात्रे सौरभ्यमिभ्यं प्रहितोऽवगंतुम् ॥
प्रभूतभीतेरिव कंपमानश्चचार चारुर्मलयाद्रिवातः ॥२७॥

श्रीखंडे इत्यादि। जिनस्य जिनेश्वरस्य। गात्रे शरीरे। इभ्यं प्रवृद्धं "इभ्य आढ्ये क-रेण्वां तु भवेदिभ्या तु शल्लकौ" इति विश्वः। सौरभ्यं सुरभिरेव सौरभ्यं परिमलं। अवगंतुम् ये ये गत्यर्थास्ते ते ज्ञानार्था इति न्यायाद्बोद्धुं। श्रीखंडषंडेन श्रीखंडानां षंडं तेन श्रीगंधानां कदंबेन "कदंबे षंडमस्त्रियाम्" इत्यमरः। प्रहितः प्रहीयतेस्म तथोक्तः प्रेरितः। चारुः मनोहरः। मलयाद्रिवातः मलयश्चासौ अद्रिश्च मलायाद्रिस्तस्य वातस्तथोक्तः। प्रभूतभीतेरिव प्रभूता चासौ भीतिश्च तथोक्ता तस्या इव प्रचुरभयादिव "प्रचुरं प्राज्यम्" इत्यमरः। कंपमानः कंपत इति कंपमानः वेपमानः। चचार विजहार चर गतिभक्षणयोः लिट् उत्प्रेक्षा ॥२७

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र भगवान् की देह से प्रवाहित होती हुई बढ़ी चढ़ी हुई स्वाभा-विक सुगन्ध श्रीखण्डकदम्ब से जानने के लिए भेजी गयी मलयाद्रि वायु अत्यन्त भय-त्रस्त हो काँप २ कर बहती हुई कीसी ज्ञात होती थी। २७।

प्रकाशते भानुसहस्रतुल्यं तथाप्यहो नेत्रसुखैकहेतुः ॥
कुमारकोऽसाविति लज्जितः किं बभूव मंदोष्णरुचिर्विवस्वान् ॥२८॥

प्रकाशत इत्यादि। विवस्वान् सूर्यः। मंदोष्णरुचिः मंदमुष्णं यस्यास्सा मंदोष्णा रुचिर्यस्यासाविति पुनर्वसः अल्पोष्णकिरणः "स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड् भा" इत्यमरः। बभूव अभूत्। असौ अयं। कुमारः जिनबालकः। भानुसहस्रतुल्यं भानूनां सहस्रं भानुसहस्रं तेन तुल्यं अर्कसहस्रसमं यथा तथा। प्रकाशते भासते काश्रृ दीप्तौ लट्। तथापि- नेत्रसुखैकहेतुः नेत्राणां सुखं तथोक्तं एकश्चासौ हेतुश्च एकहेतुः नेत्रसुखस्य एकहेतुस्तथोक्तः नयनाह्लादनमुख्यहेतुः। अहो आश्चर्यमिति लज्जितः किं। संशयः ॥ २८ ॥

भा० अ०—ये जिनकुमार हजारों सूर्य के तुल्य जाज्वल्यमान होते हुए भी नेत्र-सुखद हो रहे थे यह जानकर ही मानों सूर्य लज्जित हो मन्दोष्ण कान्तियुक्त हो गया। २८।

शुचित्ववृद्धेरसपत्नहेतोर्जिनस्य भक्त्या शुचयः कुरुध्वम् ॥
प्रदक्षिणं यूयमितीव वक्तुं प्रदक्षिणत्वेन शुचिर्दिदीपे ॥२९॥

शुचित्वेत्यादि। शुचयः भो निर्मलाः यूयं शुद्धनिश्चयनयापेक्षया द्रव्यभावकर्मरहितत्वादथवा व्यवहारनयापेक्षया जातिकुलाचाराद्यमलिनत्वाज्जनाः शुचय इत्यामंत्र्यन्ते भवन्तः। शुचित्ववृद्धेः शुचेर्भावः कृत्यं वा शुचित्वं तस्य वृद्धिश्शुचित्ववृद्धिस्तस्याः निर्मलत्ववर्धनस्य। असपत्नहेतोः न विद्यते सपत्नो यस्य सोऽसपत्नः स चासौ हेतुश्च तथोक्तस्तस्य "शत्रुः सपत्नो भ्रातृव्यः प्रत्यनीको द्विषन्मतः" इति हलायुधः। अद्वितीयहेतुभूतस्येत्यर्थः। जिनस्य अर्हन्नाथस्य। प्रदक्षिणं परितिक्रियां। भक्त्या गुणानुरागेण। कुरुध्वं विदध्वं। इति वक्तुमिव वचनाय वक्तुं एवमभिधातुमिव। शुचिः अग्निः। "शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृंगाराषाढयोस्सिते। ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यादुपधाशुद्धमंत्रिणि" इति विश्वः। प्रदक्षिणत्वेन प्रदक्षिणस्य भावः प्रदक्षिणत्वं तेन। दिदीपे ज्वलतिस्म। उत्प्रेक्षा ॥२९॥

भा० अ०—हे पवित्र धर्मात्माओ! तुम पवित्रता के एकमात्र कारण श्रीजिनेन्द्र भगवान् की प्रदक्षिणा करो। मानों ऐसा कहने को कटिबद्ध होकर ही अग्नि प्रदक्षिणारूप से प्रज्वलित हुई। २९।

रजांसि धर्मामृतवर्षणेन जिनांबुवाहः शमयिष्यतीति ॥
न्यवेदयन्नंबुधरा नितांतं रजोहरैर्गंधजलाभिवर्षैः ॥३०॥

रजांसीत्यादि। अंबुधराः अंबूदकं धरंतीत्यंबुधराः मेघाः। रजोहरैः रजांसि हरंतीति रजोहरास्तैः धूलिविनाशकैः। गंधजलाभिवर्षैः गंधेन युक्तानि जलानि तेषामभिवर्षास्तैः परिमलसलिलवृष्टिभिः। जिनांबुवाहः अंबु वहंतीत्यंबुवाहः जिन एवांबुवाहस्तथोक्तः जिनेश्वरमेघः। रूपकः। धर्मामृतवर्षणेन रत्नत्रयात्मको धर्मस्स एवामृतं तस्य वर्षणं तेन धर्मसुधावर्षणेन। रूपकः। रजांसि धूलीः पापपांशूनित्यर्थः। शमयिष्यति दमयिष्यति शमू दमू उपशमने लृट्। नितांतं न्यवेदयन्। सूचयंतिस्म विद् ज्ञाने लङ् उत्प्रेक्षा ॥३०॥

भा० अ०—जिनेन्द्र-जलधर धर्मामृत-वर्षण से सभी जीवों के पापपुंज को नष्ट करेंगे ऐसी बात जानने के लिये ही मानों मेघ ने सुगन्ध जलवृष्टि से सभी धूलिसमूह को नष्ट कर दिया। ३०।

जिनस्य कालारिरितिप्रसिद्धिं विबुध्य भीता इव सेवनाय ॥
वनाय सर्वे सहसावतेरुर्वसंतमुख्याः सममेव कालाः ॥३१॥

जिनस्येत्यादि। कालारिरिति कालस्य यमस्यारिश्शत्रुरिति समयारिरितिध्वनिः। "कृतांतानेहसोः कालः" इत्यमरः। प्रसिद्धिं ख्यातिं। विबुध्य बोधनं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति विबुध्य विज्ञाय। भीता इव बिभ्यतिस्म भीता इव। जिनस्य जिनेश्वरस्य। सेवनाय आराधनाय। वसंतमुख्याः वसंतो मुख्यो येषां ते तथोक्ताः। सर्वे कालाः समस्त-ऋतवः। सममेव सहैव। वनाय इत्यत्र "कर्मणः" इति कर्मणि चतुर्थी वनमलंकर्तुमित्यर्थः। सहसा शीघ्रेण। "अतर्किते सहसा" इत्यमरः अवतेरुः आजग्मुः। तृ प्लवनतरणयोः लट् विभ्रमः ॥३१॥

भा० अ०—कालारि (यम के शत्रु) ऐसी उपाधि जान मानों भयभीत होकर ही बसन्त आदि सभी ऋतुओं ने श्रीजिनेन्द्र भगवान् की सेवा करने के लिये एक ही साथ वन के लिये प्रस्थान किया। ३१।

अहो विभुंक्ते सवितारमेषा तमीश्वरं द्वेष्टि च पश्यतेति ॥
द्विरेफवृत्तिं जिनजन्मदंभादंभोजिनीमुत्पलिनी जहास ॥३२॥

अहो इत्यादि। एषा इयं। सवितारं भानुं पितरं "सवित्री जननी माता जनकस्स-विता पिता। यमुना यमकानीनजनकस्सविता मतः" इत्युभयत्रापि धनंजयः। विभुंक्ते अनु-भवति। तमीश्वरं तम्याः रात्रेरीश्वरः पतिस्तं। "रजनी यामिनी तमी" इत्यमरः। पक्षे तं प्रसिद्धं ईश्वरं धवं। द्वेष्टि च क्रुध्यति च द्विष् अप्रीतौ लट्। अहो हंत अद्भुतं वा। द्विरेफ-वृत्तिं द्विरेफाणां भ्रमराणां वृत्तिर्जीवनं यस्यास्सा तां "वृत्तिर्वर्तनजीवने" इत्यमरः। पक्षे रेफे च ते वृत्ती च रेफवृत्ती अधमवर्तने यस्यास्ताः "रेफो रवर्णे सम्प्रोक्तः कुत्सिते वाच्यवत्पुनः" इति विश्वः। पितृभोगपतिविद्वेषरूपिणीं च वर्तनद्वयवतीमित्यर्थः। अंभोजिनीं अंभोजान्यस्याः संतीत्यंभोजिनी तां पद्मिनीं कामिनीमिति ध्वनिः। पश्यतेति प्रेक्षध्वं लोका इति। जिनजन्म-दंभात् जिनस्य जन्म तथोक्तं जिनजन्मैव दंभस्तस्मात् जिनेशोत्पत्तिव्याजात्। कपटो-ऽस्त्री व्याजदंभोपधयः" इत्यमरः। अन्यथा स्वस्याश्च तद्दोषोपपत्तेः। उत्पलिनी कुमुदिनी उत्पलाः संत्यस्या इत्युत्पलिनी। जहास हसतिस्म हस हसने लिट्। अरुणोदये सत्यपि जिनेंद्रोदयप्रभावादस्फुटदिति भावः। विरोधालंकारः ॥३२॥

भा० अ०—देखो ! कैसी आश्चर्य-जनक घटना है कि, पद्मिनी सूर्य (अपने पिता) का उपभोग तथा चन्द्रमा पति से द्वेष करती है—यह कहती हुई कुमुदिनी ने भ्रमरवृत्ति (नीचा चरण) वाली पद्मिनी की हँसी उड़ायी ॥ ३२॥

अप्यद्ययावन्मधुपाननिष्ठाः संप्रत्यपापा इति गानभंग्या ॥
भृंगा वदंतो विविशुः प्रतीत्यै पद्माग्निकुंडेषु परीत्य विद्मः ॥३३॥

अपीत्यादि । यावदद्यापि एतत्कालपर्यन्तं । मधुपाननिष्ठाः मधुनः पुष्परसस्य पानं तस्मिन्निष्ठाः तत्पराः । "मधु मद्ये पुष्परसे" इत्यमरः । संप्रति इदानीं जिनजननोत्सव इत्यर्थः । अपापा इति न विद्यते पापं येषां ते तथोक्ताः । इति गानभंग्या गानस्य भंगी तथोक्ता तया संगीतरचनया "भंगा तु गणसंज्ञके भंगी प्रकर" इति नानार्थरत्नमालायां । वदन्तः वदंतीति वदंतः । भृंगाः मधुलिहः । प्रतीत्यै शपथाय । पद्माग्निकुंडेषु अग्नेः कुंडानि अग्निकुंडानि पद्मान्येवाग्निकुंडानि तथोक्तानि तेषु रक्तसरोरुहानलकुंडेषु । परीत्य पर्ययणं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति परीत्य प्रदक्षिणीकृत्य । विविशुः विशंतिस्म इति । विद्मः जानीमः विद ज्ञाने लट् उत्प्रेक्षा ॥३३॥

भा० अ०—जान पड़ता है कि अब तक मधुपान में लीन भ्रमरों ने "हम निष्पाप हैं" इस बात को अपने मधुर गानद्वारा सूचित करते हुए प्रतीति (शपथ) के लिये रक्त कमलरूप अग्निकुण्ड में प्रदक्षिणा करते हुए प्रवेश किया। ३३।

मुक्तारजोभिर्बहुकंटकैश्च जिनप्रभावेण समुज्ज्वलात्मा ॥
वसुंधराऽपि प्रमदेन जाता सस्यच्छलांकूरितरोमराजिः ॥३४॥

मुक्तेत्यादि । जिनप्रभावेण जिनस्य प्रभावस्तथोक्तस्तेन जिनेश्वरसामर्थ्येन । रजोभिः धूलिभिः पापैश्च । बहुकंटकैश्च बहूनि कंटकानि तथोक्तानि तैः बहुकंटकैः विघ्नैश्च । मुक्ता मुच्यतेस्म मुक्ता विरहिता । समुज्वलात्मा समुज्वल आत्मा यस्यास्सा तथोक्ता । सम्यक्प्रकाशात्मा । वसुंधरापि भूरपि । प्रमदेन संतोषेण । सस्यच्छलांकूरितरोमराजिः सस्यान्येव च्छलं सस्यच्छलं अंकुरः संजातः अस्या इत्यंकुरिता रोम्णां राजिः तथोक्ता अंकुरिता चासौ रोमराजिश्च तथोक्ता सस्यच्छलेनांकुरिता रोमराजिर्यस्यास्सा तथोक्ता "अंकूरश्चांकुरः प्रोक्तः" इति हलायुधः । "अंकूरोऽकुरमस्त्रियौ" इति वैजयंती च । जाता जायतेस्म जाता सम्भूता । श्लेषः ॥३४॥

भा० अ०—धूलि तथा कंटकों का एकमात्र वहिष्कार किये हुई और जिनेन्द्र भगवान् के प्रभाव से तेजोमय आत्मावाली पृथ्वी ने हर्षाधिक्यसे सस्यसम्पन्नता के बहाने आनन्द के रोंगटे प्रकटित किये ॥ ३४ ॥

स्वभावशुद्धा अपि सर्वजीवाश्चिरं रजोभिः परिभूयमानाः ॥
न केवलं निर्गलितेषु तेषु दधुः प्रसादं ककुभोऽपि सद्यः ॥३५॥

स्वभावेत्यादि । स्वभावशुद्धा अपि स्वभावेन शुद्धास्तथोक्ता अपि स्वरूपेण निर्मलाश्च । रजोभिः ज्ञानावरणादिकर्मरजोभिः । चिरं बहुकालपर्यंतं । परिभूयमानाः परिभूयंत इति परिभूयमानाः समाहियमाणाः । सर्वजीवाः सर्वे च ते जीवाश्च सर्वजीवाः । अखिलभव्यजनाः । तेषु कर्मरजस्सु । निर्गलितेषु जिनोदयप्रभावाद्विगलितेषु सत्सु । केवलं परं । प्रसादं प्रसन्नतां । न दधुः न बभुः । अपितु—स्वभावशुद्धा अपि स्वरूपेणामलाश्च । चिरंदीर्घकालं । रजोभिः मेघरजोभिः । परिभूयमाणाः व्याप्रियमाणाः । ककुभोऽपि दिशोऽपि । सद्यः तदैव । तेषु मेघावरणेषु । निर्गतेषु विगलितेषु । प्रसादं प्रसन्नतां । दधुः धरंतिस्म । डुधाञ् धारणे च लिट् सर्वभव्यप्राणिनो दिशश्च निर्मलतां प्रापुरिति भावः ॥ ३५ ॥

भा० आ०—स्वभावशुद्ध होने पर भी ज्ञानावरणादि कर्मकालिमा से चिरकाल से कलंकित, केवल सभी भव्य जीवों ने ही नहीं बल्कि सभी दिशाओं ने भी जिनजन्मोदय के प्रभाव से कर्मरज के विनष्ट होने पर तुरत स्वच्छता धारण कर ली ॥ ३५ ॥

गृहेषु शंखा भवनामराणां वनामराणां पटहाः पदेषु ॥
ज्योतिस्सुराणां सदनेषु सिंहाः कल्पेषु घंटाः स्वयमेव नेदुः ॥३६॥

गृहेष्वित्यादि । भवनामराणां भवने विद्यमाना अमरा भवनामरास्तेषां भवनवासिदेवानां । गृहेषु सदनेषु । शंखाः शंखवाद्यानि । वनामराणां वने विद्यमाना अमरा वनामरास्तेषां व्यंतरदेवानां । पदेषु स्थलेषु । पटहाः भेर्य्यः । ज्योतिस्सुराणां जोतिर्लोके विद्यमानास्सुराः ज्योतिस्सुरास्तेषां ज्योतिर्देवानां । सदनेषु भवनेषु । सिंहाः सिंहनादाः । कल्पेषु स्वर्गेषु । घंटाः घंटावाद्यानि । स्वयमेव अनन्यप्रेरणयैव । नेदुः रेणुः । नद अव्यक्ते शब्द लिट् ॥ ३६ ॥

भा० अ०—जिनेन्द्र भगवान् के जन्म होते ही भवनवासी देवों के घर में शंख, व्यन्तरवासी अमरों के गृहों में भेरी तथा ज्योतिर्लोकवासी देवताओं के गृहों में सिंहनाद आप से आप बजने लगे ॥ ३६ ॥

पुष्पाः पतंतो नभसः सुधांशोरेणस्य सिंहध्वनिजातभीतेः ॥
पदप्रहारैः पततामुडूनां शंकां तदा विद्रवतो वितेनुः ॥३७॥

पुष्पा इत्यादि । तदा तत्समये । नभसः आकाशात् । पतन्तः पतंतीति पतन्तः । पुष्पाः कुसुमानि । "पुष्पोऽस्त्री कुसुमम्" इति वैजयन्ती । सिंहध्वनिजातभीतेः सिंहस्य ध्वनिस्तथोक्तः सिंहध्वनिना जाता भीतिस्तयोक्ता तस्याः । ज्योतिर्गणसमुद्भूतसिंहनादप्रभवाद्भयात् । विद्रवतः विद्रवतीति विद्रवन् तस्य पलायमानस्य । सुधांशोः सुधारूपा अंशवो

यस्य सः तस्य निशाकरस्य संबंधिनः । एणस्य मृगस्य । पदप्रहारैः पदानां प्रहारास्तैः चरणाभिघातैः । पततां पततीति पततस्तेषां । उडूनां नक्षत्राणां । "तारकाप्युडु वा स्त्रियाम्" इत्यमरः । शंकां संशयं । वितेनुः चक्रुः । तनु विस्तारे लिट् उत्प्रेक्षा ॥३७॥

भा० अ०—आकाश से जो जिनेन्द्र-जन्म-सूचक सुमन-वृष्टि हो रही थी वह सिंह गर्जन से भयत्रस्त अतः भागते हुए चन्द्र-मृग के पाद-प्रहार से गिरते हुए नक्षत्रों का सन्देह उत्पन्न कर रही थी ॥ ३७ ॥

अभ्रात्पतंतो मणयस्तदानीमुच्चंडघंटाध्वनिताडनेन ॥
भिन्नेन्द्रकोशालयतो जनानां मतिं वितेनुर्गलतां मणीनां ॥३८॥

अभ्रादित्यादि । तदानीं तस्मिन्काले तदानीं । अभ्रात् आकाशात् । पतन्तः पततीति पतन्तः । मणयः रत्नानि । उच्चंडघंटाध्वनिताडनेन घंटानां ध्वनिः घंटाध्वनिः उच्चंडश्चासौ घंटाध्वनिश्च तथोक्तः उच्चंडघंटाध्वनेस्ताडनं तेन प्रचंडघंटानिनादप्रहारेण । भिन्नेन्द्रकोशालयतः कोशस्यालयः कोशालयः इन्द्रस्य कोशालयः इन्द्रकोशालयः भिन्नश्चासौ इंद्रकोशालयश्च तथोक्तस्तस्मात्ततः स्फुटितशक्रभांडागारात् । गलतां गलंतीति गलंतस्तेषां पततां । मणीनां रत्नानां । मतिं बुद्धिं । जनानां लोकानां । वितेनुः विदधुः । तनूञ् विस्तारे लिट् उत्प्रेक्षा ॥३८॥

भा० अ०—इस समय कल्पलोक में होती हुई रत्नवृष्टि ने घंटा के गंभीरनाद से छिन्न भिन्न हुए इन्द्र के खजाने से गिरती हुई मणियों का भ्रम उत्पन्न कर दिया ॥ ३८ ॥

जाते जिने माजनि भूजनानां विपत्कणोऽपीति विभुत्वशक्त्या ॥
बंदीकृतानीव भुवि ग्रहाणां बलानि रेजुर्मणयो विकीर्णाः ॥३९॥

जात इत्यादि । विकीर्णाः विकीर्यंतेस्म विकीर्णाः विक्षिप्ताः । मणयः रत्नानि । जिने अर्हदीश्वरे । जाते उत्पन्ने सति । भूजनानां भुवि विद्यमाना जनाः भूजनास्तेषां मानवानां । विपत्कणोऽपि विपदः कणः विपत्कणः आपत्तिलेशोऽपि । "लवलेशकणाणव" इत्यमरः । माजनीति मा भूदिति जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् "दित्यडिण्पेदः" । विभुत्वशक्त्या विभोर्भावो विभुत्वं तस्य शक्तिः विभुत्वशक्तिस्तया प्रभुत्वसामर्थ्येन । भुवि भूमौ । ग्रहाणां नवग्रहाणाम् बलानि सैन्यानि । बंदीकृतानि बंदयः क्रियंतेस्म बंदीकृतानि तानीव कारागारे क्षिप्तानीव "प्रग्रहोपग्रहौ बंद्याम्" इत्यमरः । रेजुः बभुः राजृ दीप्तौ लिट् उत्प्रेक्षा ॥ ३९ ॥

भा० अ०—जिनेन्द्र भगवान् के जन्म लेने पर रत्न-वृष्टि से इधर उधर बिखरी हुई मणियाँ—भूतलवासी जीवों को तनिक भी दुःख नहीं हो—ऐसी धारणा से मानों शासन-

शक्ति के द्वारा कष्टप्रद नवग्रहों की बँधी हुई सेना को सी ज्ञात होती हैं ॥ ३९ ॥

देवोत्तमांगान्यखिलोत्तमानामानम्यपादस्य विभोः प्रणामैः ॥
सार्थं स्वनामैव विधातुकामानानेमुरत्यद्भुतमात्मनैव ॥४०॥

देवोत्तमांगानीत्यादि । अखिलोत्तमानां अखिलाश्च ते उत्तमाश्च तथोक्ताः तेषां समस्तश्रेष्ठ जनानाम् । आनम्यपादस्य आनंतुं योग्यौ आनम्यौ पादौ यस्य स तस्य वा सकलोत्कृष्टजनैरपि वंद्यक्रमस्येत्यर्थः । विभोः मुनिसुव्रतस्य । प्रणामैः नमस्करणैः । स्वनाम स्वस्य नाम तथोक्तं स्वकीयमुत्तमांगाभिधानं । सार्थं अर्थेन सह वर्तत इति सार्थं सफलं । विधातुकामानिव विधातुं कामानिव विधातुकामानिव "तुमो मनस्कामः" इति तुमो मकारस्य लुक् । देवोत्तमांगानि देवानामुत्तमांगानि तथोक्तानि अमरेंद्रशिरांसि । आत्मनैव स्वेनैव । आनेमुः आनमंतिस्म । अत्यद्भुतं अत्याश्चर्यं ॥४०॥

भा० अ०—सभी सभ्यों से वन्दनीय चरणवाले श्रीजिनेन्द्र भगवान् की वन्दना करके, अपने नाम सार्थक करने के इच्छुक इन्द्रों के मस्तक आप से आप झुक जाते हैं यह आश्चर्य है ॥ ४० ॥

जिनामृतांशोरुदितात् त्रिलोक्यामुत्कूलितस्य प्रमदांबुराशेः ॥
प्रत्युच्चलद्वीचिवशेन सत्यं भद्रासनानि द्युसदां विचेलुः ॥४१॥

जिनामृतांशोरित्यादि । उदितात् उदेतिस्म उदितन्तस्मात् । जिनामृतांशोः अमृतरूपा अंशवो यस्य स तथोक्तः जिन एवामृतांशुर्जिनामृतांशुस्तस्मात् । त्रिलोक्यां त्रयाणां लोकानां समहारस्त्रिलोकी तस्यां । उत्कूलितस्य उत्कूलयतिस्म उत्कूलितस्तस्य उद्वेलितस्य । प्रमदांबुराशेः अंबूनां राशिस्तथोक्तः प्रमद एवांबुराशिस्तथोक्तस्तस्य संतोषाब्धेः । प्रत्युच्चलद्वीचिवशेन प्रत्युच्चलंतीति प्रत्युच्चलंत्यस्ताश्च ता वीचयश्च तासां वशः प्रत्युच्चलद्वीचिवशस्तेन उच्चलत्तरंगाधीनत्वेन । द्युसदां दिवि सीदंतीति द्युसदस्तेषां देवानां । भद्रासनानि भद्राणि च तानि आसनानि च भद्रासनानि । विचेलुः चकंपिरे चल कंपने लिट् । सत्यं तथ्यं । उत्प्रेक्षा ॥ ४१ ॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्ररूपी चन्द्रमा के उदय लेने से त्रिभुवन में उद्वेलित हर्षसमुद्र की उत्तुंगतरंग की वश्यता से देवताओं के शुभासन कम्पायमान हुए ॥ ४१ ॥

विज्ञाय तेनाधिपजन्मपीठादुत्थाय सप्तैत्य पदानि नत्वा ॥
प्रादापयन्मेघहयोऽतिमेघां प्रस्थानभेरीमभिषेक्तुकामः ॥४२॥

विज्ञायेत्यादि । मेघहयः मेघ एव हयोऽश्वो यस्य सः मेघवाहनश्शक्रः । "संक्रंदनो

दुश्च्यवनस्तुराषाण्मेघवाहनः" इत्यमरः। तेन भद्रासनकंपनेन । अधिपजन्म अधिकं पातीत्यधिपः तस्य जन्म तथोक्तं जिनेश्वरोत्पत्तिं । विज्ञाय विबुध्य । पीठात् सिंहासनात् । उत्थाय उत्थापनं पूर्वं पश्चात्किंचिदित्युत्थाय । सप्त पदानि । एत्य आयनं पूर्वं पश्चात्किंचिदित्येत्य "प्राक्काले" इति क्त्वा प्रत्ययः । "क्त्वोऽनञः प्यः" इति प्यादेशः "ह्रस्वस्य तक् पिति कृति" इति तगागमः । "ओमाङ्परः" इति पररूपत्वं । नत्वा वंदित्वा । अभिषेक्तुकामः अभिषेचनायाभिषेक्तुं तत् कामयतीति तथोक्तः । "तुमो मनस्कामः" इति मकारस्य लुक् । अतिमेघां मेघमतिक्रान्ता अतिमेघा तां । निराकृतमेघां प्रस्थानभेरीं प्रस्थानस्य भेरी तथोक्ता तां प्रयाणभेरीं । प्रादापयत् अताडयत् दाप् लवने लङ् ॥ ४२ ॥

भा० अ०—इन्द्र महाराज ने आसन के कम्पित होने से जिनेन्द्र भगवान् का जन्म जान सिंहासन से सात डेग आगे बढ़, वन्दना कर जन्माभिषेक करने की इच्छा से गंभीर ध्वनि से मेघ को भी पददलित करने वाली भेरी बजाई ॥ ४२ ॥

शंखादयोऽर्हज्जननं प्रणादैरेकैकलोकं स्वमबूबुधंस्ते ॥
तत्सर्वलोकानभिषेकयात्रां सा बोधयामीति मदादिवाप ॥४३॥

शंखादय इत्यादि । शंखादयः शंख आदिर्येषां ते तथोक्ताः शंखपूर्वाः । अर्हज्जननं अर्हतो जननं तथोक्तं । प्रणादैः ध्वनिभिः । स्वं स्वकीयं । एकैकलोकं एकैकश्चासौ लोकश्च एकैकलोकस्तं एकमेकं लोकं । "वीप्सायाम्" इति द्विः । अबूबुधन् अबोधयन् बुधिमनि ज्ञाने णिजन्ताल्लुङ् "णेरिक्ते" इत्यादिना णिलुक् "कमूश्रि" इत्यादिना ङ् प्रत्ययः "द्विर्धातुः" इत्यादिना द्विः । "लघोः" इत्यादिना पूर्वस्य दीर्घः । सा भेरी । तत्सर्वलोकान् सर्वे च ते लोकाश्च तथोक्ताः ते च ते सर्वलोकाश्च तथोक्तास्तान् भवनादिसकललोकान् । अभिषेकयात्रां अभिषेकस्य यात्रा तथोक्ता तां जन्माभिषेकयानं । बोधयामीति ज्ञापयामीव बुधिमनि ज्ञाने लट् । मदादिव गर्वादिव । आप ययौ आप्लृ व्याप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ ४३ ॥

भा० अ०—शंख आदि वाद्योंने अपने गम्भीर निनाद से श्रीजिनेन्द्र भगवान् के जन्म की सूचना अपने प्रत्येक लोक को देदी । तत्पश्चात् "मैं सभी लोगों को जिन-जन्माभिषे की विज्ञप्ति से विज्ञप्त करती हूँ" मानों ऐसे आवेश में आकर ही भेरी बड़े अभिमान से बजी ॥ ४३ ॥

ज्योतिष्कवन्योरगकल्पनाथा भेरीप्रणादादवगत्य यातम् ॥
विभूषितांगाः सपरिच्छदाः खे विलोकयन्तः शतमन्युमस्थुः ॥४४ ॥

ज्योतिष्केत्यादि । ज्योतिष्कवन्योरगकल्पनाथाः ज्योतींषि एव ज्योतिष्काः वने-

भवाः वन्याः ज्योतिष्काश्च वन्याश्च उरगाश्च कल्पानां नाथाः कल्पनाथाश्च तथोक्ताः । भेरिप्रणादात् भेर्याः प्रणादस्तस्मात् दुन्दुभिनादात् । यात्रां प्रयाणं । अवगत्य ज्ञात्वा । विभूषितांगाः विभूष्यतेस्म विभूषितं विभूषितमंगं एषां ते तथोक्ताः अलंकृतशरीराः । सपरिच्छदाः परिच्छदेन सह वर्तंत इति तथोक्ताः परिवारसहिताः । शतमन्युं देवेन्द्रं । विलोकयंतः विलोकयंतीति तथोक्ताः शतृप्रत्ययः । वीक्षमाणाः खे आकाशे । तस्थुः आसिरे ष्ठा गतिनिवृत्तौ लुङ् ॥ ४४ ॥

भा० अ०—ज्योतिष्क, भवन तथा कल्पवासी सभी इन्द्र अपने परिवार-सहित दुन्दुभिनिनाद से जन्माभिषेक-यात्रा जान कर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो आकाश में देवेन्द्र की प्रतीक्षा कर रहे थे ॥ ४४ ॥

सामानिकैर्दिक्पतिभिः पदातिगंधर्वहस्त्यश्वरथाद्यनीकैः ।
शरीररक्षैश्च समन्वितोऽयं शच्या सहाऽस्थाय गजं प्रतस्थे ॥४५॥

सामानिकैरित्यादि । सामानिकैः सामानिकदेवैः । दिक्पतिभिः दिशां पतयस्तथोक्तास्तैः । पदातिगंधर्वहस्त्यश्वरथाद्यनीकैः पदातयश्च गंधर्वाश्च हस्तिनश्च अश्वाश्च रथाश्च पदातिगन्धर्वहस्त्यश्वरथास्ते आदिर्येषां तानि तथोक्तानि पदातिगन्धर्वहस्त्यश्वरथादीनि च तान्यनीकानि च तथोक्तानि तैः आदिशब्देन वृषभमहिषनर्तकयानीकैः शरीररक्षैश्च अंगरक्षकसुरैश्च समन्वितः समन्वेतिस्म समन्वितः सहितः । शच्या इन्द्राण्या । समं सह । अयं सौधर्मेन्द्रः । गजं ऐरावतगजेन्द्रं । आस्थाय आस्थानं पूर्वं पश्चात्किंचिदित्यास्थाय आरुह्य । प्रतस्थे प्रययौ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् ॥ ४६ ॥

भा० अ०—सामानिक देव, दिक्पाल, गन्धर्व, शरीर-रक्षक तथा शची के और पादाति, हयदल, गजदल तथा रथ-दल आदि सैनिकों के साथ लेकर सौधर्मेन्द्र ने ऐरावत पर चढ़ कर अभिषेकयात्रा के लिये प्रस्थान किया । ४५ ।

सार्थैस्सुरेन्द्रैरतरिभिर्विमानैस्सांयात्रिकोयं जलधिं विहायः ।
संतीर्य चिंतामणिमीशितारं संचेतुमेयाय खनिं कुशाग्रम् ॥४६॥

सार्थैरित्यादि । अयं एषः देवेंद्रः । सांयात्रिकः पोतश्रेष्ठी "सांयात्रिकः पोतवणिक्" इत्यमरः । सुरेंद्रैः शेषामरेंद्रैः । सार्थैः वणिग्निवहैः । "सार्थो वणिक्समूहे स्यादपिसंघातमात्रके" इति विश्वः । विमानैः व्योमयानैः । तरिभिः नौभिः । "स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः" इत्यमरः । विहायः व्योम । "पुंस्याकाशविहायसि" इत्यमरः । जलधिं अंभोनिधिं । संतीर्य संतरणं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति संतीर्य तॄप्लवनतरणयोः "प्राक्काले" इति क्त्वा "क्त्वोनञःप्य" इति प्यः

"अंतोपांतता" इति ऋधातोरिगिति दीर्घः। ईशितारं इष्ट इतीशितारं "भर्त्तेन्द्र इन ईशिता" इति धनंजयः। चिन्तामणिं चिंतितार्थप्रदानो मणिश्चिन्तामणिस्तं। संचेतुं संचयनाय संचेतुं लब्धुं। कुशाग्रं कुशाग्रापरनामधेयं राजपुरं। खनिं आकरं। एयाय इण् गतौ आङ्पूर्वाल्लिट् आययौ रूपकालंकारः ॥ ४६ ॥

भा० अ०—ये देवेन्द्र समुद्रयात्रि-रूप से व्यापारीरूप अन्यान्य सुरेन्द्रों के साथ नौकारूपी विमानों के द्वारा समुद्ररूपी आकाश को पार कर समस्त इष्ट पदार्थों को देनेवाली चिन्तामणिरूपी श्रीजिनेन्द्र भगवान् को प्राप्त करने के लिये रत्नद्वीपरूपी कुशाग्र नामक राजपुरी में आये। ४६।

इंद्रोऽथ रुंद्रविभवं गणिकानिकायसंगीतकेलिरुचिरं रचिताष्टशोभं ॥
भक्त्या परीत्य पुरवन्नृपवासमीशं आनेतुमंतरचिरेण ससर्ज कांतां ॥४७॥

इन्द्र इत्यादि। अथ अनंतरं। इन्द्रः पुरंदरः। रुन्द्रविभवं रुंद्रोविभवो यस्य तत् महासंपत्समेतं। गणिकानिकायसंगीतकेलिरुचिरं गणिकानां निकायस्तस्य संगीतं गीतवाद्यनृत्यत्रयं संगीतमितिकेवलगीतमात्रस्य गीतनृत्यवाद्यानामपि संज्ञासंभवात् तस्य केलिः लीला तया रुचिरं सुन्दरं। रचिताष्टशोभं अष्ट च ता शोभाश्च अष्टशोभाः रचिताष्टशोभा यस्य तत् निर्मिततोरणाद्यष्टशोभासहितं। नृपवासं नॄन् पातीति नृपस्तस्य वासो नृपवासस्तं नरेन्द्रमंदिरं। पुरवत् पुरमिव पुरवत् पत्तनमिव। भक्त्या भजनं भक्तिस्तया। परीत्य पर्ययणं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति परीत्य पूर्वं पुरं प्रदक्षिणीकृत्य पश्चाद्राजमंदिरं च प्रदक्षिणीकृत्येत्यर्थः। ईशं जिनेश्वरं। आनेतुं आनयनाय आनेतुं संग्रहीतुं। अन्तः हर्म्यस्यार्वाक्। अचिरेण शीघ्रेण। कांतां शचीदेवीं। ससर्ज प्रेषयतिस्म। सृज विसर्गे लिट् ॥ ४७ ॥

इत्यर्हद्दासकृतेः काव्यरत्नस्य टीकायां सुखबोधिन्यां भगवज्जिननोत्सववर्णनो नाम चतुर्थः सर्गोऽयं समाप्तः

भा० अ०—इन्द्र ने बहुधन-सम्पन्न अप्सराओं के नृत्य तथा गीत से सुमनोहर और तोरण वन्दनवार आदि अष्टशोभा से युक्त राजमन्दिर की प्रदक्षिणा के बाद भक्तिपूर्वक श्रीजिनेन्द्र भगवान् को लाने के लिये इन्द्राणी को शीघ्र अन्तःपुर में भेजा। ४७।

इति चतुर्थ सर्ग समाप्त

॥ अथ पंचमः सर्गः ॥

अदृश्यरूपाथ गृहे प्रविश्य ददर्श बालामृतभानुमारात् ।
शची जनन्याः स्थितमंबरांते सुधारसस्यंदिनमीक्षणानाम् ॥ १ ॥

अदृश्यरूपेत्यादि। अथ अनंतरम्। शची इंद्राणी। अदृश्यरूपा द्रष्टुं योग्यं दृश्यं न दृश्यमदृश्यं अदृश्यरूपं यस्यास्सा तथोक्ता परोक्षरूपा। गृहे सदने प्रविश्य प्रवेशं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति प्रविश्य अंतर्गत्वा। जनन्याः मातुः। अंबरांते अंबरस्य वस्त्रस्य गगनस्य वा अंतस्तस्मिन् "अंतोऽस्त्र्यव्ययवहितौ मृत्यौ स्वरूपे निश्चयंति खे। अंबरं वाससि व्योम्नि" इत्यप्यभिधानात्। स्थितं तिष्ठतिस्म स्थितस्तं। ईक्षणानां नेत्राणां। सुधारस-स्यंदिनं सुधायाः रसस्सुधारसः स्यंदत इत्येवं शीलः स्यंदी सुधारसस्य स्यन्दी तथोक्तस्तं अमृतरसस्राविणं। बालामृतभानुं अमृतरूपा भानवो यस्य स तथोक्तः बाल एवामृतभानुस्तथोक्तस्तं बालचन्द्रमसं रूपकः। "भानूरश्मिदिवाकरौ" इत्यमरः। आरात् समीपे। "आराद्दूरसमीपयोः" इत्यमरः। ददर्श पश्यतिस्म दृश्र्प्रेक्षणे लिट् ॥ १ ॥

भा० अ०—इसके बाद अलक्षित रूप से शची ने भीतर महल में प्रवेश कर आँखों के लिये सुधारस स्रावी तथा अपनी माता के अंचल के भीतर बैठे हुए उस बालचन्द्र-रूप जिनबालक को देखा॥१॥

वहंत्यसौ भक्तिरसप्रवाहे दिदृक्षमाणेव दृढावलंबम् ॥
समर्प्य मायाशिशुमंबिकायाः पुरो जहारोन्नतवंशमेनम् ॥ २ ॥

वहंतीत्यादि। भक्तिरसप्रवाहे भक्तिरेव रसस्तथोक्तस्तस्य प्रवाहः भक्तिरसप्रवाहस्तस्मिन् गुणानुरागजलप्रवाहे। वहन्तीति वहन्ती मज्जंती शतृप्रत्ययः "उगिदच" इत्यादिना नम् "नृदुगिद्" इत्यादिना ङी। असौ इयं शची महादेवी। दृढावलंबं दृढं च तत् अवलंबं च तथोक्तं गाढाधारं। दिदृक्षमाणेव दिदृक्षत इति दिदृक्षमाणा "स्मृदृश" इति तङ्त्वादानश् द्रष्टु-मिच्छंतीव। अंबिकायाः जिनजनन्याः। पुरः अग्रे। मायाशिशुं मायारूपः शिशुस्तथोक्तस्तं कपटबालकं। समर्प्य समर्पणं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति स्थापयित्वा। एनं इमं "त्यदादिम्"

इत्यादिनान्वादेशः । उन्नतवंशं उन्नतो वंशो यस्य सः उन्नतश्चासौ वंशश्च तथोक्तस्तं "सद्गोत्रं प्रांशुवेणुं वा द्वौ वंशौ कुलमस्करौ" इत्यमरः । जहार हरतिस्म हृञ् हरणे लिट् श्लेषः ॥ २ ॥

भा० अ०—भक्तिरस-प्रवाह में प्रवाहित होती हुई तथा प्रधान आधार को देखने की इच्छा करती हुई शची ने माता के आगे, कपटमय बालक को रख कर उस उच्च वंशज जिनकुमार को उठा लिया ॥२॥

पाण्योर्जिनं न्यस्य निरीत्य हर्म्याद्व्रजंत्यसौ वल्लभमाभिमुख्यात् ॥
द्विरेफमध्यांबुरुहेव रेजे सरोजिनी भानुमभिस्फुरन्ती ॥ ३ ॥

पाण्योरित्यादि । पाण्योः हस्तयोः । जिनं जिनेश्वरं । न्यस्य न्यसनं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति न्यस्य समर्प्य । हर्म्यात् सौधात् । निरीत्य निर्गत्य । वल्लभं निजप्राणकान्तम् । आभिमुख्यात् अभिमुखमेवाभिमुख्यं तस्मात् सन्मुखात् । व्रजन्ती व्रजतीति व्रजंती । असौ इयं इन्द्राणी । द्विरेफमध्यांबुरुहा द्विरेफो मध्ये यस्य तत् तथोक्तं अंबुनि रोहतीत्यंबुरुहं द्विरेफमध्यमंबुरुहं यस्यास्सा तथोक्ता अंतर्विद्यमानमधुकरकमलयुक्ता । भानुं सूर्यं । अभिस्फुरंती अभिमुखं स्फुरंती भासमाना । सरोजिनीव सरोजानि संत्यस्यामिति सरोजिनी पद्मिनी । रेजे बभौ राजृञ् दीप्तौ लिट् उत्प्रेक्षा ॥३॥

भा० अ०—जिनकुमार को दोनों हाथों में ले राजभवन से निकल कर अपने स्वामी इन्द्र के पास जाती हुई इन्द्राणी, गुञ्जारमय भ्रमरों से अधिष्ठित तथा सूर्य को लक्ष्य करके हर्ष से कम्पित होती हुई कमलिनी के समान शोभती थी ॥ ३ ॥

जिनास्यचंद्रेक्षणमात्रतोऽभूच्चतुर्निकायामररागसिंधुः ॥
विशृंखलो यत्र मुखस्मितानि वितेनिरे फेनविभंगलीलाम् ॥४॥

जिनास्येत्यादि । चतुर्निकायामररागसिंधुः चत्वारो निकाया येषां ते तथोक्ताः चतुर्निकायाश्च ते अमराश्च तथोक्ताः राग एव सिंधुस्तथोक्तः चतुर्निकायामराणां रागसिंधुस्तथोक्तः चतुःसमूहदेवरागसमुद्रः । जिनास्यचंद्रेक्षणमात्रतः जिनस्यास्यं तथोक्तं जिनास्यचंद्रेक्षणमेव जिनास्यचंद्रेक्षणमात्रं तस्मात् जिनास्यचंद्रेक्षणमात्रतः जिनमुखेन्दुदर्शनादेव । विशृंखलः विगता शृंखला यस्य सः तथोक्तः अतिक्रांतवेलः । अभूत् अभवत् । यत्र यस्मिन्यत्र रागसमुद्रे । मुखस्मितानि मुखानां स्मितानि आस्येषद्धसनानि । फेनविभंगलीलां फेनानां विभंगाः फेनविभंगास्तेषां लीला तां डिंडिरखंडलीलां । "भंगस्तरंगे रुग्भेदे भेदे जयविपर्यये" इति विश्वः । वितेनिरे विस्तारयंतिस्म तनूञ् विस्तारे लिट् ॥४॥

भा० अ०—भवन, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा विमानवासी देवताओं का आनन्द-सागर श्रीजिनकुमार का मुख चन्द्र देखते ही उमड़ पड़ा और वहाँ उन (देवों) की मुस्कुराहट समुद्र के फेन-भङ्ग का दृश्य दरसाने लगी ॥ ४ ॥

दिवौकसां बालसुधामरीचिर्जयस्वनापूरितदिक्तटानाम् ॥
हृदक्षिहस्तान् कुमुदेंदुकांतकुशेशयार्थान् कुरुतेस्म सद्यः ॥५॥

दिवौकसामित्यादि । बालसुधामरीचिः सुधारूपाः मरीचयो यस्य स तथोक्तः बाल एव सुधामरीचिस्तथोक्तः जिनबालेंदुः रूपकः । जयस्वनापूरितदिक्तटानां जयेति स्वनस्तेन आपूरितानि जयस्वनापूरितानि दिशां तटानि दिक्तटानि जयस्वनापूरितानि दिक्तटानि येषां ते तथोक्तास्तेषां । दिवौकसां दिवि ओकः स्थानं येषां ते तथोक्तास्तेषां अमराणां "ओकस्सद्माश्रयश्चौकाः" इत्यमरः । हृदक्षिहस्तान् हृच्च अक्षिणी च हस्तौ च हृदक्षिहस्तास्तान् चित्तनेत्रपाणीन् । कुमुदेंदुकांतकुशेशयार्थान् कुमुदश्च इन्दुकान्तश्च कुशेयश्च तानि कुमुदेंदुकांतकुशेशयानि तेषामर्थास्तान् कुवलयचंद्रकांतकमलवाच्यानि "अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु" इत्यमरः । सद्यः तदैव । कुरुतेस्म चक्रे । डुकृञ् करणे "स्मे च लङ्" इति भूतानद्यतनेऽर्थे स्म योगे लट् । जिनचंद्रदर्शनादमर्त्यानां हृदयं कुमुदवद्विकसतिस्म अक्षिणी चंद्रकांत इवाद्रवतां हस्तौ कुशेशयवत् मुकुलितौ बभूवतुरित्यर्थः । यथासंख्यालंकारः ॥५॥

भा० अ०—जयध्वनि से दिशाओं को प्रतिध्वनित किये हुए देवताओं के हृदय, नेत्र तथा हस्तों को जिनकुमाररूप सुधाचन्द्रिका ने कुमुद, चन्द्रकान्त तथा कमल-रूप में परिणत कर दिया । अर्थात् जिनेन्द्र-चन्द्र के दर्शन से देवों के मन कुमुद के समान विकसित, आँख चन्द्रकान्तवत् द्रवित तथा हस्त कमलवत् सम्पुटित हो गये ॥ ५ ॥

जिनांगलावण्यरसप्रपूर्णे निश्शेषमस्मिन् जगदन्तराले ॥
विभासुरं तन्नगरं सुराणामजीजनत्पाशिपुराभिशंकाम् ॥६॥

जिनांगेत्यादि । निश्शेषं शेषान्निर्गतं यथा भवति तथा निश्शेषं । जिनांगलावण्यरसप्रपूर्णे जिनस्यांगं जिनांगं तस्य लावण्यं सौन्दर्यं जिनांगलावण्यं तदेव रसस्तथोक्तः जिनांगलावण्यरसेन प्रपूर्णस्तस्मिन् जिनशरीरकांतिजलपरिपूर्णे । अस्मिन् एतस्मिन् । जगदंतराले जगतामंतरालं तस्मिन् जगन्मध्ये । विभासुरं विभासत इत्येवं शीलं विभासुरं "भंजभासमिदो घुर" इति घुर प्रत्ययः । तन्नगरं तच्च तत् नगरं च तन्नगरं राजपुरं । सुराणां देवानां । पाशिपुराभिशंकां पाशोऽस्यास्तीति पाशी वरुणस्तस्य पुरं पाशिपुरं तस्याभिशंका तां ।

समुद्रस्थवरुणपुरसन्देहं "प्रचेता वरुणः पाशी" इत्यमरः । अजीजनत् अजनयत् जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् उत्प्रेक्षा ॥ ६ ॥

भा० अ०—श्रीजिनकुमार के शरीर-सौन्दर्य्य-रस से परिपूर्ण इस समस्त संसार के बीच में अत्यन्त प्रकाशमय उस राज्य-गृह नगर ने देवताओं को वरुणपुरी की शङ्का उत्पन्न की ॥ ६ ॥

जिगाय शच्या शतमन्युहस्तद्वये कृतस्तन्नयनाचितांगः ॥
जिनार्भको भृंगकुलाभिरामं दामोत्पलानां मणिभाजनस्थं ॥७॥

जिगायेत्यादि । शच्या इन्द्राण्या । शतमन्युहस्तद्वये हस्तयोर्द्वयं हस्तद्वयं तस्मिन् पाकशासनकरयुगले । कृतः क्रियतेस्म कृतः विहितः । तन्नयनाचितांगः तस्येन्द्रस्य नयनानि तन्नयनानि तैराचितं अंगं यस्य स तथोक्तः शक्रस्य सहस्रनेत्रैर्लालितशरीरः । जिनार्भकः जिनश्चासावर्भकश्च तथोक्तः जिनबालकः । भृङ्गकुलाभिरामम् भृङ्गाणां कुलं तेनाभिरामं तथोक्तं भ्रमरसमूहविराजितं । मणिभाजनस्थं मणिभिर्निर्मितं भाजनं मणिभाजनं तस्मिन् तिष्ठतीति तथोक्तं रत्नपात्रस्थितं । उत्पलानां कुवलयानां । दाम माल्यं । जिगाय जयतिस्म जि अभिभवे लिट् "जेर्लिट्सनः" इति कवर्गादेशः । उत्प्रेक्षा ॥ ७ ॥

भा० अ०—इन्द्राणी के द्वारा मणिमय पात्ररूप इन्द्र के दोनों हाथों में रक्खे गये तथा इन्द्र के भ्रमररूप सहस्र दृष्टिपात के लक्ष्यभूत कमलरूप श्रीजिनकुमार ने मणि-जड़ित पात्र में रक्खे हुए भ्रमरमण्डित कमलों की माला को भी विजित कर दिया ॥ ७॥

जिनांगदीप्त्या पिहितस्वकांतिर्विकस्वरस्फारसहस्रनेत्रः ॥
सुराधिनाथः शुशुभेऽञ्जनाद्रिर्यथैव फुल्लस्थलपुंडरीकः ॥८॥

जिनांगेत्यादि । जिनांगदीप्त्या जिनस्यांगं तथोक्तं जिनांगस्य दीप्तिस्तया जिनेश्वरशरीरकांत्या । पिहितस्वकांतिः स्वस्य कांतिः स्वकांतिः पिहिता स्वकांतिर्यस्यासौ तथोक्तः आच्छादितद्युतिः । विकस्वरस्फारसहस्रनेत्रः विकसंतीत्येवं शीलानि विकस्वराणि सहस्रनेत्राणि तथोक्तानि विकस्वराणि स्फाराणि सहस्रनेत्राणि यस्य सः इति बहुपद्व्रसः "स्थेशभास" इत्यादिना वर प्रत्ययः विकसनशीलविशालसहस्रनयनयुतः । सुराधिनाथः सुराणामधिनाथः सुराधिनाथः वृत्रहा । फुल्लस्थलपुंडरीकः स्थले विद्यमानानि पुंडरीकाणि तथोक्तानि फुल्लानि स्थलपुंडरीकाणि यस्य सः तथोक्तः विकसितभूपद्मयुक्तः "पुंडरीकं सितच्छत्रे सितांभोजे च नद्ययोः" इत्यमरः । अंजनाद्रिः अंजनश्चासावद्रिश्च तथोक्तः अञ्जनगिरिः । यथैव

न प्रकारेणैव । शुशुभे रराज शुभ दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥८॥

भा० अ०—श्रीजिनकुमार की अङ्गदीप्ति से आच्छादित शरीरकान्ति वाले तथा सु विशाल सहस्र नेत्र वाले इन्द्र खिले हुए स्थलकमल वाले अञ्जनगिरि के समान शोभने लगे ॥ ८ ॥

करारविंदद्वयभृंगराशिं जिनं पदाब्जद्वितये प्रणम्य ॥
चकार देवाधिपतिर्द्वितीयामनर्घ्यचूडामणिमुत्तमांगे ॥९॥

करारेत्यादि। देवाधिपतिः देवानामधिपतिस्तथोक्तः देवेन्द्रः । करारविंदद्वयभृंगराशिं करावेवारविंदे तथोक्ते रूपकः करारविंदयोर्द्वयं तथोक्तं भृंगाणां राशिस्तथोक्तः भृंगराशिरिव उपमा करारविंदद्वयोर्विद्यमानो भृंगराशिः तथोक्तस्तम् । जिनं जिनबालकं । पदाब्जद्वितये पदे एव अब्जे पदाब्जे रूपकः तयोर्द्वितयं पदाब्जद्वितयं तस्मिन् । प्रणम्य नमस्कृत्य । उत्तमांगे मस्तके । द्वितीयां द्वयोः पूरणां द्वितीयां । अनर्घ्यचूडामणिं न विद्यते अर्घ्यं यस्यास्सा अनर्घ्या चूडाया मणिः अनर्घ्या सा चासौ चूडामणिश्च तथोक्ता तां अमूल्यचूडारत्नं "रत्नं मणिर्द्वयोः" इत्यमरः । चकार विदधे डुकृञ् करणे लिट् ॥ ९ ॥

भा० अ०—सुरपति इन्द्र ने दोनों कर कमलों के भृङ्गसमूह के समान श्रीजिनेन्द्र भगवान् के पादपद्मद्वय की वन्दना करके उन्हें अपने मस्तक पर की एक दूसरी ही अमूल्य मणि बना लिया ॥ ९ ॥

अथैष संसारमहांबुराशिं समुत्तितीर्षुर्जिनपोतमेनं ॥
दधत्कराभ्यां दृढमुत्सवेन स्वसिंधुरस्कंधतटं निनाय ॥१०॥

अथेत्यादि । अथ अनंतरं । संसारमहांबुराशिं चतुर्गतिभ्रमणरूपस्संसारः महाँश्चासावंबुराशिश्च महांबुराशिः संसार एव महांबुराशिस्तथोक्तस्तं पंचसंसारमहासमुद्रं । समुत्तितीर्षुः समुत्तर्तुमिच्छुस्तथोक्तः तरणेच्छुः । एनं इमं । जिनपोतं अर्हन्नावं "पोतः शिशौ वहित्रे च" इति विश्वः । कराभ्यां हस्ताभ्यां । दृढं गाढम् । दधत् दधातीति दधत् धरन् । एषः इन्द्रः । उत्सवेन संभ्रमेण । स्वसिंधुरस्कंधतटं स्वस्य सिंधुरस्स्वसिंधुरः स्कंधस्य तटं तथोक्तं स्वसिंधुरस्य स्कंधतटं तथोक्तं ऐरावता-सनस्थलं निनाय नयतिस्म णीञ् प्रापणे लिट् रूपकः ॥ १० ॥

भा० अ०—इसके बाद संसाररूपी महासमुद्र को पार करने की इच्छा करते हुए इन्द्र ने श्रीजिनकुमार-जहाज को दोनों हाथों से दृढ़ता-पूर्वक पकड़ कर बड़े उत्सव से अपने ऐरावत हाथी के कन्धे पर बैठाया ॥ १० ॥

द्वात्रिंशदास्यानि मुखेऽष्टदंता दंतेऽब्धिरब्धौ बिसिनी बिसिन्यां ॥
द्वात्रिंशदब्जानि दलानि चाब्जे द्वात्रिंशदिंद्रद्विरदस्य रेजुः ॥११॥

द्वात्रिंशदित्यादि। द्वात्रिंशत् द्वाभ्यामधिका त्रिंशत् तथोक्ता। "द्व्यष्टात्रयोऽनशीतौ" इति द्वादेशः। आस्यानि मुखानि। मुखे वदने एकवचनबलादेकस्मिन् इति ज्ञायते। अष्टदंता अष्टदशनाः। दंते अब्धिः आपो धीयंतेऽस्मिन्निति अब्धिः एकः कासारः। "अब्धिः समुद्रे सरसि" इति विश्वः। अब्धौ एकस्मिन्सरसि। बिसिनी एका पद्मिनी। बिसिन्यां अब्जानि अप्सु जायंत इत्यब्जानि कमलानि द्वात्रिंशत् अब्जानि। एकस्मिन् कमले द्वात्रिंशत् दलानि छदानि। च शब्देन एकत्र दले द्वात्रिंशत्सुरनर्त्यः इति शेषः। रेजुः बभुः राजृ दीप्तौ लिट्। रूपकः।

भा० अ० –ऐरावत हाथी के बत्तीस मुख थे, प्रत्येक मुख में आठ आठ दाँत थे, प्रत्येक दाँत में एक एक तालाब था, प्रत्येक तालाब में एक एक कमलिनी तथा प्रत्येक कमलिनी में बत्तीस बत्तीस कमल और कमल के प्रत्येक पत्ते पर बत्तीस बत्तीस देवांगनायें नाचती थीं। २५६ दाँत, ८१९२ कमल, २६२१४४ कमल-पत्र और ८३८८६०८ देवांगनायें थीं ॥ ११ ॥

अस्पृष्टनीरेजदलं नटंत्यो नर्त्यः सुराणामभितो नृसिंहं ।
रंभो वितेनुर्निजवल्लभाशाप्रकाशमानाऽब्जनिवेशनानाम् ॥१२॥

अस्पृष्टेत्यादि। नृसिंहं ना सिंहः इव नृषु सिंहस्तथोक्तः तं नरवरं पुरुषोत्तमं च। "स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुंगवर्षभकुंजराः। सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः" इत्यमरः। अभितः समंततः। "तस्पर्यभि" इत्यादिना अम्। अस्पृष्टनीरेजदलं नीरे जायंत इति नीरेजानि "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति प्रत्ययस्य लुगभावः नीरेजानां दलानि तथोक्तानि अस्पृष्टानि नीरेजदलानि यस्मिन् कर्मणि तत् तथोक्तं। नटंत्यः नटंतीति नटंत्यः। सुराणां देवानां। नर्त्यः नर्तक्यः। निजवल्लभाशाप्रकाशमानाब्जनिवेशनानां निजानां वल्लभस्तस्याशा निजवल्लभाशा तया प्रकाशंत इति प्रकाशमानाः अब्जमेव निवेशनं यासां ताः तथोक्ताः। निजवल्लभाशाप्रकाशमानाश्च ताः अब्जनिवेशनाश्च तथोक्तास्तासां निजनायकाभिप्रायप्रकटीभवत्कमलनिलयानां लक्ष्मीणामित्यर्थः। रम्भः संभ्रमं। वितेनुः विस्तारयंतिस्म। तनु विस्तारे लिट्। उत्प्रेक्षा ॥ १२ ॥

भा० अ० –पुरुषोत्तम श्रीजिनकुमार के चारो तरफ कमल की पँखुरियों को बिना छूए ही नाचती हुई देवांगनायें अपना पति वरने का अभिप्राय प्रकट करती हुई लक्ष्मी (विष्णु-पत्नी) सौन्दर्य का विस्तार करने लगीं ॥ १२ ॥

ईशाननाथः स्वयमातपत्रं दधौ तदूर्ध्वोभयकल्पनाथौ ॥
प्रकीर्णके प्राक्षिपतां परेऽपि यथास्वमासन् करणीयभाजः ॥१३॥

ईशाननाथ इत्यादि । ईशाननाथः ईशानस्य नाथस्तथोक्तः ईशानेंद्रः । स्वयं आत्मा । आतपत्रं छत्रं । दधौ दध्रे । तदूर्ध्वोभयकल्पनाथौ तस्येशानस्योर्ध्वं तदूर्ध्वं उभयौ च तौ कल्पौ च उभयकल्पौ तदूर्ध्वे विद्यमानावुभयकल्पौ तदूर्ध्वोभयकल्पौ तयोर्नाथौ तथोक्तौ । प्रकीर्णे चामरे "चामरं तु प्रकीर्णकम्" इत्यमरः । प्राक्षिपतां अधुनुतां । क्षिप् प्रेरणे लङ् । परेऽपि शेषेंद्रा अपि । यथास्वं स्वमनतिक्रम्य तथास्वं यथायोग्यं । करणीयभाजः कर्तुं योग्यं करणीयं तद्भजंतीति तथोक्ताः कार्यकारिणः । आसन् अभवन् अस् भुवि लङ् ॥ १३ ॥

भा० अ०—ईशानेन्द्र ने श्रीजिनेन्द्र भगवान् के ऊपर स्वयं छत्र लगाया, इनके ऊपर के दोनों कल्पनाथों ने चँवर डोलाये और अन्यान्य इन्द्रों ने भी भिन्न भिन्न आवश्यक कार्यों को यथाशक्ति सम्पन्न किया ॥ १३ ॥

संसारगर्तापतिताखिलैकहस्तावलंबं जिनराजमिन्द्रः ॥
हृदा च दोर्भ्यामवलंबमानः पथा सुराणामथ संप्रतस्थे ॥१४॥

संसारेत्यादि । अथ अनंतरं । इंद्रः पुरंदरः । संसारगर्तापतिताखिलैकहस्तावलंबं संसरणं संसारः स एव गर्तस्तथोक्तः संसारगर्ते आपतंतिस्मेति संसारगर्तापतिताः यद्वा गर्तायामवटे पतिता गर्तापतिताः । "गंडूषगर्जगरहालकिलजालच्छटारभसवर्तकगर्तश्रृंगा" इति स्त्रीपुंसयोरभसः । संसारगर्ता श्च ते अखिलाश्च तथोक्ताः हस्तस्यावलंबो हस्तावलंबः एकश्चासौ हस्तावलंबश्च तथोक्तः संसारगर्तापतिताखिलानामेकहस्तावलंबस्तथोक्तस्तं भवान्धकूपनिपतितनिःशेषप्राणिनां मुख्यहस्तावलंबनं । जिनराजं जिनानां राजा जिनराजस्तं "राजन् सखेः" इत्यट् समासांतः । हृदा हृदयेन तद्गुणस्मरणरूपेण । दोर्भ्यां च भुजाभ्यामपि । अवलंबमानः अवलंबत इत्यवलंबमानः आश्लिष्यमाणस्सन् । सुराणां निर्जराणां । पथा मार्गेण विहायसा । प्रतस्थे प्रययौ ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् "संविप्रावात्" इति तङ् । संसारगर्त्तापतिताखिलैकहस्तावलंबत्वात् तत्पतितस्य स्वस्यावलंबकांक्षयैवेंद्रो जिनराजं हृदा च दोर्भ्यामवलंबतेस्म इति भावः रूपकः ॥ १४ ॥

भा० अ०—संसाररूपी गर्त्ता में गिरे हुए प्राणियों के एकमात्र हस्तावलम्बन श्रीजिनकुमार को इन्द्र ने दोनों हाथों से हृदय से लगाये हुए आकाश मार्ग से प्रस्थान किया ॥१४॥

आकारमात्रेण तुषारशैल का कूटराशेस्तव तुल्यतेति ॥
आकर्णयिष्यन्निव विप्रलापानाकाशमार्गेऽक्रमताभ्रनागः ॥१५॥

आकारमात्रेणेत्यादि। तुषारशैल तुषारैर्युक्तः शैलस्तस्य संबोधनं हे हिमवत्पर्वत। कूटराशेः कूटानां शिखराणां कपटानां च राशिर्यस्य सः तस्य शिखरनिवहयुक्तस्य माया कदंबयुक्तस्य च "मायानिश्चलयंत्रेषु कैतवानृतराशिषु। अयोघने शैलशृंगे सीरांगे कूटम-स्त्रियाम्" इत्यमरः। तव ते। आकारमात्रेण आकार एव आकारमात्रं तेन धवलाकृत्यैव न तु गुणैरितिशेषः। तुल्यता तुल्यस्य भावस्तुल्यता मया सह समानता। केति का भवतीति। विप्रलापान् विरोधवचनानि "विप्रलापो विरोधोक्तिः" इत्यमरः। आकर्णयिष्यन्निव अभ्रनागः ऐरावणः। आकाशमार्गे गगनाध्वने। अक्रमत आयात् क्रमू पादविक्षेपे लङ्। "क्रमोऽनुपसर्गात्" इति तङ् ॥ १५ ॥

भा० अ०—हे हिम शैल ! पर्वत राज !! क्यो तुम केवल अपनी आकृति से ही मेरी बराबरी कर सकते हो ? मानो ऐसी व्यंगपूर्ण बातें सुनाता हुआ ऐरावत हाथी आकाश मार्ग से चला ॥ १५ ॥

आरुह्य नानाविधवाहनानि जिनाग्रवामेतरपृष्ठदिक्षु ॥
क्रमेण वन्योरगकल्पवासिज्योतिष्कनाथा व्यचलन्ससैन्याः ॥१६॥

आरुह्येत्यादि। ससैन्याः सैन्येन सह वर्तंत इति ससैन्याः सेनासहिताः। वन्योरगकल्पवासिज्योतिष्कनाथाः वन्याश्च उरगाश्च कल्पे वसंतीत्येवंशीलाः कल्पवासिनश्च ज्योतिष्काश्च तथोक्तास्तेषां नाथास्तथोक्ताः व्यंतरभवनामरकल्पवासिज्योतिष्केन्द्राः। नानाविधवाहनानि नानाविधो येषां तानि तथोक्तानि नानाविधानि च तानि वाहनानि च नानाविधवाहनानि। आरुह्य आस्थाय। क्रमेण अनुक्रमतः। जिनाग्रवामेतरपृष्ठदिक्षु अग्रं च वामश्च इतरो दक्षिणस्स च पृष्ठं च तथोक्तानि अग्रवामेतरपृष्ठानां दिशस्तथोक्ताः जिनस्याग्रवामेतरपृष्ठदिशश्च तथोक्ताः तासु। अर्हतः पुरोभागवामभागदक्षिणभागपश्चिमभागेषु व्यचलन् अचरन्। चल कंपने लङ् क्रमालंकारः ॥ १६ ॥

भा० अ०—भवन, कल्प, व्यन्तर तथा ज्योतिष्क वासी सभी देवेन्द्र अनेक प्रकार के वाहनों पर चढ़ कर श्रीजिनकुमार के चारो तरफ सैनिकों के साथ चले ॥ १६ ॥

नभोऽन्तरे नाथतनुप्रभाभिः प्रपूरिते प्रोज्वलरत्नकूटाः ॥
बभुर्विमाना कुलिशास्त्रभीतेः समुद्रमग्ना इव सानुमंतः ॥१७॥

नभोंऽतराल इत्यादि । नाथतनुप्रभाभिः तनोः प्रभाः तनुप्रभाः नाथस्य तनुप्रभास्ताभिः जिनेश्वरशरीरकांतिभिः । प्रपूरिते प्रपूर्यतेस्म प्रपूरितं तस्मिन् आपूर्णे । नभोऽन्तरे नभसोऽतरं नभोंऽतरं तस्मिन् अंबरांतराले । प्रोज्वलरत्नकूटाः रत्नैर्निर्मितानि कूटानि तथोक्तानि प्रोज्वलानि रत्नकूटानि येषां ते प्रस्फुरन्मणिशिखराः । विमानाः व्योमयानानि "व्योमयानं विनानोऽस्त्री" इत्यमरः । कुलिशास्त्रभीतेः कुलिशं वज्रमेवास्त्रं आयुधं यस्य सः कुलिशास्त्रश्शक्रस्तस्माज्जाता भीतिस्तस्याः इंद्रस्य गोत्रभिन्नामप्रसिद्धिभयात् । समुद्रमग्नाः मज्जंतिस्म मग्नाः समुद्रे मग्नास्तथोक्ताः । सानुमंत इव सानुरस्त्येषां इति सानुमंतस्त इव अद्रय इव "पर्वतः सानुमान् गिरिः" इति धनंजयः । बभुः रेजुः भा दीप्तौ लिट् उत्प्रेक्षा ॥ १७ ॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र देव की देहद्युति से आकाश-मण्डल के प्रपूरित होने पर अत्युत्तम रत्नमय शिखर वाले विमान वज्रायुध से डर कर समुद्र में मग्न पर्वतों के समान चमकने लगे॥ १७ ॥

जिनांगदीप्त्या दधुरभ्रवीथ्यां तरंगितायां सितचामराणि ॥
सुरावधूतानि कलिंदकन्यातरंगदोलारतहंसलीलाम् ॥१८॥

जिनांगेत्यादि । जिनांगदीप्त्या जिनस्यांगं जिनांगं तस्य दीप्तिस्तया अर्हत्काय कांत्या । तरंगितायां तरंगास्संजाता अस्या इति तरंगिता तस्यां संजाततरंगायां । अभ्रवीथ्यां अभ्रस्य मेघस्य वीथिरभ्रवीथिस्तस्यां व्योमवीथ्याँ । सुरावधूतानि अवधूयंतेस्म अवधूतानि सुरैरवधूतानि तथोक्तानि लेखनिक्षिप्तानि । सितचामराणि चमरीभवानि चामराणि सितानि च तानि चामराणि च तथोक्तानि श्वेतप्रकीर्णकानि । कलिंदकन्यातरंगदोलारतहंसलीलां कलिंदस्य कन्या तस्यास्तरंगास्तयेव दोला रमंतेस्म रताः रताश्च ते हंसाश्च रतहंसाः कलिंदकन्यातरंगदोलायां रतहंसास्तथोक्तास्तेषां लीला तां । यमुनानदीवीचिदोलायां क्रीडितमरालविलासं "कालिंदी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा" इत्यमरः । दधुः धरंतिस्म डुधाञ् धारणे च लिट् । उपमा ॥१८॥

भा० अ०—जिनकुमार की शरीरकान्ति से तरंगित आकाश-वीथी में देवताओं से डोलाये गये श्वेतच्छत्र कालिन्दी (यमुना) की तरङ्गरूपी दोला में लीन हंसों का अनुकरण किये हुए थे ।१८।

चलान्यलीयंत जिनांगरोचिर्वीचिप्रपंचेऽगरुधूमलेखाः ॥
हरेर्विभीताः फणिराजपत्न्यस्तरंगकुंजेष्विव यामुनेषु ॥१९॥

चला इत्यादि । चलाः चलंतीति चला चलंत्यः । अगरुधूमलेखाः अगरोर्धूमास्त-थोक्तास्तेषां लेखाः कालागरुधूमश्रेणयः "रेखायामावलौ रेखा" इति वैजयंती । जिनांगरोचिर्वीचिप्रपंचे जिनस्यांगं जिनांगं तस्य रोचिस्तथोक्ता जिनांगरोचिरेव रोचिषो वा वीचयस्तेषां प्रपंचस्तस्मिन् जिनेंद्रशरीरकांतितरंगसमूहे । हरेः नारायणात् । विभीताः विबिभ्यतिस्म विभीताः । फणिराजपत्न्यः फणाः सन्त्येषामिति फणिनस्तेषां राजा फणिराजस्तस्य पत्न्यः महाशेषवनिताः । यामुनेषु यमुनायाः संबन्धा यामुनास्तेषु यमुनानदीसंबन्धेषु । तरंगकुंजेषु तरंगा एव कुंजाः तरंगकुंजाः तेषु वीचिनिकुंजेषु । :यमुनानदीतरंगाणां कृष्णवर्णत्वाज्जिनांगकांतिसमत्वं रूपकः । न्यलीयंत निलीयंतेस्म । लिङ् श्लेषणे लङ् ॥१६॥

भा० अ० —इधर उधर चारो ओर फैली हुई अगरु (सुगन्ध द्रव्य) की धूम्ररेखायें कृष्णचन्द्र से डर कर यमुना के तरङ्गकुंज में छिपी हुई सर्पराजकी स्त्रियों के समान जिनेन्द्र महाराज की अङ्गद्युतिरूपिणी वीचि में प्रलीन हो गयीं ॥१६॥

नभस्थले नागरुधूमलेखाः स्फुरत्स्फुलिंगा शशिशंकयाऽमी ॥
सितातपत्रग्रसनाय धावद्विधुंतुदा वांतविषस्फुलिंगाः ॥२०॥

नभस्थल इत्यादि । नभसः स्थलं तस्मिन् आकाशप्रदेशे । स्फुरत्स्फुलिंगाः स्फुरंतीति स्फुरन्तः स्फुरन्तः स्फुलिंगा येषां ते तथोक्ताः प्रज्वलदग्निकणयुक्ताः । अमी इमे । अगरुधूमलेखाः अगरोर्धूमा अगरुधूमास्तेषां लेखास्तथोक्ताः कालागरुधूपराजयः । "लेखो लेख्ये सुरे लेखा लिपिराजिकयोर्मता" इति विश्वः । न न भवति । पुनः किमिति चेत्—शशिशंकया शशीति शंका शशिशंका तया चंद्र इति संशयेन । सितातपत्रग्रसनाय सितं च तत् आतपत्रं च तथोक्तं सितातपत्रस्य ग्रसनं तस्मै । वांतविषस्फुलिंगाः विषमयाः स्फुलिंगाः विषस्फुलिंगाः वांताः विषस्फुलिंगा येषां ते तथोक्ताः । धावद्विधुंतुदाः विधुं तुदंतीति विधुंतुदाः "विध्वरुस्तिलात्तुदः" इति खच् "खित्यरुः" इत्यादिना मम् धावंतीति धावंतः धावंतश्च ते विधुंतुदाश्च तथोक्ताः अभिगच्छद्राहवो भवंतीत्यर्थः । अपह्नुत्यलंकारः ॥२०॥

भा० अ०—आकाश में अग्निकण के साथ साथ अगरु आदि की धूम्ररेखाओं ने विष की चिनगारी उगलते हुए राहु जिस प्रकार चन्द्रमा को ग्रस्त करता है उसी प्रकार श्वेतच्छत्र की प्रभा को आच्छादित किया ॥२०॥

अंगारनिक्षिप्तदशांगधूपः संक्रातसंताप इव क्षणेन ॥
आश्लिष्यदुत्थाय पटीरहारकर्पूरकल्हारपयोरुहाणि ॥२१॥

अंगारेत्यादि । अंगारनिक्षिप्तदशांगधूपः अंगारे निक्षिप्तः अंगारनिक्षिप्तः दश अंगानि यस्य सः दशांगः स चासौ धूपश्च दशांगधूपः अंगारनिक्षिप्तश्चासौ दशांगधूपश्च तथोक्तः धूपघटस्यांगारे प्रयुक्तदशांगधूपः । "अथ न स्त्री स्यादंगारः" इत्यमरः । क्षणेन क्षण इति कालभेदः तेन "तास्तुत्रिंशत्क्षणः" इत्यमरः । संक्रांतसंताप इव संक्रामतिस्म संक्रांतः संक्रांतः संतापो यस्यासौ तथोक्तः संवद्धसंज्वर इव । "सन्तापः संज्वरः समौ" इत्यमरः । उत्थाय उत्थापनं पूर्वं पश्चात् किञ्चिदिति ऊर्ध्वं गत्वा । पटीरहारकर्पूरकह्लारपयोरुहाणि पटीरश्च हारश्च कर्पूरश्च कह्लारं च पयोरुहं च तथोक्तानि श्रीगंधमौक्तिकहारघनसारसौगंधिककमलानि । "श्रीखंडः स्यात्पटीरश्च" इति विदग्धचूडामणौ । आश्लिष्यत् आलिंगत् श्लिष् आलिंगने लङ् । एतेषां संतापहारकत्वात्तान्नाश्लिष्यदितियावत् । उत्प्रेक्षा ॥२१॥

भा० अ०—अग्नि में डाले गये दशांगधूपने सन्तप्त होकर शीघ्र ही श्रीखण्ड, कर्पूर तथा सुगन्धित कमल को आलिङ्गन कर लिया । अर्थात्—इन शीतल पदार्थों से मिल कर मानों उसने अपनी ज्वाला शान्त करनी चाही ॥ २१ ॥

गद्येन पद्येन च दंडकेन शशंस गीतेन च गाथया च ॥
मरुद्गणोऽयन्न परं परोऽपि गुहामुखोद्यत्प्रतिशब्ददंभात् ॥२२॥

गद्येनेत्यादि । अयं एषः । मरुद्गणः मरुतां गणो मरुद्गणः निर्जरनिकायः । "मरुतौ पवनामरौ"इत्यमरः । गद्येन अनियतगणेन वाक्यकदंबेन । पद्येन नियतगणेन छंदोनिबद्धेन । दंडकेन कथंचिन्नियतगणेन चंडवृष्ट्यादिना । गीतेन तालनियतेन संगीतेन । गाथया च मात्रानियतेन गाथारूपनिबंधेन । परं केवलं "परोऽरिः परमात्मा च केवले परमव्ययम्" इति नानार्थरत्नमालायां । न शशंस न तुष्टाव । अपि तु परोऽपि —मरुद्गणः गिरिनिकरः । "धनुरमरानिलगिरिषु मरुत्" इति नानार्थरत्नकोषे । "नगः शिलोच्चयोऽद्रिश्च शिखरी त्रिककुन्मरुत्" इति धनंजयश्च । गुहामुखोद्यत्प्रतिशब्ददंभात् गुहायाः मुखं तथोक्तं उदेतीत्युदन् गुहामुखेनोद्यन् तथोक्तः गुहामुखेनोद्यंश्चासौ प्रतिशब्दश्च तथोक्तः गुहामुखोद्यत्प्रतिशब्द इति दंभस्तथोक्तस्तस्मात् कंदरविवरसमुत्पद्यमानप्रतिध्वानव्याजात् । शशंस तुष्टाव शंसूङ् स्तुतौ लिट् । त्रिदशनिकरवद्द्रिनिवहोऽपि स्तुतिमकरोदिति भावः ॥ २२ ॥

भा० अ०—मरुद्गण (देवतादिगण) ने गद्य-पद्य, दण्डक, (एक प्रकार का छन्दोविशेष) गीत तथा गाथा से और मरुद्गण (पर्वत) ने कन्दरा से प्रतिध्वनित शब्दों से भगवान् की स्तुति की ॥ २२ ॥

वियत्तलं वीतघनाघनौघमपि प्रपूर्णं जिनदेवभासा ॥
विभिन्ननीलांजनसंनिभेन पुनर्घनापूर्णमिवाबभासे ॥२३॥

वियत्तलमित्यादि । वीतघनाघनौघः घनाघनानामोघः घनाघनौघः वीतो घनाघनौघो यस्मात्तत् तथोक्तमपि "वर्षाब्दवासवमदगजेरावतसांद्रे घनाघने" इति नानार्थरत्नकोषे । अपगतमेघसमवायमपि । वियत्तलं वियतस्तलं तथोक्तं आकाशप्रदेशः । विभिन्ननीलांजनसंनिभेन विभिद्यतेस्म विभिन्नं तच्च तत् नीलांजनं च तथोक्तं विभिन्ननीलांजनस्य संनिभं तेन स्फुटितकृष्णकज्जलसमानेन "कज्जलदिग्गजानिलकांतास्वंजनं" इति नानार्थरत्नकोषे । जिनदेहभासा जिनस्य देहस्तस्य भासस्तेन जिनाधिपमूर्तिदीप्त्या । प्रपूर्णं प्रपूर्यतेस्म तथोक्तं परिपूर्णं । पुनः भूयः । घनापूर्णमिव घनेनापूर्णं मेघेन परिपूरितमिव । आबभासे भासृङ् दीप्तौ लिट् ॥२३॥

भा० अ०—आकाश मेघ-रहित होने पर भी फैले हुए कृष्णकज्जलतुल्य जिनेन्द्र भगवान की नील देहकान्ति से परिप्लावित हो मेघ से परिपूर्ण ज्ञात होने लगा ॥ २३ ॥

जिनांबुदोऽसाविभदानवृष्टिर्नटीतडिद्वाद्यनिनादगर्जः ॥
विमानमालारुचिकार्मुको दिव्याकालिकीं प्रावृषमाततान ॥२४॥

जिनांबुद इत्यादि । इभदानवृष्टिः इभस्य दानं तथोक्तं इभदानमेव वृष्टिर्यस्य स तथोक्तः ऐरावतमदजलवर्षः "युतस्त्यागगजमदशुद्धिपालनच्छेदेषु दानम्" इति नानार्थरत्नकोषे । नटीतडित् नट्य एव तडितो यस्य स नटीतडित् नर्तकीविद्युत्सहितः । वाद्यनिनादगर्जः वाद्यस्य निनादो वाद्यनिनादः स एव गर्जो यस्य सः तथोक्तः वादित्रध्वनितस्तद्गीतकलितः । विमानमालारुचिकार्मुकः विमानानां माला विमानमाला तस्या रुचिः विमानमालारुचिरेव कार्मुकं यस्य स तथोक्तः विमानपंक्तिकांतिसुरचापसहितः । "रुचिर्मयूखे शोभायामभिषंगाभिलाषयोः" इति विश्वः । असौ अयं । जिनांबुदः अंबु दधातीत्यंबुदः जिन एवांबुदस्तथोक्तः जिनेश्वरमेघः । दिवि आकाशे । आकालिकीं अकाले भवा आकालिकी तां अकालोद्भूतां । "व्यादिभ्यष्ठण्णठौ" इति ठण् । प्रावृषं वर्षाकालं । आततान विस्तारयतिस्म तनूङ् विस्तारे लिट् ॥२४॥

भा० अ०—विमान-पंक्ति की कान्ति ही है धनुष जिसका तथा वाद्य-ध्वनि है गर्जन जिसका, ऐसे नटीरूपिणी बिजली और गजमद-प्रवाहरूपी वृष्टिवाले श्रीजिनेश्वर जलद ने आकाश में असामयिक वर्षा ऋतु की छटा दिखला दी ॥ २४ ॥

अभ्राण्यदभ्राणि सुरेभदन्तप्रोतानि रेजुः परितो जिनेन्द्रम् ॥
उत्क्षिप्यमाणानि मुदामुनेव चंद्राश्मदंडातपवारणानि ॥२५॥

अभ्राणीत्यादि । सुरेभदंतप्रोतानि सुरस्येभः सुरश्चासौ इभश्चेति वा सुरेभस्तस्य दंतास्सुरेभदंताः तैः प्रोतानि ऐरावणरदनसंबंधानि । अदभ्राणि न दभ्राण्यदभ्राणि पृथु-

लानि। "दभ्रं कृशं तनु" इत्यमरः। अभ्राणि मेघाः। जिनेंद्रः जिनानामिंद्रो जिनेन्द्रस्तं। परितः समंतात्। अमुना ऐरावतेन। मुदा संतोषेण। उत्क्षिप्यमाणानि उत्प्रेर्यमाणानि चंद्राश्मदंडातपवारणानि चंद्राश्मना कृताः दंडा एषां तानि चंद्राश्मदंडानि तानि च तानि आतपवारणानि च तथोक्तानि तानिव चंद्रकांतशिलानिर्मितदंडयुक्तछत्राणीव। रेजुः बभुः राजृ दीप्तौ लिट्। उत्प्रेक्षा ॥ २५ ॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र भगवान् के चारो ओर ऐरावत हाथी के दाँतों से ओत प्रोत तथा प्रसन्नता-पूर्वक अवलम्बित जो सघन मेघ थे वे चन्द्रकान्त-मणिमय दण्डयुक्त छत्र के समान शोभते थे ॥ २५ ॥

सेनापदामर्दितपांडुमेघा मुक्तागुरूनभ्रतले बिडालाः ॥
हठेन दध्यन्नधिया व्रजंतः स्कंधादिरूढाननयंत मन्युम् ॥२६॥

सेनेत्यादि। अभ्रतले अभ्रस्य तलं अभ्रतलं तस्मिन् आकाशप्रदेशे। मुक्तागुरून् मुक्ताभिर्गुरवः तान् मुक्ताफलैः स्थूलान् मेघेऽपि मौक्तिकसंभव इति प्रसिद्धिः। सेनापदामर्दितपांडुमेघान् सेनानां पदानि तथोक्तानि सेनापदैरामर्दितास्तथोक्ताः पांडवश्च ते मेघाश्च पांडुमेघाः सेनापदामर्दिताश्च ते पांडुमेघाश्च सेनापदामर्दितपांडुमेघास्तान् सप्तानीकचरणविभिन्नधवलमेघान्। "पांडुः कुन्तीपतौ सिते" इति विश्वः। दध्यन्नधिया दध्ना मिश्रितमन्नं दध्यन्नं तदिति धीः दध्यन्नधीस्तया दध्योदनबुद्ध्या। हठेन बलात्कारेण "प्रसभन्तु बलात्कारो हठम्" इत्यमरः। व्रजंतः गच्छंतः। बिडालाः वाहनमार्जाराः। स्कंधाधिरूढान् अधिरुहंतिस्म अधिरूढास्तथोक्ताः स्कंधमधिरूढा स्कंधाधिरूढास्तान् स्कंधमधिष्ठितान् देवान्। मन्युं रोषं। "मन्युः क्रोधे क्रतौ दैन्ये" इति विश्वः। अनयंत प्रापयंतिस्म णीञ् प्रापणे लङ् द्विकर्मकः। भ्रांतिमानलंकारः ॥ २६ ॥

भा० अ०—आकाश में मुक्ताओं के कारण गुरुतर तथा सेना के चरण-मर्दित होने से धवल मेघों की ओर दधिमिश्रित अन्न समझ कर दौड़ते हुए वाहन बिड़ालों ने कन्धे पर चढ़े हुए देवताओं को क्रुद्ध कर दिया ॥ २६ ॥

प्रयाणवेगानिलनीयमानाः पयोधराः श्यामतनूनिभेन्द्रान् ॥
सगर्जितानूर्जितदानवर्षान् स्वबंधुबुद्ध्या ध्रुवमन्वरुन्धन् ॥२७॥

प्रयाणेत्यादि। प्रयाणवेगानिलनीयमानाः प्रयाणस्य वेगः प्रयाणवेगस्तस्माज्जातोऽनिलः प्रयाणवेगानिलः नीयंत इति नीयमानाः प्रयाणवेगानिलेन नीयमानास्तथोक्ताः निर्याणजवेन जातवायुना प्राप्यमाणाः। पयोधराः पयांसि धरंतीति तथोक्ताः मेघाः। श्यामतनून्

श्यामा तनुर्येषां ते तान् । सगर्जितान् गर्जितेन सह वर्तंत इति सगर्जितास्तान् ध्वनिसहितान्। ऊर्जितदानवर्षान् दानस्य वर्षं दानवर्षं ऊर्जितं दानवर्षं येषां ते तान् प्रवृद्धमदजलवृष्टीन् "दानं गजमदे त्यागे पालनच्छेदशुद्धिषु" इति विश्वः । इभेन्द्रान् इभानामिंद्रा इभेंद्रास्तान् गजेंद्रान् स्वबंधुबुद्ध्या स्वेषां बंधवस्तथोक्ताः स्वबंधव इति बुद्धिस्वबंधुबुद्धिस्तया । ध्रुवं निश्चलं । अन्वरुंधन् अनुकूलमवर्तन्त ॥ २७ ॥

भा० अ०—प्रयाणकालीन वेग से उत्पन्न हुई वायु से सञ्चालित मेघों ने प्रवाहित मदधारा-रूप वृष्टिवाले तथा गर्जन करने वाले श्याम शरीर गजराजों को अपने बन्धु समझ कर उनका अनुसरण किया ॥ २७॥

सदाभियुक्ता वितदामरौघैः सहोत्पला भानुसुता प्रतीये ॥
जिनांगरोचिर्निचयेन दिग्धा विवृद्धहेमांबुरुहा द्युसिंधुः ॥२८॥

सदेत्यादि । जिनांगरोचिर्निचयेन जिनस्यांगं जिनांगं तस्य रोचींषि तथोक्तानि जिनांगरोचिषां निचयो जिनांगरोचिर्निचयस्तेन जिनेश्वरशरीरकांतिसमूहेन । दिग्धाः दिह्यतेस्म दिग्धाः लिप्ताः । विबुद्धहेमाम्बुरुहा अंबुनि रोहतीत्यंबुरुहं हेमरूपमंबुरुहं तथोक्तं विबुध्यतेस्म विबुद्धं विबुद्धं हेमांबुरुहं यस्यास्सा तथोक्ता विकसितारुणारविंदा । द्युसिंधुः दिवि विद्यमाना सिंधुर्द्युसिंधुः देवगंगा । "देशे नदविशेषेऽब्धौ सिंधुर्ना सरिति स्त्रियाम्" इत्यमरः । सदा सर्वस्मिन् काले सदा । अभियुक्तापि अभियुज्यतेस्माभियुक्ता परिचितापि । अमरौघैः अमराणां ओघा अमरौघास्तैः देवसमूहैः । तदा तत्समये । सहोत्पला उत्पलैः सह वर्तत इति सहोत्पला नीलोत्पलसहिता । "वान्यार्थे" इति विकल्पेन सहस्य सभावः । भानुसुता भानोस्सुता तथोक्ता यमुनानदी । प्रतीये ज्ञायतेस्म । इण् गतौ कर्मणि लिट् ॥ २८ ॥

भा० अ०—विकसित सुवर्ण-कमलवाली देवगङ्गा यद्यपि देवताओं की चिरपरिचिता थीं तथापि श्रीजिनेन्द्र भगवान् की नीलदेह-कान्ति से समुद्भासित होने से वह उन्हें पद्मपुंज-मण्डित यमुना की सी प्रतीत हुई ॥ २८ ॥

विशालमाकाशतलं चकाशे विभुप्रभाश्यामलतारकौघम् ॥
विपाकनीलैर्विपुलैः फलौघैः विलंबमानामभिभूय जंबूम् ॥२९॥

विशालमित्यादि । विभुप्रभाश्यामलतारकौघं विभोः प्रभा तथोक्ता विभुप्रभया श्यामलः विभुप्रभाश्यामलः तारकाणामोघस्तारकौघः विभुप्रभाश्यामलस्तारकौघो यस्मिन् तत् तथोक्तं । विशालं विस्तृतं । आकाशतलं आकाशस्य तलं तथोक्तं गगनतलं ।

विपाकनीलैः विपाकेन नीला विपाकनीलाः तैः परिणतया कृष्णैः। विपुलैः रुन्द्रैः। "रुंद्रोरुविपुलम्" इत्यमरः। फलौघैः फलानामोघा फलौघास्तैः। विलंबमाना विलंबत इति विलंबमाना तां विनमंतीम्। जंबूम् जंबूवृक्षं। अभिभूय अभिभवनं पूर्वं पश्चात्किञ्चिदिति तिरस्कृत्य। चकाशे विरेजे काश्रु दीप्तौ लिट्। उत्प्रेक्षा॥ २९॥

भा० अ०—भगवान् की नील प्रभा से श्यामस्वरूप तारागणयुक्त विशाल आकाशमण्डल बड़े बड़े तथा पक जाने के कारण नीले २ फलों से झुके हुए जम्बूवृक्ष को तिरस्कृत किये हुए थे॥ २९॥

स्वशून्यवादे परमागमेन सद्यो निरस्ते विशदांतरस्य॥
व्योम्नो विरेजुः पुलकोपमानि जिनप्रभाश्यामलतारकाणि॥३०॥

स्वशून्यवाद इत्यादि। परमागमेन परमश्चासावागमश्च परमागमस्तेन परमागमश्रुतेन। स्वशून्यवादे शून्यस्य वादः शून्यवादः स्वस्य शून्यवादस्तथोक्तः तस्मिन् निजनास्तिवादे। सद्यः तस्मिन्काले सद्यः तत्समये। निरस्ते सति निरस्यतेस्म निरस्तस्तस्मिन् सति। विशदांतरस्य विशदमंतरं यस्य तत् तथोक्तं तस्य निर्मलांतःकरणयुक्तस्य। "अंतरं तु परीधाने भेदे रंध्रावकाशयोः। आत्मांतर्धिविनात्मीयबहिर्मध्यावधिष्वपि॥ तादर्थेऽवसरे प्रोक्तम्" इति विश्वः। व्योम्नः आकाशस्य। पुलकोपमानि रोमांचसमानानि। जिनप्रभाश्यामलतारकाणि जिनस्य प्रभा जिनप्रभा तया श्यामलानि तथोक्तानि जिनप्रभाश्यामलानि च तानि तारकाणि च तथोक्तानि जिननाथशरीरकांत्या नीलनक्षत्राणि। "नक्षत्रमृक्षमुडुभं ज्योतिर्धिष्ण्यं च तारका। ताराताकमित्येकार्थः" इति जयकीर्तिः विरेजुः बभुः। राजृदीप्तौ लिट्। उत्प्रेक्षालंकारः॥ ३०॥

श्री जिनेन्द्र भगवान की नील देहकान्ति से श्यामरंग की तारायें मानों परमागम के द्वारा नास्तिकवाद हटा देने से स्वच्छान्तस्तलयुक्त आकाश के रोमाञ्च तुल्य प्रतीत होने लगीं॥ ३०॥

मुग्धाप्सराः कापि चकार सर्वानुत्फुल्लवक्त्रान्किल धूपचूर्णम्॥
रथाग्रवासिन्यरुणे क्षिपंति हसंतिकांगारचयस्य बुद्ध्या॥३१॥

मुग्धेत्यादि। रथाग्रवासिनि वसतीत्येवं शीलो वासी रथस्याग्रे वासी तस्मिन् स्यन्दनमुखवर्तिनि। अरुणे सूर्यसारथौ। "सूरसूतोऽरुणोऽनूरुः" इत्यमरः। हसंतिकांगारचयस्य हसंतिकायाः अंगारशकट्याः अंगारस्तेषां चयः हसंतिकांगारचयस्तस्य "अंगारशकटं प्राहुर्हसंतीं च हसंतिकाम्" इति हलायुधः। बुद्ध्या मनीषया। धूपचूर्णं धूपस्य चूर्णं

क्षिपंति प्रेरयंति । मुग्धा मूढा । कापि काचन । अप्सरा देवगणिका "स्त्रियां बहुष्वप्सरसः"। इति बहुवचनत्वेपि तत्केचिन्न मन्यंते तथैव विदग्धचूडामणौ शिष्टप्रयोगसंमतिः । "सांद्रकांडपटसंवृतमूर्तेदंतिदंतशयनीयशयस्य । मानिनः कुलवधूरिवरागादप्सराव्यदितपार्श्वमशून्यं"। सर्वान् सकलान् । उत्फुल्लवक्त्रान् उत्फुल्लं वक्त्रं येषां तान् विकसितवदनान् । चकार किल विदधौ डुकृञ् करणे लिट् । भ्रांतिमानलंकारः ॥ ३१ ॥

भा० अ०—रथाग्रवर्त्ती सूर्यसारथि को अङ्गीठी की आग समझ कर किसी भोली भाली अप्सराने उनपर धूपचूर्ण फेंक कर सब किसी को हंसा दिया ॥ ३१ ॥

मंदाकिनीसालिसितारविंदधियान्यया मूर्ध्नि कृतो मृगांकः ॥
अमन्यतापूर्णसुधं तमन्या सनीलनीरेरुहदुग्धकुंभम् ॥३२॥

मंदाकिनीत्यादि । अन्यया स्त्रिया । मंदाकिनीसालिसितारविंदधिया अलिना सह वर्तत इति सालो सितं च तदरविंदं च सितारविंदं सालि च तत् सितारविंदं च तथोक्तं मंदाकिन्यां विद्यमानं सालिसितारविंदं तथोक्तं मंदाकिनीसालिसितारविंदमिति धीस्तया गंगायां विद्यमानभ्रमरयुक्तपुंडरीकबुद्ध्या। मृगांकः मृग एवांको यस्य सः तथोक्तः। अत्रोचितमिदमभिधानं । मूर्ध्नि मस्तके । कृतः क्रियतेस्म अलंकृत इत्यर्थः । अन्या स्त्री । शिरोधृतं मृगांकं-आपूर्णसुधं आपूर्यतेस्म आपूर्णा परिपूर्णा सुधा पीयूषं यस्य तं । सनीलनीरेरुहदुग्धकुंभं दुग्धस्य कुंभो दुग्धकुंभः नीरे रोहतीति नीरेरुहन्तत् "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इत्यलुक् नीलं च तत् नीरेरुहं च तथोक्तं नीलनीरेरुहेण सह वर्तत इति तथोक्तः सनीलनीरेरुहश्चासौ दुग्धकुंभश्च सनीलनीरेरुहदुग्धकुंभस्तं इंदीवरपिहितक्षीरघटं । अमन्यत अबुध्यत बुधिमनिज्ञाने लङ् । भ्रांतिमानलंकारः ॥३२॥

भा० अ०—किसी देवांगना ने पीयूषपूर्ण मृगलांछित चन्द्रमा को भ्रमर युक्त गङ्गाजी का कमल समझ कर सिर पर चढ़ाया तो किसी दूसरी ने उसे नील कमलाच्छादित दुग्ध भाण्ड समझा ॥ ३२ ॥

अघच्छिदेऽर्हद्द्युतिभानुजायां सुरद्विपद्युत्सुरसिंधुसख्याम् ॥
मज्जत्प्रतीहारसुराः सुराणामनीकमद्रिं कथमप्यनैषुः ॥३३॥

अघच्छिद इत्यादि । सुरद्विपद्युत्सुरसिंधुसख्यां सुराणां द्विपास्तेषां द्युत् सुराणां सिंधुः सुरसिन्धुः सुरद्विपद्युदेव सुरसिंधुः तथोक्ता । "देशे नदविशेषेऽब्धौ सिंधुर्नासरिति स्त्रियाम्" इत्यमरः। सुरद्विपद्युत्सुरसिंधुरेव सखी यस्या सा तस्यां देवगजकांतिगंगासहचर्याम् । अर्हद्द्युतिभानुजायां अर्हतो द्युतिस्तथोक्ता अर्हद्द्युतिरेव भानुजा अर्हद्द्युतिभानुजा

तस्यां जिनाधिपकांतियमुनानद्यां । "कालिंदी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा" इत्यमरः । अघच्छिदे अघं छिनत्तीत्यघच्छित् तस्मै पापविनाशाय । मज्जत्प्रतिहारसुराः प्रतिहाराश्च ते सुराश्च प्रतिहारसुराः मज्जंतीति मज्जंतश्च च ते प्रतिहारसुराश्च तथोक्ताः । सुराणां देवानां । अनीकं सेनां । सुराणामित्यत्राप्यन्वयः । अद्रिं महामेरुगिरिं । कथमपि केनचित्प्रकारेण । अनैषुः अवापयन् । णीञ् प्रापणे लुङ् । द्विकर्मकः ॥३३॥

भा० अ०—ऐरावत की कान्तिरूपी गंगा की सहचरी श्रीजिनेन्द्र भगवान की देह-दीप्ति-रूप यमुना में मग्नोन्मग्न होते हुए प्रतिहारदेव किसी २ तरह अपनी सेना को पाप विनाश करने के लिये महामेरु पर्वत पर ले गये ॥ ३१ ॥

गिरीशमुद्यद्द्विपदंतवृत्तिं रवीन्दुतारामरसेव्यपादम् ॥
दिगंबरैरावृतमेनमारादपश्यदग्रे प्रभुतुल्यमिन्द्रः ॥३४॥

गिरीशमित्यादि । इन्द्रः इंदति परमैश्वर्यमनुभवतीतींद्रः सुपर्वनायकः । उद्यद्द्विपदंतवृत्तिं उद्यंतीत्युद्यंतः द्विपदस्य दंता इव द्विपदंता उद्यंतश्च ते द्विपदंताश्च तथोक्ताः तेषां वृत्तिर्वर्तनं यस्य तं प्रोद्भवद्गजदंतगिरिवर्तनवंतम् पक्षे उदेतीत्युद्यती विपदामंता विपदंतः उद्यती विपदंतस्य वृत्तिर्यस्य यस्मादिति वा उद्यद्द्विपदंतवृत्तिस्तं प्रोद्भवदापत्तिनाशवर्तनवंतं एतत्पक्षे व्यंजनच्युतकचित्राभिप्रायेण दकारो व्युदस्यते । तदुक्तं विदग्धमुखमंडने— "अन्योऽप्यर्थः स्फुटो यत्र मात्रादिच्युतकेऽपि । प्रतीयते विदुस्तज्ज्ञास्तन्मात्राच्युतकादिकम्" रवींदुतारामरसेव्यपादं रविश्च इंदुश्च ताराश्चामराश्च तथोक्ताः सेव्यः पादः मूलं यस्य तं पक्षे रवींदुतारामरैः सेव्यौ सेवनीयौ पादौ चरणौ यस्य तं "पादो ब्रध्ने तुरीयांशे शैलप्रत्यंतपर्वते । चरणे च मयूखे च" इति विश्वः । दिगंबरैः दिशश्च अंबराणि च दिगंबराणि तैः दिगाकाशैः पक्षे दिश एवांबरं येषां तैः मुनीश्वरैः । आवृतं आव्रियतेस्म आवृतस्तं अवगाहितं पक्षे संस्कृतं च । गिरीशं गिरीणामीशः गिरीशस्तं धराधराधीश्वरं पक्षे गिरामीशः गिरीशस्तं वागीश्वरं "गिरीशो वाक्पतौ रुद्रे गिरीशोऽद्रिपतावपि" इति विश्वः । प्रभुतुल्यं प्रभोस्तुल्यः प्रभुतुल्यस्तं जिनेशसदृशं । एनं महामेरुं । अग्रे पुरः । आरात् समीपे । अपश्यत् ऐक्षन्त दृशिर्प्रेक्षणे लङ् श्लेषः ॥३४॥

भा० अ०—इन्द्र ने गजदन्त गिरिवत्, (उदीयमान विपत्तियों का नाशक) दिशाकाश से (दिगम्बर मुनियों से) ढके हुए, (घिरे हुए) सूर्य चन्द्र तथा ताराओं से सेवित चरण कमल वाले इस महामेरु पर्वत (वागीश्वर) को आगे समीप ही में श्रीजिनेन्द्र तुल्य देखा ॥३४॥

सजातरूपोऽपि गिरिः प्रवृत्तदिगंबराक्रांतिरुदग्रकूटः ॥
अघांतकं पापभियाऽभ्ययासीत्किमित्यमर्त्यैर्भणितः क्षणात्सः ॥३५॥

सजातरूप इत्यादि । सजातरूपोऽपि जातरूपेण मुनींद्राकारेण सह वर्तत इति सजातरूपः सोऽपि निर्ग्रंथाकारवानपि पक्षे जातरूपेण हिरण्येन सह वर्तत इति सजातरूपः कांचनमयः । "जातरूपं हिरण्ये स्यादिगंबरवराकृतौ" इत्यभिधानात् । प्रवृत्तदिगंबराक्रांतिरपि प्रवर्तंतेस्म प्रवृत्ता दिशश्च अंबराणि च दिगंबराणि आक्रमणमाक्रांतिः प्रवृत्ता दिगम्बराणामाक्रान्तिर्यस्य सः विहितदिगाकाशातिक्रमोऽपि पक्षे प्रकृष्टं वृत्तं येषां ते प्रवृत्ताः दिशा एवांबरं येषां ते तथोक्ताः प्रवृत्ताश्च ते दिगंबराश्च तथोक्ताः प्रवृत्तदिगंबराणामाक्रांतिर्यस्य सः तथोक्तः विशिष्टचारित्रवन्मुनींद्रातिक्रमवान् । उदग्रकूटोऽपि उदग्राण्युन्नतानि कूटानि शिखराणि यस्य सः तथोक्तः अत्युच्चशिखरवानपि पक्षे उदग्र उत्कृष्टः कूटः कपटो यस्यासौ तथोक्तः अत्यंतमायावान् । "माया निश्चलयंत्रेषु कैतवानृतराशिषु । अयोघने शैलशृंगे सीरांगे कूटमस्त्रियाम्" इत्यमरः । गिरिः मेरुनगेंद्रः । पापभिया पापस्य भीः पापभीः तया निजविरुद्धस्वभावदुष्कर्मभीतया । अघांतकं अघानामंतकोऽघांतकस्तं सकलकलिलवैरिणं । अभ्ययासीत्किं अभ्यगमत्किं अभिमुखमभिगच्छतिस्म किमित्याशंका । इति एवं । अमर्त्यैः निर्जरैः । क्षणाप्तः क्षणेनाप्तः क्षणाप्तः क्षणपरिमितकालेन संप्राप्तस्सन् । भणितः भण्यतेस्म भणितः भाषितः । विरोधालंकारः ॥३५॥

भा० अ०—सुवर्णमय (निर्ग्रन्थरूप) दिशाकाश को आक्रान्त किये हुए (उत्तम चरित्रवाले मुनियों को अतिक्रमण किये हुए) और उन्नत शिखर वाले (मायापूर्ण) महामेरु पर्वत को समीपस्थ देखकर देवताओं ने कहा कि, मानों यह पर्वत पाप के भय से स्वयं ही पापविनाशक भगवान के सामने उपस्थित हो गया है ॥ ३५ ॥

> द्युमंडलं मध्यगतस्य मेरोर्मणिप्रभापंजरभासमानं ॥
> विभोरमुष्योपरि हेमदंडां बभार नीलातपवारणाभाम् ॥३६॥

द्युमंडलमित्यादि । मध्यगतस्य मध्यं गच्छतिस्म मध्यगतस्तस्य मध्यभागस्थितस्य । मेरोः महामेरुनगेंद्रस्य । मणिप्रभापंजरभासमानं मणीनां प्रभा मणिप्रभा सैव पंजरं तथोक्तं मणिप्रभापंजरे भासत इति भासमानं तथोक्तं रत्नद्युतिपंजरे विराजमानं । द्युमंडलं दिवो मंडलं तथोक्तं आकाशमंडलं । "द्यो दिवो द्वे स्त्रियामभ्रम्" इत्यमरः । अमुष्य अस्य । विभोः जिनेश्वरस्य । उपरि अग्रभागे । हेमदंडां हेम्ना निर्मितो दंडो यस्यास्सा तां । नीलातपवारणाभाम् नीलं च तदातपवारणं च तथोक्तं नीलातपवारणस्य आभा नीलातपवारणाभा तां इंद्रनीलछत्रेणेभां । बभार दधौ डु भृञ् धारणपोषणयोर्लिट् । ननु हेमदंडामित्यातपवारणाविशेषत्वे किमाभा-विशेषणत्वं व्यवहारदर्शनात् ॥३६॥

भा० अ०—मध्यवर्त्ती महामेरु पर्वत की मणियों की ज्योति-राशि से चमकते हुए आकाश मण्डल ने भगवान् के आगे सुवर्णदण्डयुक्त नील छत्र की शोभा धारण की ।३६।

अगाह्यतः पांडुवनं समंतादुपर्यटंत्या सुरसेनयाऽद्रेः ॥
सजीवचित्रांकितमंदवायुचलोत्तरीयश्रियमावहंत्या ॥३७॥

अगाहीत्यादि। अतः अस्मादतः। अद्रेः मेरुगिरेः। उपरि अग्रे। समंतात् परितः। अटंत्या अटंतीत्यटंती तया गच्छंत्या। सजीवचित्रांकितमंदवायुचलोत्तरीयश्रियं जीवेन सह वर्तत इति सजीवं तच्च तत् चित्रं च तथोक्तं सजीवचित्रेणांकितः सजीवचित्रांकितः मंदश्चासौ वायुश्च तथोक्तं सजीवचित्रांकितश्चासौ मंदवायुश्च सजीवचित्रांकितमंदवायुः तेन चलं तथोक्तं सजीवचित्रांकितमंदवायुचलं च तत् उत्तरीयं च तथोक्तं तस्य श्रीः तथोक्ता तां सचैतन्यचित्रलक्षितमंदमारुतचंचलसंव्यानलक्ष्मीम्। आवहंत्या आवहतीत्यावहंती तया बिभ्रत्या। सुरसेनया सुराणां सेना तया अमर्त्यपृतनया। पांडुवनं पांडु च तत् वनं च तथोक्तं तदाख्याविपिनं। अगाहि प्रावेशि। गाहूङ् विलोडने कर्मणि लुङ्। "हनद्वशि" इत्यादिना जिट् "ञेः" इति तस्य लुक्। उत्प्रेक्षा ॥३७॥

भा० अ०—इसलिये पर्वत के ऊपर चारों ओर भ्रमण करती हुई तथा मन्द वायु से फड़फड़ाती हुई मूर्त्तिमती अङ्कित चादर की शोभा धारण करती हुई सुर-सेनाने पाण्डुक वन में प्रवेश किया। ३७।

अनीकिनीमत्र वने समस्तां सुरद्रुमछायसुखे यथार्हं ॥
निवेशयन्पांडुशिलामवापत्पूर्वोत्तरस्यां दिशि तस्य जिष्णुः ॥३८॥

अनीकिनीमित्यादि। सुरद्रुमछायसुखे सुराणां द्रुमाः सुरद्रुमास्तेषां छाया सुरद्रुमछायं अनञ्तत्पुरुषे "सेनाछायाशालासुरानिशा" इति स्त्रीनपुंसकशेषत्वान्नपुंसकत्वम् सुरद्रुमछायेन सुखं तस्मिन्, कारणे कार्यस्योपचारात् कल्पवृक्षाणां तपःसौख्यहेतौ। अत्र वने पांडुकवने। समस्तां सकलां। अनीकिनीं चमूम्। "पृतनाऽनीकिनी चमूः" इत्यमरः। यथार्हं अर्हमनतिक्रम्य यथार्हं यथायोग्यं। निवेशयन् निवेशयतीति निवेशयन्। जिष्णुः सुत्रामा। "जिष्णुर्लेखर्षभशक्रः" इत्यमरः। तस्य पांडुकवनस्य। पूर्वोत्तरस्यां पूर्वस्याश्च उत्तरस्याश्च यद्दिगंतरालं सा पूर्वोत्तरा तस्यां। दिशि ककुभि ईशान्यदिशीत्यर्थः। स्थितां। पांडुशिलां पांडुकश्चासौ शिला च पांडुशिला तां। भरतजिनेंद्राभिषेकोचितां पांडुकाभिख्यशिलां। अवापत् अगमत् आप्लृ व्याप्तौ लुङ्। "सर्तिशास्ति" इत्यादिना अङ् ॥३८॥

भा० अ०—इन्द्र कल्प-वृक्ष की छाया से सुखद इस पाण्डुक वन में सारी सेना को यथायोग्य स्थापित करते हुए ईशान दिशा में पाण्डुक शिलाके समीप पहुँचे। ३८।

शतार्धमष्टाशतमुज्ज्वलाया विशालतामुन्नतिमायतिं च ॥
क्रमेण यस्याः खलु योजनानि वदंति सर्वज्ञजिनेंद्रपादाः ॥३९॥

शतार्धमित्यादि । सर्वज्ञजिनेंद्रपादाः सर्वं जानंतीति सर्वज्ञाः जिनानामिंद्रा जिनेंद्राः जिनेंद्राश्च ते पादाश्च जिनेंद्रपादाः सर्वज्ञाश्च ते जिनेंद्रपादाश्च तथोक्ताः सर्वज्ञजिनेश्वरपूज्याः तत्र भवान् भगवानिति शब्दो विबुधैः प्रयुज्यते "पूज्ये पादाविति नामांते राजा भट्टारको देव" इति हलायुधः । उज्वलायाः उद्भासमानायाः । यस्याः पांडुशिलायाः । विशालतां विशालस्य भावो विशालता तां विस्तारतां । उन्नतिं उत्सेधं । आयतिं च आयामं च । शतार्धं शतस्यार्धं शतार्धं पंचाशतमित्यर्थः । "अष्टौ अष्टाङ्" इत्यादेशः । शतं च । क्रमेण परिपाट्या । योजनानि । खलु स्फुटं । वदंति ब्रुवंति वद व्यक्तायां वाचि लट् । यथासंख्यालंकारः ॥३९॥

भा० अ०—सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव ने समुज्ज्वल तथा विशाल पाण्डुक शिला की उँचाई पचास योजन और लम्बाई आठ सौ योजन की बतलायी है । ३९ ।

आद्यद्विकल्पेशपरार्ध्यपीठमध्यस्थजैनासनरम्यमध्या ॥
सतोरणा रत्नमयांचला या समंगला शुक्तिसमाकृतिश्च ॥४०॥

आद्येत्यादि । या पांडुशिला । आद्यद्विकल्पेशपरार्ध्यपीठमध्यस्थजैनासनरम्यमध्या द्वौ च तौ कल्पौ च द्विकल्पौ आदौ भवौ आद्यौ "दिगाद्यंगांशाद्य" इति भावार्थे य प्रत्ययः । तौ च तौ द्विकल्पौ च आद्यद्विकल्पौ तयोरीशौ परार्ध्ये च ते पीठे च परार्ध्यपीठे आद्यद्विकल्पेशयोः परार्ध्यपीठे तथोक्ते "परार्ध्याग्रप्राग्रहरप्राग्र्याग्र्याग्रीयमग्रियम्" इत्यमरः । मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थं आद्यद्विकल्पेशपरार्ध्यपीठयोर्मध्यस्थं तथोक्तं जिनस्येदं जैनं जैनं च तत् आसनं च जैनासनं आद्यद्विकल्पेशपरार्ध्यपीठमध्यस्थं च तत् जैनासनं च तथोक्तं तेन रम्यं तथोक्तं आद्यद्विकल्पेशपरार्ध्यपीठमध्यस्थजैनासनरम्यमध्यं यस्यास्सा तथोक्ता अभिषेकनियुक्तयोः सौधर्मेशानेंद्रयोरनर्घपीठद्वयमध्यस्थितजिनेंद्रविष्टरमनोहरमध्यप्रदेशा । सतोरणा तोरणेन सह वर्तत इति तथोक्ता मणितोरणसहिता । रत्नमयांचला रत्नविकारो रत्नमयः रत्नमयः अंचलो यस्यास्सा तथोक्ता मणिमयाग्रभागा । समंगला अष्टमंगलैः सह वर्तत इति तथोक्ता । शुक्तिसमाकृतिश्च शुक्त्या समा तथोक्ता शुक्तिसमा आकृतिर्यस्यास्सा तथोक्ता मुक्तास्फोटसमाकारा च आबभास इत्युत्तरपदेनान्वयः ॥४०॥

भा० अ०—इन्द्र तथा ईशानेन्द्र के बहुमूल्य आसन के मध्यवर्त्ती श्रीजिनेन्द्र भगवान् के सिंहासन से सुन्दर है मध्यभाग जिसका ऐसी तोरणयुक्त रत्नमय अंचल वाली पाण्डुशिला मौक्तिक गुच्छ के समान शोभती थी । ४० ।

या चाबभासेऽमरकल्पितेन महाभिषेकोत्सवमंडपेन ॥
ज्वलन्मणिस्तंभसहस्रमुक्तावितानचित्रध्वजभूषितेन ॥४१॥

येत्यादि। या च शिला। ज्वलन्मणिस्तंभसहस्रमुक्तावितानचित्रध्वजभूषितेन ज्वलंतीति ज्वलंतः मणिभिर्निर्मिता स्तंभा मणिस्तम्भाः ज्वलंतश्च ते मणिस्तंभाश्च ज्वलन्मणिस्तंभास्तेषां सहस्रं तथोक्तं ज्वलन्मणिस्तंभसहस्रं च मुक्ताया वितानं तच्च चित्राणि च तानि ध्वजानि च चित्रध्वजानि तानि च तथोक्तानि ज्वलन्मणिस्तम्भसहस्रमुक्तावितानचित्रध्वजैर्भूषितस्तेन प्रस्फुरद्रत्नस्तंभसहस्रेण मौक्तिकवितानेन विविधकेतनैश्च मंडितेन। अमरकल्पितेन अमरैः कल्पितस्तेन निर्जरनिर्मितेन। महाभिषेकोत्सवमंडपेन महांश्चासावभिषेकश्च महाभिषेकस्तस्योत्सवस्तथोक्तः महाभिषेकोत्सवस्य मंडपस्तथोक्तस्तेन। जन्माभिषवोद्भवमंडपेन। आवभासे रराज भासृङ् दीप्तौ लिट् ॥४१॥

भा० अ०—देवताओं से रचे गये हजारों मणिमय स्तंभो पर मुक्ता की चाँदनी और चित्रित ध्वजाओं से समलंकृत महाभिषेक-मण्डपसे पांडुक-शिला देदीप्यमान होने लगी। ४१।

अभ्रेऽवलंबरहिते सुचिरं सुमेरुक्ष्माभृत्प्रदक्षिणकृतिश्रमभारशांत्यै ॥
प्रासोष्टमिंदुरिव पांडुवनं शिलैषा प्रादात्सुरेन्द्रनयनोत्पलषण्डहर्षम् ॥४२॥

अभ्रेत्यादि। एषा इयं शिला पांडुशिला। अवलंबरहिते अवलंबेन रहितं तस्मिन् आधाररहिते। अभ्रे व्योम्नि। सुचिरं दीर्घकालं। सुमेरुक्ष्माभृत्प्रदक्षिणकृतिश्रमभारशांत्यै शोभनो मेरुः सुमेरुः क्ष्मां बिभर्तीति क्ष्माभृत् सुमेरुश्चासौ क्ष्माभृच्च तथोक्तः प्रदक्षिणस्य कृतिः प्रदक्षिणकृतिः सुमेरुक्ष्माभृतः प्रदक्षिणकृतिस्तथोक्ता तया जातश्रमस्तस्य शांतिः श्रमशांतिस्तस्यै मंदराचलप्रदक्षिणकरणजनितपरिश्रमोपशमाय। सुरेंद्रनयनोत्पलषंडहर्षं सुराणामिंद्रस्तस्य नयनानि तथोक्तानि सुरेन्द्रनयनान्येव उत्पलानि तथोक्तानि सुरेंद्रनयनोत्पलानां षंडं तस्य हर्षस्तथोक्तस्तं त्रिदशाधीशनेत्रकुवलयकदंबपरितोषं। प्रादात् प्रायच्छत्॥ डुदाञ् दाने लुङ्॥ ४२॥

भा० अ०—इस पाण्डुक-शिला ने निराधार आकाश में बहुत देर तक सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करने से उत्पन्न हुई थकावट को शान्त करने के लिए अष्टमी के चन्द्रमा के समान इन्द्र के नेत्र-कमल-पुंजको आनन्दित किया। ४२।

इत्यर्हद्दासकृतकाव्यरत्नस्य टीकायां सुबोधिन्यां भगवन्मंदरानयनवर्णनो नाम पंचमसर्गोऽयं समाप्तः॥५॥

* इति पञ्चम सर्गः समाप्तम् *

॥ अथ षष्ठः सर्गः ॥

अथामरेन्द्रेण गजेन्द्रतो जिनः स नीयमानः प्रतिपांडुकं महत् ॥
निराकृतोग्रो मधुनेव मन्मथो नितंबमुच्चैः शुशुभे हराचलात् ॥१॥

अथेत्यादि ॥ अथ मंदरानयनानंतरे । अमरेंद्रेण अमराणामिंद्रस्तेन लेखमुख्येन । गजेंद्रतः गजानामिंद्रो गजेंद्रः गजेंद्रात् गजेंद्रतः ऐरावणात् । महत् पृथुलं । पांडुकं पांडुकवनं प्रति उद्दिश्य । नीयमानः नीयत इति नीयमानः प्राप्यमाणः । स जिनः मुनिसुव्रतार्हदीशः । मधुना वसंतेन "मधु क्षौद्रे जले क्षीरे मद्ये पुष्परसे मधुः । दैत्ये चैत्रे वसंते च जीवाशाके मधुद्रुमे" इति विश्वः । हराचलात् हरस्याचलस्तथोक्तस्तस्मात् कैलासनगात् । नितंबं तटं । नीयमानः प्राप्यमाणः । निराकृतोग्रः निराक्रियतेस्म निराकृतः पराभूत उग्रो रुद्रो येन सः पक्षे निराकृतो निर्धूत उग्रो रौद्ररसो येन सः तथोक्तः । "उग्रः शूद्रासुते क्षत्त्राच्छ्रीकंठे चोत्कटेऽन्यवत्" इति विश्वः । मन्मथ इव मनो मथनातीति मन्मथ इव । उच्चैः अत्यंतं । शुशुभे बभौ शुभ दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ १ ॥

भा० अ०—इस के बाद इन्द्र-द्वारा ऐरावत हाथी से विशाल पाण्डु वन में पहुंचाए जाते हुए श्रीजिनेन्द्र भगवान कैलाश पर्व्वत के तट पर वसन्त ऋतु के द्वारा लाए गए तथा शिवजी का अपमान किए हुए कामदेव के समान अत्यन्त सोभने लगे ॥ १ ॥

नगेन्द्रभालस्थलबद्धपट्टिकाशिलोपरिस्थापित एष जिष्णुना ॥
जिनार्भकः प्रोतपुरंदरोपलस्फुरन्मनीषामपुषद्दिवौकसां ॥२॥

नगेंद्रेत्यादि ।जिष्णुना जयतीत्येवं शीलो जिष्णुस्तेन पाकशासनेन । "भूजेः स्नुक्" इति शीलार्थे स्नुक् प्रत्ययः । नगेंद्रभालस्थलबद्धपट्टिकाशिलोपरिस्थापितः नगानामिंद्रो नगेंद्रः भालस्य स्थलं भालस्थलं नगेंद्रस्य भालस्थलं तथोक्तं पट्टिका इव पट्टिका नगेंद्रभालस्थले बद्धा तथोक्ता नगेंद्रभालस्थलबद्धा चासौ पट्टिका च तथोक्ता सा चासौ शिला च नगेंद्रभालस्थलबद्धपट्टिकाशिला तस्याः उपरि स्थाप्यतेस्म स्थापितः नगेंद्रभालस्थलबद्धपट्टिकाशिलोपरि स्थापितः पर्वतनाथभालस्थलरचितपट्टबंधाभपांडुकशिलोपरिष्टान्निवेशितः । एषः अयं । जिनार्भकः जिनबालकः । दिवौकसां दिवि ओकः स्थानं येषां ते दिवौकसस्तेषां देवानां । प्रोतपुरंदरोपलस्फुरन्मनीषां प्रोयतेस्म प्रोतः पुरं दरतीति पुरंदरः "पुरंदरभगन्दरे"

इत्यादिना साधुः। पुरंदरस्योपलः पुरंदरोपलः प्रोतश्चासौ पुरंदरोपलश्च तथोक्तः स्फुरंतीति स्फुरंती सा चासौ मनीषा च स्फुरन्मनीषा प्रोतपुरंदरोपल इति स्फुरन्मनीषा तथोक्ता तां संबद्धेंद्रनीलमितिभासमानबुद्धिं। अपुषत् अतुषत् पुष पुष्टौ लङ्॥ उत्प्रेक्षा ॥२॥

भा० अ०—इन्द्र से कैलाश पर्वत के शिखर पर बद्धपट्टिका के समान पाण्डुकशिला पर प्रतिष्ठापित श्रीजिनेन्द्र भगवान ने ऐसा सन्देह देवताओं के मन में उत्पन्न कर दिया कि यह शिला इन्द्रनील मणि से बिजड़ित है॥ २॥

तरंगितज्योतिषि तच्छिलातले सरोजरागद्विपवैरिविष्टरे॥
तरंगिताम्बौ त्रिदिवौकसां सरस्यलिर्यथाकोकनदेऽशुभद्विभुः॥३॥

तरंगितेत्यादि। तरंगितज्योतिषि तरंगस्संजातोऽस्येति तरंगितं ज्योतिर्द्युतिर्यस्मिन्निति तरंगितज्योतिस्तस्मिन्। "ज्योतिर्भद्योतदृष्टिषु" इत्यमरः। तच्छिलातले सा चासौ शिला च तच्छिला तस्याः स्थलं तच्छिलातलं तस्मिन्। सरोजरागद्विपवैरिविष्टरे सरोजस्येव रागोऽरुणद्युतिर्यस्य सः सरोजरागः द्वाभ्यां पिबंतीति द्विपास्तेषां वैरिणो द्विपवैरिणस्तैर्धृतं विष्टरं द्विपवैरिविष्टरं सरोजरागेण निर्मितं द्विपवैरिविष्टरं तथोक्तं तस्मिन् पद्मरागमणिनिर्मितसिंहासने। विभुः निषण्णोऽर्हत्प्रभुः। तरंगितां तरंगास्संजाता अस्मिन्निति तरंगितं तरंगितमंबु यस्मिन् तत् तरंगितांबु तस्मिन् संजाततरंगोदके। त्रिदिवौकसां त्रिदिव एव वोकः येषां ते त्रिदिवौकसस्तेषां देवानां। सरसि सरस्यां। कोकनदे रक्तोत्पले। "अथ रक्तसरोरुहे रक्तोत्पलं कोकनदम्" इत्यमरः। अलिः भ्रमरः। यथा येन प्रकारेण तथा। अशुभत् शुभ दीप्तौ लुङ्। "द्युद्भ्यो लुङः" इति तिप् "सर्तिशास्ति"इत्यादिना अङ्॥ ३॥

भा० अ०—प्रदीप्त ज्योतिवाली उस पाण्डुक-शिला पर पद्मरागमणि से विजड़ित सिंहासन पर बैठे हुए श्रीजिनेन्द्र भगवान तरंगित जलवाली देव-गंगा में रक्त-कमल पर बैठे हुए भ्रमर के समान शोभने लगे॥ ३॥

जिनेश्वरः पांडुशिलाप्रभांतरे रराज माणिक्यमयासने स्थितः॥
हरिर्यथा विद्रुमरागरंजिते फणीन्द्रभोगे कलशार्णवांतरे॥४॥

जिनेश्वर इत्यादि। पांडुशिलाप्रभांतरे पांडुशिलायाः प्रभाः तासामंतरं पांडुशिलाप्रभांतरं तस्मिन् पांडुशिलाकिरणमध्ये। माणिक्यमयासने माणिक्यस्य विकारः माणिक्यमयं तच्च तत् आसनं च माणिक्यमयासनं तस्मिन् रत्नमयसिंहासने। स्थितः तिष्ठतिस्म स्थितः। जिनेश्वरः। कलशार्णवांतरे कलशमयोऽर्णवः कलशार्णवस्तस्मिन् क्षीरसमुद्रमध्ये। "मंथोदधिस्तु क्षीराब्धिः क्षीरोदः कलशोदधिः" इति वैजयंती। विद्रुमरागरंजिते विद्रुमस्य रागः विद्रुमरागः विद्रुमरागेण रंजितस्तस्मिन् प्रवालवर्णरंजिते समुद्रांतस्थितत्वाद्रुचि-

तमिदं विशेषणं । फणीन्द्रभोगे फणीनामिंद्रस्तथोक्तः फणींद्रस्य भोगः फणींद्रभोगस्तस्मिन् महाशेषशरीरे । "भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः" इत्यमरः । हरिः नारायणः । यथा तथा । रराज बभौ । राजृ दीप्तौ लिट् ॥ ४ ॥

भा० अ०—पाण्डुकशिला की किरणों के बीच में मणिमय सिंहासन पर विराजमान श्रीजिनेन्द्र भगवान क्षीरसमुद्र में मूंगे की लालिमा से प्रतिफलित हुई सर्पराज की देह पर विष्णु के समान सोभने लगे ॥ ४ ॥

जिनेन्द्रपांडोर्मणिपीठरश्मिभिः प्रवेणितः कांतिरयो व्यराजत ॥
यथा निमज्जद्वनितांगकुंकुमद्रवैर्जलौघो यमुनात्रिमार्गयोः ॥५ ॥

जिनेंद्रेत्यादि । जिनेंद्रपांडोः जिनानामिंद्रस्तथोक्तः जिनेंद्रश्च पांडुश्च जिनेंद्रपांडू तयोः जिनेश्वरपांडुशिलयोः । कांतिरयः कांतीनां रयः कांतिरयः किरणप्रवाहः । "ओघः प्रवाहो वेणी च धारा स्रोतो रयः स्मृतः" इति हलायुधः । मणिपीठरश्मिभिः मणिभिर्निर्मितं पीठं तथोक्तं मणिपीठस्य रश्मयो मणिपीठरश्मयस्तैः रत्नसिंहासनकांतिभिः । प्रवेणितः प्रवेण्यतेस्म प्रवेणितः जटिलितः । यमुनात्रिमार्गयोः त्रयो मार्गा यस्यास्सा त्रिमार्गा यमुना च त्रिमार्गा च यमुनात्रिमार्गे तयोः यमुनानदीगंगानद्योः । "धर्मद्रवी त्रिमार्गा च" इति-वैजयंती । जलौघः जलानामोघस्तथोक्तः जलप्रवाहः" ओघो वृंदेऽम्भसां रये" इत्यमरः । निमज्जद्वनितांगकुंकुमद्रवैः निमज्जंतिस्म निमज्जंत्यः निमज्जंत्यश्च ताः वनिताश्च तथोक्ताः तासामंगानि निमज्जद्वनितांगानि तेषां कुंकुमं तथोक्तं निमज्जद्वनितांगकुंकुमस्य द्रवाः निमज्जद्वनितांगकुंकुमद्रवास्तैः । प्रवेणितः । तथा । व्यराजत व्यभासत राजृ दीप्तौ लङ् ॥ ५ ॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र भगवान और पाण्डुक शिला का प्रभापुञ्ज रत्नखचित सिंहासन की कान्ति से मिल कर स्नान करती हुई ललनाओं के कुंकुम से मिश्रित गंगा और जमुना के प्रवाह के समान सोभने लगे ॥ ५ ॥

बभौ नगेंद्रः प्रभुपीठपांडुकप्रभावितानैः परितस्तिरोहितः ॥
यथैव तापात्ययसांध्यशारदैर्घनाघनौघैर्युगपत्समावृतः ॥ ६ ॥

बभावित्यादि । प्रभुपीठपांडुकप्रभावितानैः प्रभुश्च पीठं च पांडुकश्च प्रभुपीठपांडुकास्तेषां प्रभाः तथोक्ताः प्रभुपीठपांडुकप्रभाणां वितानानि प्रभुपीठपांडुकप्रभावितानानि तैः जिनेश्वरसिंहासनपांडुकशिलाकांतिसमवायैः । "वितानो यज्ञविस्तारोल्लोचेषु क्रतुकर्मणि वृत्तभेधाव सरयोर्वितानं तुच्छमंदयोः" इति विश्वः । परितः समंतात् । तिरोहितः तिरोह्यतेस्म तिरोहितः पिहितः । नगेंद्रः महामेरुः । तापात्ययसांध्यशारदैः तापस्यात्ययस्तापात्ययः तापत्ययस्यायं तापात्ययः संध्यायाः अयं सांध्यः शरदः अयं शारदः तापात्ययश्च

सांध्यश्च शारदश्च तापात्ययसांध्यशारदास्तैः वर्षाकालसंध्याकालशरत्कालसंबंधैः । घनाघनौघैः घनाघनानामोघा घनाघनौघास्तैः मेघसमूहैः । "घनाघनो घनो मेघः" इति-धनंजयः । जिनेश्वरपीठपांडुकशिलानां यथाक्रमं कृष्णारुणश्वेतवर्णत्वात् तापात्यय-सांध्यशारदमेघवेष्टितत्वं । युगपत् सकृत् । संवृतः संव्रियतेस्म संवृतः वेष्ठितः ।-यथैव तथैव । बभौ भा दीप्तौ लिट् ॥६॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र भगवान, सिंहासन तथा पाण्डुक शिला की प्रभा से चारो ओर से आच्छादित सुमेरु पर्व्वत एक ही समय में वर्षा, संध्या तथा शरत्कालीन मेघों से परिवेष्ठित सा सोभने लगा ॥ ६ ॥

अथेंद्रवाचा मणिदंडभृद्विभुं दिदृक्षयोपव्रजतो मुहुर्मुहुः ॥
धनी दिगीशान्सपरिच्छदान् हठान्निजे निजे स्थापयदाशु धामनि ॥७॥

अथेत्यादि । अथ अनंतरे । इंद्रवाचा इंद्रस्य वाक् इंद्रवाक् तया देवेशवचनेन । मणि-दंडभृत् मणिभिर्निर्मितो दंडस्तथोक्तः मणिदंडं बिभर्तीति मणिदंडभृत् रत्नदंडधरः । धनी धनमस्यास्तीति धनी कुबेरः । विभुं जिनेश्वरं । दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा तया दर्शनेच्छया । मुहुर्मुहुः पुनः पुनः । उपव्रजतः उपव्रजंतीत्युपव्रजंतस्तान् समीपं गच्छतः । सपरिच्छदान् परिच्छदेन सह वर्तन्त इति सपरिच्छदास्तान् परिवारसहितान् । दिगीशान् दिशामीशा दि-गीशास्तान् दिक्पालकान् । हठात् बलात्कारात् । "प्रसभस्तु बलात्कारो हठः" इत्यमरः । निजे निजे स्वकीये । वीप्सायामिति द्विर्भावः । धामनि स्थाने । आशु शीघ्रं । अस्थापयत् अतिष्ठपत् ॥ ७ ॥

भा० अ०—इस के बाद इन्द्र की आज्ञानुसार रत्नमय-दण्डधारी कुबेर ने जिनेन्द्र भगवान को देखने की इच्छा से बार बार समीप में आते हुए सपरिवार दिक्पालों को हठात् अपने २ यथोचित स्थान पर बैठाया ॥ ७ ॥

जिनाभिषेकाय सुरांगनाजनं सुरप्रतानं सुरनायकानपि ॥
अशेषकृत्यं जिनभक्तिभावितान्यथार्हमग्राहयदेष कृत्यवित् ॥८॥

जिनाभिषेकायेत्यादि । कृत्यवित् कृत्यं वेत्तीति कृत्यवित् कार्यवेदी । एषः धनदः । जिना-भिषेकाय जिनस्याभिषेको जिनाभिषेकस्तस्मै जिनाभिषेकनिमित्तं । सुरांगनाजनं सुराणा-मगनाः सुरांगनास्ता एव जनः सुरांगनाजनस्तं सुरस्त्रीलोकं । सुरप्रतानं सुराणां प्रतानं तथोक्तं देवसमूहं । जिनभक्तिभावितान् जिनस्य भक्तिः तथोक्ता भाव्यंतेस्म भाविता जिनभक्त्या भावितास्तथोक्तास्तान् जिनेशगुणानुरागसंस्कृतान् । सुरनायकानपि सुराणां

नायकास्सुरनायकास्तान् शेषसुरेंद्रानपि । अशेषकृत्यं अशेषं च तत् कृत्यं च अशेषकृत्यं समस्तकार्यं । यथार्हं अर्हमनतिक्रम्य यथार्हं यथायोग्यं । अग्राहयत् अस्वीकारयत् ग्रह उपादाने णिजंताल्लङ् ॥ ८ ॥

भा० अ०—कार्य्य-विचक्षण कुबेर ने जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक के लिये जिन-भक्ति-लीन देवंगनाओं, देवताओं तथा अवशिष्ट सुरेन्द्रों से अन्यान्य समस्त कृत्यों का यथायोग्य सम्पादन कराया ॥ ८ ॥

अनंतरं दक्षिणवामभागयोर्जिनस्य पूर्वाभिमुखस्य सुस्थिते ॥
शचीपतीशानपती ससंभ्रमौ निजासने सम्मुखमध्यरोहताम् ॥९॥

अनंतरमित्यादि । अनंतरं पश्चात् । ससंभ्रमौ संभ्रमेण सह वर्तेते इति ससंभ्रमौ संभ्रमसहितौ । शचीपतीशानपती शच्याः पतिः शचीपतिः ईशानस्य पतिः ईशानपतिः शचीपतिश्च ईशानपतिश्च शचीपतीशानपती सौधर्मेशानेंद्रौ । पूर्वाभिमुखस्य पूर्वस्याभिमुखं यस्य सः तस्य पूर्वदिग्मुखस्य । जिनेशस्य जिनेश्वरस्य । दक्षिणवामभागयोः दक्षिणश्च वामश्च दक्षिणवामौ तौ च तौ भागौ च दक्षिणवामभागौ तयोः दक्षिणवामपार्श्वयोः । सुस्थिते संतिष्ठेतेस्म सुस्थिते । निजासने निजयोरासने पुनस्ते स्वकीयासने । सम्मुखं मिथोऽभिमुखं यथा तथा । अध्यरोहतां आरूढौ रुह बीजजन्मनि लङ् ॥ ९ ॥

भा० अ०—इसके बाद सौधर्मेन्द्र तथा ईशानेन्द्र पूर्व्वाभिमुखस्थ श्रीजिनेन्द्र भगवान के सामने दाहिनी और बाईं ओर लगे हुए अपने २ आसन पर बैठ गए ॥ ९ ॥

अनेकतीर्थोपहृतैरथाम्बुभिः घटोद्धृतैस्स्नापयितुं जिनार्भकं ॥
यदारभेतेस्म मुदा सुरानकस्तवाप्सरोगीतरवाप्तदिक्तटं ॥१०॥

अनेकेत्यादि । अथ निजासनारोहणानंतरे । अनेकतीर्थोपहृतैः न एकान्यनेकानि अनेकानि च तानि तीर्थानि च तथोक्तानि उपह्रियंतेस्म उपहृतानि अनेकतीर्थैः उपहृतानि तैः । घटोद्धृतैः उद्ध्रियंतेस्म उद्धृतानि घटैः उद्धृतानि घटोद्धृतानि तैः कलशैरुंभितैः । अंबुभिः सलिलैः । जिनार्भकं जिनश्चासौ अर्भकश्च जिनार्भकस्तं जिनबालकं । स्नापयितुं अभिषेचयितुं । यदा यस्मिन्काले यदा । सुरानकस्तवाप्सरोगीतरवाप्तदिक्तटं आनकाश्च स्तवाश्च आनकस्तवाः सुराणामानकस्तवास्तथोक्ताः अप्सरसां गीतानि तथोक्तानि सुरानकस्तवाप्सरोगीतानि तेषां रवाप्तं दिक्तटं यस्मिन्कर्मणि तत् तथोक्तं देवदुंदुभिदेवस्तोत्रदेवगणिकासंगीतध्वनिभिः व्याप्तदिगंतरालं यथा भवति तथा । मुदा संतोषेण । आरभेतेस्म रभि राभस्ये लट् "स्मे च लट्" इति स्मयोगे भूतार्थे लट् ॥१०॥

भा० अ०—अनन्तर अनेक तीर्थों से लाये गये जल से परिपूर्ण कलसों से श्रीजिनेन्द्र बालक का अभिषेक कराना उन दोनों ने देवदुन्दुभि, स्तुति तथा अप्सराओं की गीतध्वनियों से दिशाओं को परिपूर्ण करते हुए प्रसन्नता-पूर्वक आरंभ किया ॥ १० ॥

तदा ऋभूणामुभयी घटा घटैः पयांसि नेतुं घटिता प्रयत्नतः ॥
सुमेरुचूलादिसुधार्णवावधिप्रबद्धनीलोपलतीर्थपद्धतिः ॥११॥

तदेत्यादि। तदा तत्समये । घटैः कनककलशैः ।पयांसि क्षीराणि "पयः क्षीरं पयोऽम्बु च" इत्यमरः। नेतुं आदातुं। सुमेरुचूलादिसुधार्णवावधिप्रबद्धनीलोपलतीर्थपद्धतिः सुमेरोश्चूला आदिर्यस्मिन् कर्मणि तत् सुधारूपोऽर्णवः सुधार्णवः स एवावधिर्यस्मिन् कर्मणि तत् तीर्थस्य पद्धतिः तथोक्ता नीलाश्च ते उपलाश्च नीलोपलाः प्रबध्यतेस्म प्रबद्धा नीलोपलैः निर्मिता तीर्थपद्धतिः तथोक्ता "तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु। अवतारर्षिजुष्टाम्भः स्त्रीरजःसु च विश्रुतम्" इति विश्वः। प्रबध्यतेस्म प्रबद्धा सुमेरुचूलादिसुधार्णवावधिप्रबद्धा नीलोपलपद्धतिर्यस्यास्सा तथोक्ता मेरुगिरिचूलिकाप्रभृतिक्षीराब्धिपर्यंतरचितेंद्रनीलमणिसोपानमार्गवती। ऋभूणां निर्जराणां "आदित्या ऋभवोऽस्वप्नाः" इत्यमरः। उभयी उभावयवावस्या इत्युभयी द्विप्रकारा । घटा घटना।"घटः कुंभे समाधौ च घटा तु गजसंहतौ। घटनायां च गोष्ठ्यां च" इति नानार्थरत्नमालायां। प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात् प्रयत्नतः। घटिता घट्यतेस्म घटिता रचिता तदा। ऋभूणामित्यत्र "पदे तु संहिता नित्या सैव वाक्ये विकल्पते" इति वचनान्नसंधिः कृतः ॥ ११ ॥

भा० अ०—उस समय सुमेरु पर्वत से लेकर क्षीरसमुद्र तक नीलरत्नजटित सोपानमार्ग से जाती हुई द्विविध देवमण्डली सुवर्णकलसों से अभिषेक जल लाने के लिये प्रयत्नपूर्वक संघटित हुई ॥ ११ ॥

बभुर्व्रजंतो मणिकुंभधारिणः सुधाशिनः पांडुवनात्पयोवनं ॥
जिनेन्द्रभक्त्या जलनीतये स्वयं प्रवृत्तपात्रांगसुरद्रुमा इव ॥१२॥

बभुरित्यादि । पांडुवनात् पांडु च तत् वनं च पांडुवनं तस्मात्। पयोवनं पयसो वनं पयोवनं "दुग्धाब्धिप्रवणप्रवासनिवासवारिकांतारेषु वनम्" इति नानार्थकोशे। व्रजंतः व्रजंतीति व्रजंतः गच्छंतः। मणिकुंभधारिणः मणिभिर्निर्मिताः कुंभा मणिकुंभा मणिकुंभान् धरंतीत्येवं शीलास्तथोक्ताः। सुधाशिनः सुधामश्नन्तीति सुधाशिनः देवाः। जिनेंद्रभक्त्या जिनेंद्रे कृता भक्तिर्जिनेंद्रभक्तिस्तया। स्वयं। जलनीतये जलस्य नयनं जलनीतिस्तस्यै सलिलानयनाय। प्रवृत्तपात्रांगसुरद्रुमा इव पात्राण्यंगेषु येषां ते तथोक्ताः

सुराणां द्रुमास्सुरद्रुमाः पात्रांगाश्च ते सुरद्रुमाश्च तथोक्ताः प्रवृत्ताश्च ते पात्रांगसुरद्रुमाश्च तथोक्ताः प्रवृत्तपात्रांगकल्पवृक्षा इव । बभुः रेजिरे भा दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१२॥

भा० अ० —पाण्डुक वनसे क्षीर समुद्र तक चक्कर काटते हुए तथा मणिमय कलश लिये देवताएं जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से स्वयं जल लाने के लिये पंचाग कल्पवृक्ष के समान सोभते थे ॥ १२ ॥

भुवा च भीत्या भिदुरात्मकं सुराः स्वभावतो व्यक्षमुखैर्विवर्जितम् ॥
विशालमाद्यंतविदूरमद्भुतं गभीरमापुस्त्वरया पयोनिधिम् ॥१३॥

भुवेत्यादि। भुवा भूम्या । भीत्या च वेदिकयापि । भिदुरात्मकं भिदुरमेवात्मा यस्य सः भिदुरात्मकस्तं वज्रमयं "कुलिशं भिदुरं पविः" इत्यमरः । स्वभावतः स्वस्य भावस्तस्मात् । व्यक्षमुखैः द्वे अक्षे येषां ते व्यक्षास्त एव मुखमादिर्येषां ते व्यक्षमुखास्तैः द्वीन्द्रियादिप्राणिभिः । "अक्षः कर्षे तुषे चक्रे शकटे व्यवहारयोः । आत्मज्ञे पाशके चाक्षं तुत्थसौवर्चलेंद्रिये" इति विश्वः । विवर्जितं विरहितं निर्जंतुकत्वात्परिशुद्धमित्यर्थः । विशालं विस्तीर्णं । आद्यंतविदूरं आदिश्च अंतश्च आद्यंतौ ताभ्यां विदूरस्तं अनादिनिधनमित्यर्थः । अद्भुतं आश्चर्यभूतं । गभीरं अगाधं । पयोनिधिं पयांसि निधीयंतेऽस्मिन्निति पयोनिधिस्तं सुधोदधिं । त्वरया शीघ्रेण "संभ्रमस्त्वरा" इत्यमरः । आपुः ययुः आप्लृ व्याप्तौ लिट् । जातिः ॥१३॥

भा० अ०—ये (देवताएं) स्वभाव ही से द्वीन्द्रिय जीवों से रहित, अनादि निधन भूमि और वेदिका से वज्रमय अद्भुत तथा अगाध सुधासमुद्र को शीघ्र आये ॥ १३ ॥

निपीड्य लक्ष्मीमपहृत्य चक्रिरे ठकाः स्वकं जीवनमात्रशेषकं ॥
अपीदमायांत्यपहर्तुमित्यगादपांनिधिर्वेपथुमूर्मिभिर्नि तु ॥ १४ ॥

निपीड्येत्यादि । ठकाः कार्पटोग्रंथिचारवः । निपीड्य निपीडनं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति बाधित्वा मथित्वेत्यर्थः । लक्ष्मीं कमलां । अपहृत्य अपहरणं पूर्वं पश्चात्किञ्चिदिति स्वीकृत्य । स्वकं कुत्सितः स्वः स्वकस्तं निकृष्टमात्मानं "कुत्सिताल्पाज्ञात" इति क प्रत्ययः । जीवनमात्रशेषकं जीवनमेव जीवनमात्रं प्राणमात्रमुदकमात्रं वा तदेव शेषमवशिष्टं यस्य तं "जीवनं वर्तने नीरे पुत्रजीवे तु जीवनः" इति विश्वः । चक्रिरे विदधिरे डुकृञ् करणे लिट् । इदमपि जीवनमात्रमपि अपहर्तुं ग्रहीतुं । आयांति आगच्छंति या प्रापणे लट् । इति एवं भयादिति शेषः । अपांनिधिः समुद्रः । "तत्पुरुषे कृतिबहुलम्" इत्यलुक् । वेपथुम् कंपनं । टु वेपृ कंपने इति धातोः "टुडिवृतोऽथुक्" इतिकर्तर्यथुःप्रत्ययः । अगात् अगमत् । इण् गतौ

लुङ् "गैत्योः" इति गादेशः । ऊर्मिभिस्तु तरंगैस्तु वेपथुं नागात् । अपह्नवः ॥१४॥

भा० अ०—धूर्तों ने मथ तथा लक्ष्मी निकाल कर इसका जलमात्र अवशिष्ट रख छोड़ा है, इसे भी देवतालोग अपहरण करने के लिये मानों आ रहे हैं, इसी भय से तरंगों के द्वारा समुद्र कम्पित हो रहा है ॥ १४ ॥

मरुत्सु कुंभान्युगपत्क्षिपत्स्वलं जलाय संक्षोभमिषेण सागरः ॥
जिनोत्सवार्होऽहमभूवमित्यभून्मुदा समुन्मेषित एष केवलं ॥१५॥

मरुत्स्वित्यादि । मरुत्सु देवेषु "मरुतौ पवनामरौ" इत्यमरः । जलाय उदकाय । कुंभान् कलशान् । युगपत् सकृत् । अलं भृशम् । "अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्" इत्यमरः । क्षिपत्सु सत्सु "यद्भावोभावलक्षणम्" इति सप्तमी । सागरः पयोनिधिः । संक्षोभमिषेण संक्षोभ एव मिषं तेन चलनव्याजेन "मिषं गजनिमीलनम्" इत्यभिधानात् । एषः अयं । जिनोत्सवार्हः जिनस्य उत्सवः तथोक्तः जिनोत्सवस्य अर्हः जिनोत्सवार्हः जिनजन्माभिषेकोत्सवयोग्यः । अभूवं अभवं भू सत्तायां लुङ् । केवलं परं । मुदा संतोषेण । समुन्मेषितः प्रवृद्धः अभूत् भू सत्तायां लुङ् ॥१५॥

भा० अ०—जल भरने के लिये देवताओं के घट-क्षेपण करने से मैं जिन भगवान के उत्सव का योग्य हुआ इस व्याज से समुद्र प्रसन्नता पूर्वक बढ़ने लगा ॥ १५ ॥

विनिन्युरेकं मुखयोजनं घटैर्दधद्भिरष्टोदरयोजनानि च ॥
जलानि सर्वाण्यपि दुग्धवारिधेः स्वकेन मार्गेण धराधरं सुराः ॥१६॥

विनिन्युरित्यादि । सुराः देवाः । एकमुखयोजनं एक मुखस्य योजनं तथोक्तं । अष्टोदरयोजनानि उदरस्य योजनानि उदरयोजनानि अष्ट च तान्युदरयोजनानि च तथोक्तानि पुनस्तानि । दधद्भिः धरद्भिः । घटैः कलशैः । दुग्धवारिधेः वारीणि धीयंते अस्मिन्निति वारिधिः दुग्धरूपो वारिधिश्च तथोक्तः तस्मात् । सर्वाण्यपि सकलान्यपि । जलानि सलिलानि । स्वकेन स्वकीयेन । मार्गेण पथा आकाशमार्गेणेत्यर्थः । धराधरं धरां धरतीति धराधरस्तं महामेरुपर्वतं । विनिन्युः प्रापयंतिस्म णीञ् प्रापणे लिट् ॥१६॥

भा० अ०—एक योजन चौड़े मुँह तथा आठ योजन चौड़े पेंदेवाले घटों के द्वारा देवताओं ने क्षीर-समुद्र का जल अपने आकाश मार्ग से सुमेरु पर्वत पर पहुंचाया ॥१६॥

जिनोऽयमक्षीणमहानसर्धिभाग्भविष्यतीत्यस्य विवक्षया स्फुट ॥
वितीर्णमप्यम्बुधिना पयोऽखिलं जिनाधिपायाक्षयतामयात्पुनः ॥१७॥

जिन इत्यादि । अयं एषः । जिनः दुर्जयकर्मठकर्मारातीन् जयतीति जिनः जिननाथः । अक्षी-

णमहानसर्धिभाक् क्षीयतेस्म क्षीणं न क्षीणमक्षीणं अक्षीणं महानसं यस्यास्सा तथोक्ता अक्षीणमहानसा चासौ ऋद्धिश्च तथोक्ता अक्षीणमहानसर्धि भजतिस्मेत्यक्षीणमहानसर्धिभाक् भज सेवायामितिधातोः "विण्भज" इति विण्प्रत्ययस्तस्य लोपो दीर्घश्च। भविष्यतीति जनिष्यत इति। अस्य अर्थस्य। स्फुटं व्यक्तं। विवक्षया वक्तुमिच्छा विवक्षा तया उच्चरितुं वांछया वच परिभाषणे इति धातोस्सनंतात् स्त्रीलिंगे अत्प्रत्य। जिनाधिपाय जिनश्चासावधिपस्तस्मै अर्हद्दीशित्रे। अंबुधिना अंबूनि धीयंतेऽस्मिन्नित्यंबुधिस्तेन क्षीरवारिधिना। अखिलं समस्तं। पयः क्षीरं। वितीर्णमपि प्रदत्तमपि। पुनः भूयः। अक्षयतां न क्षयः अक्षयस्तस्य भावोऽक्षयता तां अन्यूनत्वं। आयात् आगच्छत् या प्रापणे लङ्॥ १७॥

भा० अ०—यह जिनेन्द्र भगवान् अक्षय धन-धान्य-समृद्धिशाली होंगे इसी कारण से समुद्र ने जितने जल समर्पित किये थे उनकी पूर्त्ति फिर हो गयी॥ १७॥

अथामरेंद्रौ सुरवृंदढौकितान्भुजैरनेकैर्विकृतैः पयोघटान्॥
विधृत्य जन्माभिषवं विधित्सया सुनिर्मलस्यापि जिनस्य चक्रतुः॥ १८॥

अथेत्यादि। अथ जलानयनानंतरे। अमरेन्द्रौ सौधर्मैशानेंद्रौ। विकृतैः विक्रियंतेस्म विकृतास्तैः विक्रियाशक्तिकृतैः। अनेकैः समस्तैः। भुजैः बाहुभिः। सुरवृंदढौकितान् सुराणां वृंदं तथोक्तं ढौकतेस्म ढौकिताः सुरवृंदेन ढौकिताः सुरवृंदढौकितास्तान् सुरसमूहेनानीतान्। पयोघटान् पयसा पूर्णा घटाः पयोघटास्तान् क्षीरकलशान्। विधृत्य धृत्वा। सुनिर्मलस्यापि मलान्निर्गतो निर्मलः सुष्ठु निर्मलः सुनिर्मलस्तस्य निर्गतकल्मषस्यापि। जिनस्य जिनेश्वरस्य जन्माभिषवं जन्मनोऽभिषवो जन्माभिषवस्तं जन्माभिषेकं। विधीच्छया विधेरिच्छा विधीच्छा तया। विधित्सेति पाठे विधातुमिच्छा विधित्सेति सनंतः कर्तुमिच्छा तया। चक्रतुः विदधतुः डुकृञ् करणे लिट्॥ १८॥

भा० अ०—सौधर्म और ईशानेन्द्र ने देवताओं से समर्पित किये गये जलपूर्ण कलसों को अपनी अनेक कल्पित भुजाओं से अत्यन्त स्वच्छ शरीरवाले भी जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक किया॥ १८॥

सुवर्णगारुत्मतरूप्यकुंभिभिर्भुजासहस्रैरमराधिपावुभौ॥
व्यराजतां पाकशलाटुपुष्पभिर्लतासहस्रैरिव कल्पशाखिनौ॥१९॥

सुवर्णेत्यादि। उभौ अमराधिपौ अमराणामधिपौ सौधर्मैशानेंद्रौ। सुवर्णगारुत्मतरूप्यकुंभिभिः सुवर्णं च गारुत्मतं च रूप्यं च तथोक्तानि तैः निर्मितानि कुंभानि तैः

हिरण्मयमरकतमणिरजतमयकलशवद्भिः "गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः" इत्यमरः। भुजासहस्रैः भुजानां सहस्राणि भुजासहस्राणि तैः सहस्रबाहुभिः। "बाहौ पाणौ भुजोर्ध्वयोः" इति नानार्थरत्नमालायां। कल्पशाखिनौ शाखास्संत्यनयोरिति शाखिनौ कल्पौ च तौ शाखिनौ च तथोक्तौ कल्पवृक्षाविव। पाकशलाटुपुष्पभिः पच्यतेस्म पाकः पाकमूलेऽपिन्वाविकर्णादिभ्यः कुणुञ्जाहलावित्यस्यार्थं विवृण्वता कौशिककरेण पाकः फलमित्युक्तं ततः पक्वफलमित्यर्थः। पाकश्च शलाटुश्च पुष्पं च पाकशलाटुपुष्पाणि तानि संत्येषामिति पाकशलाटुपुष्पाणि तैः पक्वफलामलपुष्पसहितैः। "पाकशिशौ जरानिष्ठापचनक्लेदनेषु च" इति विश्वः। "आमे फले शलाटुः स्यात्" इत्युभयत्राप्यमरः। लतासहस्रैः लतानां सहस्राणि लतासहस्राणि तैः सहस्रशाखिभिः। "लता ज्योतिष्मती स्पृका शाखावल्लीप्रियंगुषु" इति विश्वः। व्यराजतां अभातां राजृ दीप्तौ लङ् ॥ उत्प्रेक्षा ॥ १९ ॥

भा० अ० —ये दोनों सुवर्ण, मरकत मणि और चाँदी के घड़ों से युक्त सहस्र भुजाओं से सुपक्व फल तथा मनोहर पुष्पों से लदी हुई हजारों लताओं से दो कल्पवृक्षों के समान शोभित हो रहे थे ॥ १९ ॥

शिशुश्च शैलश्च धृतिं परीक्षितुं ध्रुवं सुरेंद्रद्वितयेन वारिधेः ॥
निषिच्यमानौ युगपत्सुधाजलैरभावभूतां समधैर्यसंपदौ ॥ २० ॥

शिशुरित्यादि। शिशुश्च जिनबालकः। शैलश्च महामेरुः। धृतिं धैर्यं। "धृतिर्धारणधैर्ययोः" इत्यमरः। ध्रुवं निश्चलं। परीक्षणाय परीक्षितुं परीक्षानिमित्तं। सुरेंद्रद्वितयेन सुरेन्द्रयोर्द्वितयं सुरेंद्रद्वितयं तेन सौधर्मेशानेंद्रयुगलेन। वारिधेः क्षीरसमुद्रस्य। सुधाजलैः सुधामयानि जलानि सुधाजलानि तैः अमृतसलिलैः। युगपत् सकृदेव। निषिच्यमानौ निषिच्येते इति निषिच्यमानौ "माङ् लट" इत्यादिना कर्मणानः "मगाने" इति मगागमः। उभौ द्वौ। समधैर्यसंपदौ धैर्यस्य संपत् ययोस्तौ समानधृतियुक्तौ। अभूतां अजनिषातां भू सत्तायां लुङ् ॥ २० ॥

भा० अ०—धैर्य और निश्चलता की परीक्षा करने के लिये क्षीरसमुद्र के अमृतमय जलके द्वारा दोनों इन्द्रों से स्नान कराये जाते हुए श्रीजिन बालक और पाण्डुक शिला-एक ही साथ समान धैर्य-सम्पत्ति-शाली से हुए ॥ २० ॥

वहत्पयःपूरशतानि पांडुकात् बभुस्त्रिलोकैकगुरोर्जिनेशिनः ॥
भरेण भिन्नादभितो विनिस्सरत्प्रभूतनिर्यासरसप्रवाहवत् ॥ २१ ॥

वहदित्यादि। पांडुकात् पांडुकोपलात्। वहत्पयःपूरशतानि पयसां पूराः पयपूराः वहंतीति वहंतः वहंतश्च ते पयःपूराश्च तथोक्तास्तेषां शतानि निर्गच्छत्क्षीरपूरशतानि

त्रिलोकैकगुरोः त्रयश्च ते लोकाश्च तथोक्ताः एकश्चासौ गुरुश्च एकगुरुः त्रिलोकानामेकगुरुस्त्रिलोकैकगुरुस्तस्य त्रिभुवनस्य मुख्यगुरोः । "गुरुर्निषेकादिकरे पित्रादौ सुरमंत्रिणि । दुर्जेराऽलघनोः प्रोक्तो गुरुर्महति वाच्यवत्" इति विश्वः । जिनेशिनः जिननाथस्य । भरेण भारेण । भिन्नात् भिनत्तिस्म भिन्नं तस्मात् । अभितः सर्वतः । विनिस्सरत्प्रभूतनिर्यासरसप्रवाहवत् निर्यासस्य रसः निर्यासरसः तस्य प्रवाहस्तथोक्तः प्रभूतश्चासौ निर्यासरसप्रवाहश्च तथोक्तः निस्सरतीति निस्सरन् स चासौ प्रभूतनिर्यासरसप्रवाहश्च तथोक्तस्तद्वत् निर्गच्छत्प्रभूतनिर्यासरसप्रवाह इव "निर्यासस्स्यादाम्रमरसः खपुरो वेष्टकोलशः" इति विदग्धचूडामणौ । बभुः । रेजुः भा दीप्तौ लिट् ॥२१॥

भा० अ०—पाण्डुक-शिला से प्रवाहित होते हुए सैकड़ो जल-प्रवाह मानो त्रिभुवनपति श्रीजिनेन्द्र भगवान् के बोझ से दबकर चारों तरफ से निकलती हुई आम्र-रसधारा के सदृश मालूम होते थे ॥ २१ ॥

नगेंद्रसंपत्तिदिदृक्षया ध्रुवं पयःप्रवाहाः परितोऽपि संभ्रमात् ॥
हटत्तटीशृंगशिलागुहासरोवनेषु पर्याटुरनेकदा चिरं ॥२२॥

नगेंद्रेत्यादि । पयःप्रवाहाः पयसां प्रवाहाः तथोक्ताः क्षीरप्रवाहाः । नगेंद्रसंपत्तिदिदृक्षया नगानां इंद्रो नगेंद्रस्तस्य संपत्तिः तथोक्ता द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा नगेंद्रसंपत्तिदिदृक्षा तया महामेरोः संपदं द्रष्टुमिच्छया । हटत्तटीशृंगशिलागुहासरोवनेषु तटी च शृंगं च शिला च गुहा च सरश्च वनं च तटीशृंगशिलागुहासरोवनानि हटंतीति हटन्ति हटंति च तानि तटीशृंगशिलागुहासरोवनानि च तेषु रमणीयतया प्रस्फुरच्छिखरशिलागह्वरसरोवरकाननेषु । परितोऽपि । संभ्रमात् संवेगात् "समौ संवेगसंभ्रमौ" इत्यमरः । अनेकधा अनेकेन प्रकारेण अनेकधा अनेकविधेन । चिरं बहुसमयपर्यन्तम् । पर्याटुः इतस्ततः परिजग्मुः । अट गतौ लिट् ॥ २२ ॥

भा० अ०—जलधाराओं ने सुमेरु पर्वत की विभूति देखने की इच्छा से—नदी, शिखर, गिरिकन्दरा, तालाव तथा वन में चारों ओर बड़े वेग से देर तक चक्कर लगाया ॥२२॥

वहत्पयःपूरशतोऽभितो बभौ सुमेरुराच्छिद्य पतत्रयोर्द्वयं ॥
पुनश्च केनापि चरिष्यतीत्ययं गिरिद्विषा राजतरज्जुबद्धवत् ॥२३॥

वहदित्यादि । गिरिद्विषा गिरीणां द्विट् तथोक्तस्तेन देवेंद्रेण । पतत्रयोः पक्षयोः । द्वयं युगलं । आच्छिद्य खंडित्वा । पुनश्च पश्चात् । अयं एषः पर्वतः । केनापि प्रकारेण । चरिष्यति गमिष्यति । राजतरज्जुबद्धवत् रजतस्येयं राजती राजती चासौ रज्जुश्च राजतरज्जुः बध्यतेस्म बद्धः राजतरज्वा बद्धस्तथोक्तस्स इव रूप्यकृतरज्वा बद्ध इव ।

अभितः सर्वतः। वहत्पयःपूरशतः पयसां पूराः पयःपूराः तेषां शतानि पयःपूरशतानि वहंतिपयःपूरशतानि यस्यासौ तथोक्तः। सुमेरुः महामेरुः। बभौ विरराज। भा दीप्तौ लिट्। प्राग्गिरयः सपक्षाः शक्रवनं चरंतो गोत्रभिदा सपक्षच्छेदमधः पातिता इति हि लौकिकोक्तिः स्तोत्रमुत्प्रेक्ष्यते ॥ २३ ॥

भा० अ०—इन्द्र से दोनों पांख काटे जाने पर भी सुमेरु पर्वत शायद फिर से किसी तरह चलने लग जाय—इस खयाल से इसे सैकड़ों जलधारा-रूपी राजतरजू से आबद्ध के समान सोभता था ॥२३॥

विरेजुरुन्मग्ननिमग्नमूर्तयो मुहुर्मुहुर्ज्योतिषलोकसंश्रिते ॥
पयःप्रवाहे परितोऽपि तारका यथैव विस्पष्टविनष्टबुद्बुदाः ॥२४॥

विरेजुरित्यादि। पयःप्रवाहे पयसां प्रवाहस्तथोक्तस्तस्मिन्। ज्योतिषलोक संश्रिते ज्योतिषामयं ज्योतिषः स चासौ लोकश्च ज्योतिषलोकस्तं संश्रितस्तस्मिन्सति। परितोऽपि सर्वतोऽपि। उन्मग्ननिमग्नमूर्तयः उन्मज्जंतिस्म उन्मग्नाः निमज्जन्तिस्म निमग्नाः उन्मग्नाश्च निमग्नाश्च तथोक्ताः उन्मग्ननिमग्नाः मूर्तयो यासां तास्तथोक्ता उद्गतांतर्गतावयवाः। तारकाः नक्षत्राणि। "तारकाप्युडु वास्त्रियाम्" इत्यमरः। मुहुर्मुहुः पुनःपुनः। विस्पष्टविनष्टबुद्बुदाः विस्पष्टाश्च विनष्टाश्च विस्पष्टविनष्टाः ते च ते बुद्बुदाश्च तथोक्ताः व्यक्ताव्यक्तजलबुद्बुदाः। यथैव येन प्रकारेण। तथा तेनैव प्रकारेण। रेजुः बभुः राजृ दीप्तौ लिट् उत्प्रेक्षा ॥२४॥

भा० अ० इस जलप्रवाह के ज्योतिर्लोक मे पहुँचने पर इसमें मग्नोन्मग्न होती हुई तारायें उगते और विनशते हुए जल बुद्बुद के समान दीखती थीं ॥२४॥

निशाकराहस्करभार्गवासितैरलक्ष्यत क्षीरतरंगिणी क्षणं ॥
सिताब्जरक्तांबुजकैरवोत्पलैर्विराजमानेव वियत्तरंगिणी ॥२५॥

निशाकरेत्यादि। क्षीरतरंगिणी तरंगास्संत्यस्यामिति तरंगिणी क्षीरस्य तरंगिणी "नृदुक्" इत्यादिना ङी। निशाकराहस्करभार्गवासितैः निशां करोतीति निशाकरः "दिवाविभानिशेत्यादिना" कृञष्टप्रत्ययः अहस्करोतीत्यहस्करः तेनैव सूत्रेण ट प्रत्ययः भृगौ भवो भार्गवः निशाकरश्च भार्गवश्च असितश्च निशाकराहस्करभार्गवासितास्तैः चंद्र सूर्यशुक्रशनैश्चरैः सिताब्जरक्तांबुजकैरवोत्पलैः अप्सु जायत इत्यब्जं सितं च तत् अब्जं च सिताब्जं रक्तं च तत् अंबुजं च कैरवं च "सिते कुमुदकैरवे" इत्यमरः उत्पलं च सिताब्जरक्तांबुजकैरवोत्पलानि तैः श्वेताश्वरक्तकमलसितोत्पलनीलोत्पलैः। विराजमाना विराजत इति विराजमाना "माङ्लटेत्यादिना" आनश् प्रत्ययः "मगाने" इति मः वियत्तरंगिणीव

वियती विद्यमाना तरंगिणी तथोक्ता सेव क्षणं क्षणपर्यन्तम् । अलक्ष्यत अदृश्यत । लक्षि-दर्शनांकनयोः कर्मणि लङ् । उत्प्रेक्षा यथासंख्या च ॥ २५ ॥

भा० अ०—क्षीरनदी—लाल, काले, उजले कमल तथा कैरव से समाच्छादित होकर चन्द्र, सूर्य, शुक्र तथा शनिग्रह से परिवेष्टित देवनदी के समान कुछ क्षण तक सोभने लगी ॥२५॥

वहंति नानामणिमेदिनीप्रभाप्रबद्धदुग्धांबुधुनीशतान्यभुः ॥
सुरेंद्रभीताचलपालिनेऽब्धये नगाधिपक्षिप्तविचित्रवस्त्रवत् ॥ २६ ॥

वहंतीत्यादि । वहंति वहंतीति वहंति स्रवंति वहि प्रापणे इति धातोः शतृप्रत्ययः । नानामणिमेदिनीप्रभाप्रबद्धदुग्धांबुधुनीशतानि नानामणिमेदिनीप्रभाभिः प्रबध्यन्तेस्म प्रबद्धानि तथोक्तानि दुग्धरूपाण्यम्बूनि दुग्धाम्बूनि तेषां धुन्यः दुग्धाम्बुधुन्यस्तासां शतानि तथोक्तानि नानामणिमेदिनीप्रभाप्रबद्धानि च तानि दुग्धाम्बुधुनीशतानि तथोक्तानि विविधरत्नकांतिभिः रंजितक्षीरनीरनद्यनेकानि । सुरेंद्रभीताचलपालिने सुराणामिंद्रः सुरेंद्रः तस्माद्भीता सुरेंद्रभीतास्ते च ते अचलाश्च तथोक्ताः सुरेंद्रभीताचलान् पालयतीत्येवं शीलः पाली तथोक्तस्तस्मै गोत्रभिद्भीतपर्वतरक्षकाय । अब्धये आपो धीयंतेऽस्मिन्नित्यब्धिस्तस्मै समुद्राय । नगाधिपक्षिप्तविचित्रवस्त्रवत् नगानामधिपस्तथोक्तः क्षिप्यतेस्म क्षिप्तं नगाधिपेन क्षिप्तं तथोक्तं विचित्रं च तत् वस्त्रं च विचित्रवस्त्रं नगाधिपक्षिप्तं च तत् विचित्रवस्त्रं च तथोक्तं नगाधिपक्षिप्त-विचित्रवस्त्रमिव तथोक्तं । अभुः व्यराजन् । भा दीप्तौ लङ् । "आद्विषोर्भेर्जुस्वा" इति विकल्पेन जुस् । उत्प्रेक्षा ॥ २६ ॥

भा०अ०—विविध मणिमय मेदिनी की प्रभा से प्रतिफलित सैकड़ों दुग्धरूप जल की नदियां इन्द्र से डरे हुए पर्वतों की रक्षा करने वाले समुद्र को पर्वतराज से दिये गये अपूर्व वस्त्र के समान सोभने लगीं ॥२६॥

महीभृता तेन तदोपधीकृताः पयस्तटिन्यो भुवनैकपालकं ॥
सुगोत्रलावण्यनिवासमर्णवं समेत्य वर्याः स्वमयं व्यधुः क्षणात् ॥२७॥

महीभृतेत्यादि । तेन महीभृता महीं बिभर्तीति महीभृत् तेन राज्ञा पर्वतेन वा । तदा तत्समये । उपधीकृताः प्रागनुपधा इदानीमुपाधाः क्रियंतेस्म तथोक्ताः "उपायन-मुपग्राह्यमुपधाचापि" इत्यमरः । पयस्तटिन्यः तटमस्त्यासामिति तटिन्यः पयसां तटिन्य-स्तथोक्ताः क्षीरनद्यः । वर्याः विशिष्टाः पतिंवराश्च पुरुषस्ववशीकरणचतुरा इत्यर्थः । "पतिं-वरा च वर्याथ मुख्यवर्यवरेण्याश्च" इत्यमरः । भुवनैकपालकं एकश्चासौ पालकश्च एक-

पालकः भुवनस्यैकपालको भुवनैकपालकस्तं लोकस्य मुख्यरक्षकं । सुगोत्रलावण्यनिवासं शोभनं गोत्रं विशिष्टान्वयः पक्षे शोभना गोत्राः सुगोत्राः महागिरयः सुगोत्रं च सुगोत्राश्च लावण्यं सौरूप्यं लवणत्वं तच्च सुगोत्रलावण्यानि तेषां निवासस्तं "गोत्रं नाम्नि कुले क्षेत्रे कानने चित्तवर्त्मनोः संभावनीयबोधेऽपि गोत्रः क्षोणिधरे मतः । लावण्यं देहकांतौ च लवणत्वे च कथ्यते" इत्युभयत्राप्यभिधानात् । अर्णवं अंबुधिं । समेत्य समयनं पूर्वंपश्चात्किञ्चिदिति प्राप्य । क्षणात् अल्पकालात् । स्वमयं स्वस्मादभिन्नं स्वस्वरूपं । व्यधुः अकार्षुः डुधाञ् धारणे च लुङ् । श्लेषालंकारः ॥ २७ ॥

भा० अ०—उस समय मानों राजा से (पर्वत से) भेंट की गयीं सुन्दर दुग्धमय नदियों ने संसार के एकमात्र रक्षक तथा उच्चवंशजों (उत्तम पर्वतों) का सौन्दर्यस्थान समुद्र के पास जाकर तुरन्त उसे निजरूपमय बना डाला ॥२७॥

अथामरास्तीर्थजलैस्सुरेश्वरद्वयेन सृष्टे जिनगंधवारिणि ॥
पटीरकर्पूरनिषद्वराविलेऽप्यहो ममज्जुर्हृतपापकर्दमे ॥२८॥

अथेत्यादि । अथ अभिषवानंतरे । सुरेश्वरद्वयेन सुराणामीश्वरौ तथोक्तौ सुरेश्वरयोर्द्वयं सुरेश्वरद्वयं तेन सौधर्मेशानेंद्रयुगलेन । तीर्थजलैः तीर्थानि च तानि जलानि च तीर्थानां जलानि वा तीर्थजलानि तैः तीर्थसलिलैः । सृष्टे सृज्यतेस्म सृष्टस्तस्मिन् कृते । पटीरकर्पूरनिषद्वराविले पटीरश्च कर्पूरं च तथोक्ते पटीरकर्पूरयोर्निषद्वरस्तथोक्तः । "निषद्वरस्तु जंबालः" इत्यमरः पटीरकर्पूरनिषद्वरेणाविलस्तथोक्तस्तस्मिन् "कलुषोऽनच्छ आविलः" इत्यमरः श्रीगंधकर्पूरपंकेन कलुषेऽपि । हृतपापकर्दमे ह्रियतेस्म हृतः पापमेव कर्दमस्तथोक्तः हृतः पापकर्दमो येन सः तस्मिन् । जिनगंधवारिणि गंधेन युतं वारि गंधवारि जिनस्य गंधवारि तथोक्तं तस्मिन् जिनपतिगंधोदके । ममज्जुः मज्जंतिस्म टुमस्जो शुद्धौ लिट् । अहो अद्भुतं ॥२८॥

भा० अ०—इस के बाद दोनों इन्द्रों से तीर्थ-जलों द्वारा किये गये चन्दन तथा कर्पूरमय और पापपंकापहारी श्रीजिनेन्द्र भगवान् के सुगन्धित गन्धोदक में देवताओं ने गोते लगाये ॥२८॥

बभौ तरां पांडुकसंज्ञिका शिला समीपकीर्णैः स्नपनोदबिंदुभिः ॥
यथा शरच्चद्रकलोडुभिः श्रितैर्यथा च शुक्तिर्नवमौक्तिकैश्च्युतैः ॥२९॥

बभावित्यादि । पांडुकसंज्ञिका पांडुक इति संज्ञा यस्यास्सा तथोक्ता । शिला दृषत् । समीपकीर्णैः समीपे कीर्णास्समीपकीर्णास्तैः निकटे विकीर्णैः । स्नपनोदबिंदुभिः स्नपनस्योदकानि "मन्थौदनसक्तुबिंदुवज्रविवधभारहारगाह" इत्युदादेशः । तेषां बिंदवः

स्नपनोदबिंदवस्तैः अभिषेकजलबिन्दुभिः । श्रितैः आश्रितैः । उडुभिः नक्षत्रैः । शरच्चंद्रकला शरदश्चंद्रश्शरच्चंद्रस्तस्य कला तथोक्ता शरत्कालशशिकला । यथा । च्युतैः च्यवंतेस्म च्युतास्तैः । परितः परितैः । नवमौक्तिकैः नवाश्च ते मौक्तिकाश्च नवमौक्तिकास्तैः नूतनमौक्तिकमणिभिः । शुक्तिः यथा तथा । बभौ तरां प्रकृष्टं बभौ बभौ तरां "द्वयोर्विभज्ये च तरप्" इति तरप् "अव्ययैत्किम्" इत्यादिना चाम् भा दीप्तौ लिट् ॥२६॥

भा० अ०—नक्षत्रों से जिस प्रकार शारदी चन्द्रकला, तथा चारो तरफ बिखरे हुए नूतन मोतियों से जिस प्रकार शुक्तिका शोभा पाती है, उसी प्रकार समीप में पड़े हुए अभिषेक-जल-बिन्दुओं से पाण्डुक-शिला भी अत्यन्त सुशोभित होने लगी ॥२६॥

प्रमार्ज्य निर्मज्जनशीकरांस्तनौ दूकूलचेलांचलपल्लवेन तत् ॥
शची विमुग्धा जगदेकवृद्धमप्यलंचकाराऽखिलबालभूषणैः ॥३०॥

प्रमार्ज्येत्यादि । विमुग्धा विमूढा । शची इंद्राणी । दुकूलचेलांचलपल्लवेन दुकूलं च तत् चेलं च दुकूलचेलं तस्य अञ्चलः स एव पल्लवस्तेन । तनौ शरीरे । निर्मज्जनशिकरान् निर्मज्जनस्य शिकरास्तान् अभिषेकजलकणान् । प्रमार्ज्य मार्जयित्वा । जगदेकवृद्धं एकश्चासौ वृद्ध एकवृद्धः जगतामेकवृद्धस्तथोक्तस्तं जगतां मुख्यपंडितं वयोधिकं च । "बुधः वृद्धौ पंडितेऽपि" इत्यमरः । तं जिनेशं । अखिलबालभूषणैः बालस्य भूषणानि बालभूषणानि अखिलानि च तानि बालभूषणानि च अखिलबालभूषणानि तैः । अलंचकार अलंकरोतिस्म डुकृञ् करणे लिट् ॥३०॥

भा० अ०—भोली भाली इन्द्राणी ने देह में छुटे हुए अभिषेक-जलकणों को चादर के अंचल से पोंछ कर संसार में एकमात्र ज्ञानवृद्ध श्रीजिनेन्द्र भगवान को बालोचित भूषणों से समलङ्कृत किया ।।३०॥

निसर्गरंध्रः श्रुतिसंश्रयाभ्यां रराज रक्तोपलकुंडलाभ्यां ॥
जिनाधिपः पल्लवितद्विपार्श्वो यथा रसालः शिशिरात्ययस्य ॥३१॥

निसर्गेत्यादि । जिनाधिपः जिनेश्वरः । निसर्गरंध्रश्रुतिसंश्रयाभ्यां निसर्गेण रंध्रे च ते श्रुती च निसर्गरंध्रश्रुती ते एव संश्रयो ययोस्ते ताभ्यां स्वाभाविकछिद्रकर्णाश्रयाभ्यां। रक्तोपलकुंडलाभ्यां रक्तश्चासावुपलश्च रक्तोपलः रक्तोपलेन रचिते कुंडले ताभ्यां पद्मरागमणिनिर्मितकुंडलाभ्यां । शिशिरात्ययस्य शिशिरस्यात्ययः शिशिरात्ययस्तस्य वसंतकालप्रारंभस्य । पल्लवितद्विपार्श्वः पल्लवास्संजाता अनयोरिति पल्लवितौ द्वौ च तौ पार्श्वौ च द्विपार्श्वौ पल्लवितौ द्विपार्श्वौ यस्यासौ तथोक्तः संजातपल्लवयुक्तोभयपार्श्वः "संजाततारकादिभ्यः" इति त प्रत्ययः । रसालः माकंदः "आम्रश्चूतो रसालाऽ

सौ सहकारोऽतिसौरभः" इत्यमरः । यथा तथा । रराज बभौ राजृ दीप्तौ लिट् । रसालस्य पल्लवितद्विपार्श्वमात्रत्वसमर्थनायैव वसंतस्य शिशिरात्ययाभिधानग्रहणं । उत्प्रेक्षा ॥ ३१ ॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र भगवान स्वाभाविक छिद्रवाले दोनों कानों में लगे हुए पद्मराग-मणि-निर्मित कर्णभूषणों से मानों वसन्त ऋतुमें दोनों ओर से पल्लवित आम्रवृक्ष के समान सोभने लगे ॥३१॥

हारस्य मुक्ता गलशंखमुक्ता इव प्रभोरंगमरीचिवश्याः ॥
उरःकवाटीयमुनाह्रदांतर्वितेनिरे बुद्बुदपंक्तिलीलां ॥३२॥

हारस्येत्यादि । प्रभोः जिनाधिपस्य । गलशंखमुक्ता इव गल एव शंखः गलशंखः मुच्यंतेस्म मुक्ताः गलशंखेन मुक्ताः तथोक्ताः कंठकंबुगलिता इव । अंगमरीचिवश्याः अंगस्य मरीचयः तथोक्ताः वशं गताः वश्याः । "पश्यपथ्यवयस्येत्यादिना" साधुः । अंगमरीचीनां वश्यास्तथोक्ताः शरीरस्य कांत्यधीनाः । हारस्य कंठाभरणस्य । मुक्ताः मौक्तिकानि । उरःकवाटीयमुनाह्रदांतः उरसः कवाटी उरः कवाटी उरःकवाट्येव यमुना तथोक्ता उरः कवाटीयमुनायाःह्रदस्तस्यांतः उरःप्रदेशयमुनानदीह्रन्मध्ये । बुद्बुदपंक्तिलीलां बुद्बुदानां पंक्तिस्तथोक्ता बुद्बुदपंक्त्याः लीला तथोक्ता तां । बुद्बुदराजिविलासं । वितेनिरे विस्तारयंतिस्म तनु विस्तारे लिट् ॥ ३२ ॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र भगवान के कण्ठरूपी शंख से अलग हुए तथा अंगों की चमक के अधीनस्थ हार के मोतियाँ मानों वक्षस्थल-रूपी यमुना के भीतर जल की बुद्बुद-लीला का दृश्य दिखला रहे हैं। अर्थात् भगवान के श्याम-शरीर में हार के मोतियों के दाने काली यमुना के जल-बुद्बुद से दीख पड़ते थे ॥३२॥

महीधरे तत्र निषेधिवांसं तमालनीलाकृतिमुद्वहंतम् ॥
पयोदबुध्या श्रितमिंद्रचापमसिस्मरद्रत्नमयः कलापः ॥३३॥

महीधर इत्यादि । रत्नमयः रत्नानां विकारो रत्नमयः । कलापः कटिसूत्रं । "कलापो भूषणे बर्हे" इत्यमरः । तत्र तस्मिन् तत्र । महीधरे पर्वते । निषेधिवांसं निषेधति इति निषेधिवांसं स्थितवांसं । तमालनीलाकृतिं तमाल इव नीला तमालनीला सा चासावाकृतिश्च तमालनीलाकृतिस्तां तमालनीलवच्छ्यामाकारं । उद्वहंतं उद्वहतीत्युद्वहन् तं धरंतं । जिनेशं । पयोदबुद्ध्या पयोद इति बुद्धिः पयोदबुद्धिः तया मेघबुद्ध्या । श्रितं आश्रितं । इन्द्रचापं इन्द्रस्य चापमिंद्रचापं सुरधनुः । असिस्मरत् अचिंतयत् ध्यै स्मृ चिंतायां णिजंताल्लुङ् । उत्प्रेक्षा ॥ ३३ ॥

भा० अ०—रत्नमय कटिभूषण ने उस पर्वत पर विराजमान तमालवृक्ष के समान

श्याम रंग के श्रीजिनेन्द्र भगवान को मेघ समझ कर उगे हुए इन्द्रचाप की याद दिलायी ॥३३॥

बालामृतांशोर्ध्रुवमस्य पादमेकांततः पंकजरुक्प्रशांतेः ॥
निबंधनं बंधुहिताय भानुर्भेजे ज्वलन्नूपुरवेषधारी ॥३४॥

बालेत्यादि। भानुः सूर्यः। एकांततः एकश्चासावंतश्च तथोक्तः एकांतात् एकांततः अत्यर्थं। पंकजरुक्प्रशांतेः पंकात् पापात् जायत इति पंकजं "पंकः कर्दमपापयोः" इति विश्वः। पंकजा चासौ रुक्च तथोक्ता पंकजस्य कमलस्य रुक् तथोक्ता "स्त्री रुग्रुजा चोपतापरोगव्याधिगदामया "स्युः प्रभा रुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः" इत्यमरः। तस्याश्शांतिस्तथोक्ता तस्याः पापजनितरोगस्य कमलकिरणस्य वा शांतिरुपशमस्य। निबंधनं कारणं। अस्य एतस्य। बालामृतांशोः अमृतरूपा अंशवो यस्य सः तथोक्तः बाल एवामृतांशुस्तस्य जिनबालचंद्रस्य। पादं चरणं किरणं वा। बंधुहिताय बंधुभ्यो हितं बंधुहितं तस्मै बांधवानां कमलानां हितं निमित्तं। ज्वलन्नूपुरवेषधारी ज्वलतीति ज्वलत् ज्वलच्च तत् नूपुरं च ज्वलन्नूपुरं तदेव वेषः ज्वलन्नूपुरवेषस्तं धरतीत्येवं शीलस्तथोक्तः प्रकाशमानसंजीरवेषधारी। रूपकः। ध्रुवं निश्चलं। भेजे निषेवे भज सेवायां लिट्। उत्प्रेक्षा ॥३४॥

भा०अ०—सूर्य ने अपने बन्धु (कमल) की हित-कामना से प्रेरित होकर पद्म के (अथवा पाप से उत्पन्न हुए) रोग को (अथवा सम्पुटता) शान्त करने (अथवा विकाश करने) के एकमात्र कारण जो जिनेन्दुबाल के चरण हैं, उनकी उज्ज्वल नूपुर का वेश धारण कर सेवा की। जिनेन्द्र भगवान् का चरण सूर्य के ऐसा समुज्वल था ॥ ३४ ॥

कलंकमुक्त्यै सकुटुंबमिंदुर्नखच्छलेनाभजदस्य पादौ ॥
सदाश्रयं सोऽपि नमोचयेति छलेन नीलोपलकिंकिणीनाम् ॥३५॥

कलंकमुक्त्यै इत्यादि। इंदुः चंद्रः। अस्य जिनबालकस्य। नखच्छलेन नखा एव छलं तेन पादनखव्याजेन। रूपकः। कलंकमुक्त्यै मोचनं मुक्तिः कलंकस्य मुक्तिः कलंकमुक्तिस्तस्यै कलमषत्यजननिमित्तं। सकुटुंबं कुटुंबेन सह वर्तनं यस्मिन्कर्मणि तत् कुटुंबसहितं। अभजत् असेवत भज सेवायां लङ्। सोऽपि कलंकोऽपि अपिशब्दश्चार्थः। सदाश्रयं सतां प्रशस्तानां नक्षत्राणां च आश्रयः सदाश्रयस्तं सत्पुरुषनक्षत्राश्रयं। श्लेषः। "सत्प्रशस्ते विद्यमाने त्रिषु क्लीवे सत्यतारयोः" इति शाश्वतः। नमोचय न त्याजय मुच्ल्ट मोचणे णिजन्ताल्लोट्। नीलोपलकिंकिणीनां नीलश्चासौ उपलश्च तथोक्तः नीलोपलेन निर्मिताः किंकिण्यस्तासां इंद्रनीलकृतक्षुद्रघंटिकानां "किंकिणी क्षुद्रघंटिका" इत्यमरः छलेन व्याज्येन। पादौ चरणौ। अभजत्। उत्प्रेक्षा ॥ ३५ ॥

भा०अ०—सपरिवार चन्द्रमा ने अपने कलङ्क की मुक्ति के लिये नख के बहाने से जिनेन्द्र भगवान् के चरण की सेवा की। और उस कलंक ने भी सज्जनों (अथवा नक्षत्रों) के आश्रयभूत उस चरण (अथवा चन्द्रमा) की "मैं इसे नहीं छोड़ता" इस विचार से नीलम से जड़ी हुई किंकिणी के बहाने से सेवा की। अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के चरण-नख चन्द्रमा के ऐसा समुज्वल था और नीलम से जड़ी हुई किंकिणी चन्द्रमा के कलंक के समान थी ॥ ३५ ॥

मुहुर्विलिप्तोऽपि जिनेंद्रगात्रे शचीशरत्नोज्वलभासि शच्या ॥
सिताभ्रविभ्राजिपटीरपङ्कः स्फुटोऽभवत्केवलसौरभेण ॥ ३६॥

मुहुरित्यादि। शचोशरत्नोज्वलभासि शच्याः ईशश्शचीशस्तस्य रत्नं तथोक्तं शचीशरत्नमिव उज्वलाभाः यस्य तत् शचीशरत्नोज्वलभास्तस्मिन् इंद्रनीलवदुज्वलकांतियुक्ते। जिनेंद्रगात्रे जिनानामिंद्रस्तस्य गात्रं जिनेंद्रगात्रं तस्मिन् जिनेश्वरशरीरे। शच्या इंद्राण्या। मुहुः पुनः। विलिप्तोऽपि विलिप्यतेस्म विलिप्तोऽपि। सिताभ्रविभ्राजिपटीरपङ्कः विभ्राजत इत्येवं शीलो विभ्राजी सिताभ्रेण कर्पूरेण विभ्राजी तथोक्तः सितश्चासावभ्रश्च सिताभ्रश्शारदाभ्रेण स इव विभ्राजी तथोक्त इति वा पटीरस्य पङ्कः पटीरपङ्कः सिताभ्रविभ्राजी चासौ पटीरपङ्कश्च तथोक्तः कर्पूरेण विराजमानः श्रीगंधकर्दमः "सिताभ्रो हिमवालुका" इत्यमरः। केवलसौरभेण सुरभिरेव सौरभं केवलं सौरभं केवलसौरभं तेन केवलपरिमलेन। स्फुटः प्रव्यक्तः। अभवत् अभूत्। भू सत्तायां लङ्। नतु वर्णेनेत्यंगवारीत्यतिशयः। अनुमित्यलंकारः ॥ ३६ ॥

भा०अ०—इन्द्रनील-मणि की कान्ति से युक्त श्रीजिनेन्द्र-देह में इन्द्राणी से वार वार उपलिप्त होने पर भी कर्पूरमय स्वच्छ तथा उज्वल श्रीखण्ड चन्दन केवल सुगन्ध से मालूम पड़ता था न कि अपने रंग से ॥ ३६ ॥

अथाखिलेंद्रैः सहितोऽमरेंद्रः समर्चनाभिः स्तवनैश्च नाट्यैः ॥
समाप्तजन्माभिषवं समग्रं कुशाग्रमेनं पुनरानिनाय ॥ ३७ ॥

अथेत्यादि। अथ अलंकरणानंतरे। अखिलेंद्रैः अखिलाश्च ते इंद्राश्च अखिलेंद्रास्तैः समस्तेंद्रैः। सहितः युक्तः। अमरेंद्रः अमराणामिंद्रस्तथोक्तः सौधर्मेन्द्रः। समर्चनाभिः पूजाभिः। स्तवैश्च स्तोत्रैः। च शब्दस्समुच्चयार्थः। नाट्यैः नर्तनैः जन्माभिषवं जन्मनोऽभिषवो जन्माभिषवस्तं जन्माभिषेकं। समग्रं सकलं। समाप्य समापनं पूर्वं पश्चात्किञ्चिदिति उभित्वा। एनं जिनेशं। कुशाग्रं राजपुरं। पुनः मुहुः। आनिनाय प्रापयांचकार णीञ् प्रापणे लिट् ॥ ३७ ॥

भा०अ० —इसके अनन्तर सभी अन्यान्य इन्द्रों के साथ सौधर्मेन्द्र पूजन, स्तुति तथा नृत्यादिक-द्वारा जन्माभिषेक सम्पन्न करके फिर जिनेन्द्र भगवान् को कुशाग्र नामक राजपुरी में लाये ॥ ३७ ॥

ऋभुक्षिचक्षुर्द्युतिसिच्यमानो जिनो बभौ देवगजे निषण्णः ॥
तदापि पांडूपरि रत्नकुंभशतक्षरत्क्षीरनिषिच्यमानः ॥ ३८ ॥

ऋभुक्षीत्यादि । देवगजे देवस्य गजो देवश्चासौ गजश्चेति वा देवगजस्तस्मिन् ऐरावतगजे। निषण्णः निषीदतिस्म निषण्णः निविष्टः । ऋभुक्षिचक्षुर्द्युतिसिच्यमानः ऋभुक्षिणश्चक्षूंषि तथोक्तानि ऋभुक्षिचक्षुषां द्युतिस्तथोक्ता सिच्यत इति सिच्यमानः ऋभुक्षिचक्षुर्द्युत्या सिच्यमानस्तथोक्तः । तथापि तस्मिन्काले़ऽपि । पाण्डूपरिरत्नकुंभशतक्षरत्क्षीरनिषिच्यमानः पाण्डोरुपरि पाण्डुशिलोपरि रत्नमयाः कुम्भास्तथोक्ताः रत्नकुम्भानां शतं तथोक्तं क्षरतीति क्षरत् क्षरच्च तत् क्षीरं क्षरत्क्षीरं रत्नकुम्भशतात् क्षरत्क्षीरं तथोक्तम् निषिच्यत इति निषिच्यमानः रत्नकुम्भशतक्षरत्क्षीरेण निषिच्यमानस्तथोक्तः मणिमयकलशशतेन स्रवत्पयसा सिच्यमानः स इति अध्याहारः । बभौ रराज भा दीप्तौ लिट् ॥ ३८ ॥

भा०अ०—ऐरावत हाथी पर बैठे हुए जिनेन्द्र भगवान इन्द्र की नेत्रद्युति से ओत प्रोत होते हुए उस समय भी मानों पाण्डुक-शिला पर मणिमय कुंभ की सैकड़ो क्षीरधारा से अभिषिक्त होते हुए के समान सोभते थे ॥ ३८ ॥

पुरं नृपागारमपि प्रविश्य पुरैव यक्षेन्द्रकृते सुरेन्द्रः ॥
निवेशयामास सहेमपीठे सभागृहे रत्नमये जिनेन्द्रं ॥ ३९ ॥

पुरमित्यादि । सुरेन्द्रः सुराणामिन्द्रः देवेन्द्रः । पुरं राजपुरम् । नृपागारमपि नॄन् पातीति नृपस्तस्यागारम् नृपागरं नृपमन्दिरमपि अपिशब्दस्समुच्चयार्थः । प्रविश्य । पुरैव प्रागेव । यक्षेन्द्रकृते यक्षाणामिन्द्रो यक्षेन्द्रस्तेन कृतं तस्मिन् कुबेरनिर्मिते । सहेमपीठे हेम्ना निर्मितं पीठं तथोक्तं हेमपीठेन सह वर्तत इति सहेमपीठं तस्मिन् सुवर्णसिंहासनसहिते । रत्नमये रत्नस्य विकारो रत्नमयं तस्मिन् रत्ननिर्मिते। सभागृहे सभायाः गृहं आस्थान-सभागृहं तस्मिन् मण्डपे । जिनेन्द्रं जिनेश्वरं । निवेशयामास निवासयतिस्म । विश प्रवेशने णिजन्ताल्लिट् ॥ ३९ ॥

भा०अ०—सुरेन्द्र ने राजपुरी तत्पश्चात् राजमन्दिर में प्रवेश करते ही के साथ पूर्व में ही कुबेर-निर्मित रत्नमय सभागृह में सुवर्ण के सिंहासन पर श्रीजिनेन्द्र भगवान् को बैठाया ॥ ३९ ॥

ततः सुतास्येंदुविलोकमात्रप्रवृद्धहर्षामृतसिंधुमग्नौ ॥
विलोक्य मातापितरौ स्मितास्यो निवेदयामास समस्तमिंद्रः ॥४०॥

तत इत्यादि । इन्द्रः शक्रः । ततः तस्मिन् ततः निवेशनानंतरे । सुतास्येंदुविलोकमात्रप्रवृद्धहर्षामृतसिंधुमग्नौ सुतस्यास्यं सुतास्यं तदेवेंदुः रूपकः विलोक एव विलोकमात्रं सुतास्येंदोर्विलोकमात्रं प्रवर्धतेस्म प्रवृद्धः सुतास्येंदुविलोकमात्रेण प्रवृद्धः सुतास्येंदुविलोकमात्रप्रवृद्धः अमृतमयस्सिंधुः अमृतसिंधुः हर्ष एवामृतसिंधुस्तथोक्तः सुतास्येंदुविलोकमात्रेण प्रवृद्धः सुतास्येन्दुविलोकमात्रप्रवृद्धश्चासौ हर्षामृतसिंधुश्च तथोक्तः मज्जतस्म मग्नौ सुतास्येंदुविलोकमात्रप्रवृद्धहर्षामृतसिंधौ मग्नौ तथोक्तौ जिनबालवदनचंद्रदर्शनमात्रेण समृद्धसंतोषक्षीरसमुद्रे स्नातौ । मातापितरौ माता च पिता च मातापितरौ । "आङ्" इति सूत्रेण द्वंद्वसमासे पूर्वऋकारस्याङादेशः जननीजनकौ । विलोक्य वीक्ष्य । स्मितास्यः स्मितमास्यं यस्य सः तथोक्तः ईषद्धसनमुखसहितस्सन् । समस्तं मायाशिशुं निधाय स्वामिमंदरनयनादिसर्वं निवेदयामास आज्ञापयामास विद ज्ञाने लिट् "दयायास्कासित्यादिना" आम् तद्योगे असभुवीति धातोरनु प्रयोगः ॥४०॥

भा०अ०—इसके बाद इन्द्र ने पुत्र जिन-बालक के प्रफुल्ल मुखचन्द्र के दर्शन-मात्र से उमड़े हुए आनन्द-सुधा-समुद्र में गोता लगाते हुए माता पिता से मुस्कुराते हुए सारा वृत्तान्त निवेदन किया । अर्थात् मायामय बालक को रख कर जिनेन्द्र-बालक को सुमेरु पर्वत पर पहुँचाने आदि का सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ४० ॥

माता स्वयं च परिरंभमिषेण देवं रोमांचनीपकलिकानिकरैः कृताध्यां ॥
प्रीत्याभ्यषिंचदमितप्रमदाश्रुनीरैः स्वच्छैरतुच्छकुचकुंभपयोद्वितीयैः ॥४१॥

मातेत्यादि । माता जिनजननी । स्वयं च । च शब्दस्समुच्चयार्थः । रोमांचनीपकलिकानिकरैः नीपस्य नीपवृक्षस्य कलिकास्तथोक्ताः नीपकलिकानां निकराः तथोक्ताः रोमांचा इव नीपकलिकानिकराः रोमांचनीपकलिकानिकरास्तैः रोमहर्षणकदंबकोरकसमूहैः । कृताध्यां क्रियतेस्म कृतं कृतमर्घ्यं यया सा तथोक्ता विहिताध्या । परिरंभमिषेण परिरंभ इति मिषं तेन आलिंगनव्याजेन । स्वच्छैः सुनिर्मलैः । अतुच्छकुचकुंभपयोद्वितीयैः न तुच्छौ च तौ कुचौ च अतुच्छकुचौ तावेव कुंभौ तथोक्तौ अतुच्छकुचकुंभयोः विद्यमानं पयः तथोक्तं अतुच्छकुचकुंभपय एव द्वितीयं एषां तानि अतुच्छकुचकुंभपयोद्वितीयानि तैः रूपकः पीवरस्तनक्षीरद्वितीयोदकयुतैः । अमितप्रमदाश्रुनीरैः अश्रुणो नीराण्यश्रुनीराणि न मितोऽमितः स चासौ प्रमदश्च तथोक्तः अमित-

प्रमदेन जातान्यश्रुनीराणि तैः बहुलसंतोषसंभूतनेत्रोदकैः प्रथमानंदाश्रुभिः पश्चात्कुचकुंभपयोभिरित्यर्थः। देवं जिननाथं। प्रीत्या संतोषेण। अभ्यर्षिंचत् अभ्यर्षिणात्। षिच् सेचने लङ्। मातुरालिंगनहर्षोत्कर्षात् रोमांचानंदबाष्पकुचपयःस्रुतयो भवंतीत्यर्थः॥ ४१॥

भा० अ०—आलिंगन के बहाने से रोमांचरूप कदम्ब के कलिका समूह से पूजा किये हुई स्वयं माता ने उन्नत पयोधर की स्वच्छ दुग्ध-धारा तथा आनन्द की अश्रुधारा से श्री जिनेन्द्र भगवान् को प्रीति पूर्वक अभिषिक्त किया ॥४१॥

मणिकांचनदिव्यवस्त्रदानैः पटुभेरिपटहोत्थितारवैश्च ॥
युगपत्परिपूरिताखिलाशं विदधे स्वःपतिरस्य जातकर्म ॥४२॥

मणीत्यादि। स्वःपतिः स्वर्गस्य पतिः देवेंद्रः। मणिकांचनदिव्यवस्त्रदानैः मणयश्च कांचनानि च दिवि भवानि दिव्यानि दिव्यानि च तानि वस्त्राणि च दिव्यवस्त्राणि तथोक्तानि मणिकांचनदिव्यवस्त्राणां दानानि तथोक्तानि तैः रत्नहिरण्यदिव्यवसनत्यागैः। पटुभेरिपटहोत्थितारवैः भेर्यश्च पटहाश्च भेरिपटहाः पटवश्च ते भेरिपटहाश्च तथोक्ताः उत्थीयंते स्म उत्थिताः पटुभेरिपटहैरुत्थिताः तथोक्ताः पटुभेरिपटहोत्थिताश्च ते आरवाश्च पटुभेरिपटहोत्थितारवास्तैः पटुदुन्दुभिपटहजनितध्वनिभिः। च शब्दस्समुच्चयार्थः। परिपूरिताखिलाशं परिपूर्यन्तेस्म परिपूरिताः अखिलाश्च ताः आशाश्च अखिलाशाः अखिलाश्च अखिलाश्च अखिलाश्च तैरेकशेषः परिपूरिताः अखिलाशाः यस्मिन्कर्मणि तत् तथोक्तं परिव्याप्तसमस्तदिशं यथा तथा संपूर्णीकृतसमस्ताभिलाषं च यथा तथा। "आशा तृष्णादिशोः प्रोक्ता" इति विश्वः। अस्य जिनबालकस्य। जातकर्म जातस्य कर्म तथोक्तं। विदधे चकार। डुधाञ् धारणे च लिट्॥ ४२॥

भा० अ०—देवेन्द्र ने सुवर्ण, मणि तथा उत्तम २ वस्त्रों के परिधापन से और दिव्य दुन्दुभि पटह के नाद से परिपूर्ण दिङ्मण्डल में शास्त्रोक्त विधि से जात-कर्म संस्कार सम्पन्न किया ॥४२॥

करिष्यते मुनिमखिलं च सुव्रतं भविष्यति स्वयमपि सुव्रतो मुनिः ॥
विवेचनादिति विभुरभ्यधाय्यसौ बिडौजसा किल मुनिसुव्रताक्षरैः ॥४३

करिष्यत इत्यादि। असौ अयं। विभुः स्वामी। अखिलं च सकलं। मुनिं यतिजनं। च समुच्चयार्थः। सुव्रतं सु शोभनं व्रतं यस्य तं सुष्ठु व्रतयुक्तं। करिष्यते विधास्यते। स्वयमपि। सुव्रतः समीचीनव्रतयुक्तः। मुनिः मुनीशः। भविष्यति जनिष्यते भू सत्तायां लृट्। इति एवं। विवेचनात् निर्वचनात्। बिडौजसा देवेंद्रेण "बिडौजाः पाकशासनः" इत्यमरः।

मुनिसुव्रताक्षरैः मुनिसुव्रत इत्यक्षराणि मुनिसुव्रताक्षराणि तैः मुनिसुव्रताक्षरैः । अभ्यधायि । डुधाञ् धारणे च कर्मणि लुङ् "कर्मभावे" इति ञ प्रत्ययः "ञेः" इति तस्य लुक् आहूतः इत्यर्थः ॥४३॥

भा० अ०—स्वयम् उत्तम व्रतशाली होकर सभी मुनियों को प्रशस्त व्रत वाले बना येंगे ऐसा विचार कर अमराधिप इन्द्र ने 'मुनि सुव्रत' इन अक्षरों के आधार पर इन का मुनिसुव्रत नाम रक्खा ॥४३॥

देव्यो मज्जनमंडनादिकरणे प्रौढाः प्रहृष्टाशयाः ।
देवांश्चापि विनोदकर्मणि समानाकृत्यवस्थागतान् ॥
देवस्यास्य नियुज्य निर्जरपतिः प्रत्युद्ययौ स्वं जगत् ।
प्रीत्यानुव्रजतो विसृज्य विबुधान भालाग्रबद्धांजलीन् ॥ ४४ ॥

देव्य इत्यादि । निर्जरपतिः निर्जराणां पतिस्तथोक्तः देवेंद्रः । अस्य एतस्य । देवस्य स्वामिनः । मज्जनमंडनादिकरणे मज्जनं च मंडनं च मज्जनमंडने ते आदिर्येषां तानि मज्जन-मंडनादीनि तेषां करणं मज्जनमंडानादिकरणं तस्मिन् स्नानालंकारादिक्रियायां । प्रौढाः चतुराः । प्रहृष्टाशयाः प्रहर्षतिस्म प्रहृष्टः प्रहृष्टः आशयो यासां ताः संतुष्टाभिप्रायाः । देव्यः देवरमण्यः । विनोदकर्मणि विनोदस्य कर्म तस्मिन् विनोदकार्ये । समानाकृत्यवस्थागतान् आकृतिश्च अवस्था च आकृत्यवस्थे समाने च आकृत्यवस्थे च समानाकृत्यवस्थे गच्छंतिस्म गताः समानाकृत्यवस्थे गतास्तथोक्तास्तान् समानाकारवयोगतान् । देवां-श्चापि सुरकुमारांश्चापि । च शब्दोऽत्र प्रौढान् प्रहृष्टाशयानिति लिंगपरिणामेन समुच्चिनोति । नियुज्य नियम्य । प्रीत्या संतोषेण । अनुव्रजतः अनुव्रजंतीत्यनुव्रजंतस्तान् पश्चादायातः । भालाग्रबद्धांजलीन् भालस्याग्रं भालाग्रं बध्यतेस्म बद्धः भालाग्रे बद्धोऽजलिः येषां ते भाल-ग्रबद्धांजलयस्तान् ललाटाग्ररचितांजलीन् । विबुधान् चतुर्विधान् देवान् । विसृज्य प्रहित्य । स्वं स्वकीयं । जगत् लोकं । प्रत्युद्ययौ प्रत्युज्जगाम । या प्रापणे लिट् ॥ ४४॥

भा० अ०—देवेन्द्र जिनेन्द्र भगवान् के स्नानालङ्कार आदि शुभकृत्य सम्पादन में प्रवीण तथा उन्नत विचार वाली देवांगनाओं और मनोरञ्जन-कार्य में दक्ष तथा समान आकृति और अवस्था वाले हाथ जोड़े आगे पीछे चलते हुए नतमस्तक देवताओं को वहाँ नियुक्त कर आप अपने स्थान को चल दिये ॥४४॥

इत्यर्हद्दासकृतेः काव्यरत्नस्य टीकायां सुबोधिन्यां भगवज्जन्मा-
भिषेकवर्णनो नाम षष्ठः सर्गोऽयं समाप्तः ।

अथ सप्तमः सर्गः ।

न निर्जरैर्वर्जितसेवनोऽयं न कांतिसंभावितशुक्लपक्षः ॥
न च प्रदोषावसरं प्रपन्नः क्व विद्म बालेंदुरियाय वृद्धिम् ॥१॥

नेत्यादि। अयं एषः। बालेंदुः बाल एव इन्दुः बालचंद्रः। निर्जरैः जराभ्यो निर्गता निर्जरास्तैः देवैः। वर्जितं सेवनं वर्जितसेवनं यस्य सः विरहितपूजनः निवृत्तभक्षणः। न न भवति। निर्जराश्चंद्रकलाः कृष्णपक्षे भक्षयंति न तु शुक्लपक्ष इति प्रसिद्धेः। कांतिसंभावितशुक्लपक्षः कांत्या संभावितस्तथोक्तः शुक्लानां पक्षः शुक्लपक्षः कांतिसंभावितः शुक्लपक्षो यस्य सः पक्षे शुक्लश्चासौ पक्षश्च शुक्लपक्षः कांतिसंभावितः शुक्लपक्षो यस्य सः किरणसंस्कृतस्फटिकादिधवलवस्तुसमूहः प्रभाप्रोद्भावितपूर्वपक्षश्च। "पक्षे मासार्द्धके पार्श्वे ग्रहे साध्यविरोधयोः। केशाद्येः परतो वृंदे बले सखिसहाययोः। पतत्रे चुल्लिरंध्रे च देहांगे राजकुंजरे। शुक्लो योगांतरे श्वेते शुक्लं च रजते मतम्" इत्युभयत्रापि विश्वः। न न भवति। प्रदोषावसरं प्रकृष्टा दोषाः प्रदोषास्तथोक्ताः प्रदोषाणामवसरस्तं पक्षे प्रदोषावसरस्यावसरस्तथोक्तस्तं प्रकृष्टपापाश्रयवेलां रजनीमुखकालं च। "सायं निश्यवयं दोषास्त्रिवासा दूषणाद्ययोः" इति भास्करः। प्रपन्नः प्रपद्यतेस्म प्रपन्नः प्रयातः। न च न भवति। च समुच्चयार्थः। वृद्धिं समृद्धिं। इयाय जगाम। इण् गतौ लिट्। क्व कुत्र। विद्म जानीमः। विद ज्ञाने लट्। "विदो लटो वा" इति विकल्पेन णलाद्यादेशः। निर्जरैर्वर्जितसेवनः कांतिसंभावितशुक्लपक्षः प्रदोषावसरं प्रपन्नश्चैव स पुनः वृद्धिं एति अयं तु तद्विलक्षणगुणः कथं वृद्धिमायाति इतिभावः॥ १॥

भा० अ०—यह नूतन जिन बालक चन्द्र देवताओं से विरहित सेवन नहीं हैं अर्थात् इस जिन-चन्द्र कला को देवतायें भक्षण नहीं करते। क्योंकि चन्द्रकला को कृष्ण ही पक्ष में देवता लोग नहीं खाते हैं ऐसा लोक प्रसिद्ध सिद्धान्त है केवल कान्ति से ही शुक्लपक्ष की सम्भावना नहीं की जाती अर्थात् जिन-चन्द्र-बालक की चाँदनी सदा समुद्योतित रहती है। और यह चन्द्र प्रदोष अथवा पापास्रवको प्राप्त नहीं है तो भी बढ़ता ही जाता है यह आश्चर्य है। अर्थात् इस जिनचन्द्र तथा आकाश-चन्द्र के धर्म-वैपरीत्य में महान् अन्तर है यह बड़े आश्चर्य की बात है॥१॥

करांगुलिं लिप्तसुधां स लिड्ढ्वा बबंध मातुः स्तनयोर्न बुद्धिं ॥
सुरेन्द्रवंद्यः सुरदेहतायां चिरानुभूतामृततृष्णयेव ॥ २ ॥

करांगुलिमित्यादि । सुरेंद्रवंद्यः सुराणामिंद्रास्सुरेंद्राः वंदितुं योग्यो वंद्यः सुरेंद्रै वंद्यस्तथोक्तः देवेंद्रै वंद्यः । सः जिननाथः । लिप्तसुधां लिप्यतेस्म लिप्ता लिप्ता सुधा यस्यास्सा तां उपलिप्तपीयूषां । करांगुलिं करस्यांगुलिः करांगुलिः तां हस्तांगुलिं । लिड्ढ्वा लेहनपूर्वं आस्वाद्य। सुरदेहतायां सुराणां देहो यस्य सुरदेहस्तस्य भावः सुरदेहता तां तस्यां धृतदिव्यशरीरत्वे । चिरानुभूतामृततृष्णयेव अनुभूयतेस्म अनुभूतं चिरेण अनुभूतं चिरानुभूतं तच्च तत् अमृतं च तथोक्तं चिरानुभूतामृतस्य तृष्णा तयेव बहुकालानुभूतसुधावांछयेव । मातुः जनन्याः । स्तनयोः । बुद्धिं मतिं । न बबंध न चकार । बधि बंधने लिट् ॥२॥

भा० अ०—सुरेन्द्रों से वन्दनीय श्री जिन-बालक ने मानों देव-शरीरपने की चिरकाल से अनुभूत अमृत की तृष्णा से सुधालिप्त अपनी अंगुलियों को चाट कर माता के स्तनपान से रुचि हटायी ॥२॥

जिनार्भकस्येंद्रियतृप्तिहेतुः करे बभूवामृतमित्यचित्रं ॥
चित्रं पुनः स्वार्थसुखैकहेतुरतच्चामृतं तस्य करे यदासीत् ॥ ३ ॥

जिनार्भकस्येत्यादि । जिनार्भकस्य जिन एव अर्भकस्तस्य जिनबालकस्य । "दारको नंदनोऽर्भकः" इति धनंजयः । करे हस्ते । अमृतं सुधा । इंद्रियतृप्तिहेतुः इंद्रियस्य तृप्तिस्तथोक्ता इंद्रियतृप्त्याः हेतुस्तथोक्तः इंद्रियसंतर्पणकारणं । बभूव भवतिस्म । भू सत्तायां लिट् । इति एवं । वचनं । अचित्रं न चित्रमचित्रं आश्चर्यं न भवति । पुनः किमिति चेत्—तस्य जिनबालकस्य । करे हस्ते । यत् स्वार्थसुखैकहेतुः स्वस्मै इदं स्वस्मै भवं वा स्वार्थं स्वार्थं च तत् सुखं च स्वार्थसुखं एकश्चासौ हेतुश्च एकहेतुः स्वार्थसुखैकहेतुस्तथोक्तः स्वाधीनसुखस्य मुख्यकारणं । अमृतं मोक्षः । "अमृतं यज्ञशेषे स्यात्पीयूषे सलिले घृते । अयाचिते च मोक्षे च धन्वंतरिसुपर्वणोः" इति विश्वः । इति । आसीदभवत् स्वाधीनं बभूवेत्यर्थः तच्च च समुच्चयार्थः । चित्रं आश्चर्यं ॥ ३ ॥

भा० अ०—जिन बालक श्रीमुनिसुव्रत नाथ के हाथ में इन्द्रिय-तृप्ति के लिये अमृत था इसमें तो कोई आश्चर्य ही नहीं है। आश्चर्य केवल इस बात के लिये कहा जा सकता है कि अपने सुखका एक मात्र कारण-भूत अमृत (मोक्ष) भी उनके हस्तगत था ॥३॥

उल्लोकितैरुत्पललोचनायाः ससंभ्रमोत्क्षेपणकौतुकेषु ॥
रराज राजांगभवोऽतरिक्षे तडिल्लताश्लिष्ट इवांबुवाहः ॥४॥

उल्लोकितैरित्यादि। राजांगभवः अंगे भवतीत्यंगभवः राज्ञोऽगभवस्तथोक्तः राजकुमारः। उत्पललोचनायाः उत्पले इव लोचने यस्यास्तस्याः कुमुददलनिभनेत्रायाः पद्मावत्याः। उल्लोकितैः उल्लोकंते स्म उल्लोकितानि तैः उर्ध्वदर्शनैः। ससंभ्रमोत्क्षेपणकौतुकेषु उत्क्षेपणान्येव कौतुकानि तथोक्तानि संभ्रमेण सह वर्तत इति ससंभ्रमाणि तानि च तान्युत्क्षेपणकौतुकानि च तथोक्तानि तेषु संभ्रमसहितोर्ध्वप्रापणक्रीडासु। अंतरिक्षे आकाशे। तडिल्लताश्लिष्टः आश्लिष्यतेस्म आश्लिष्टः तडिल्लतया आश्लिष्टः तथोक्तः विद्युल्लतालिंगितः। अंबुवाह इव अंबु वहतीत्यंबुवाहो मेघः स इव। रराज बभौ। राजृ दीप्तौ लिट्। उत्प्रेक्षा ॥ ४ ॥

भा० अ०—पद्माक्षी पद्मावती जब राजकुमार को ऊपर की ओर दृष्टि किये हुई बार २ पलक गिरा कर देख रही थी तब वे आकाश में विद्युल्लता से आवेष्टित मेघ के समान सोभने लगे ॥४॥

नराधिपेनोरसि नीयमानो बभार हारांतरनायकत्वं ॥
भेजे चलत्कुंडलतां भुजाग्रे चूडामणित्वं शिरसि प्रपन्नः ॥ ५ ॥

नराधिपेनेत्यादि। नराधिपेन नराणामधिपो नराधिपस्तेन सुमित्रमहाराजेन। उरसि वक्षसि। नीयमानः नीयत इति नीयमानः प्राप्यमाणः। हारांतरनायकत्वं हारस्यांतरं हारांतरं नायकस्य भावो नायकत्वं हारांतरे स्थितं नायकत्वं पुनस्तत् हारमध्यगततरलमणित्वं। बभार धरतिस्त भृञ् भरणे। भुजाग्रे भुजयोरग्रं भुजाग्रं तस्मिन् भुजशिरसि। नीयमानः। चलत्कुंडलतां चलत इति चलंती चलन्ती च ते कुंडले च चलत्कुंडले तयोर्भावश्चलत्कुंडलता तां विलसत्कर्णवेष्टनत्वं। भेजे निषेवे। भज-सेवायां लिट्। शिरसि मस्तके। नीयमानः। चूडामणित्वं चूडामणेर्भावश्चूडामणित्वं शिरोरत्नत्वं। "चूडामणिः शिरोरत्नम्" इत्यमरः। प्रपन्नः प्रपद्यतेस्म प्रपन्नः नीतः ॥५॥

भा० अ०—सुमित्र महाराज से छाती से लगाये जाने पर हार के मध्यमणित्व को, भुजाके अग्रभाग में लेने से चंचल कर्णभूषणत्व को तथा सिर पर लेने से चूडामणित्व को राजकुमार ने प्राप्त किया ॥५॥

करात्करं बंधुजनस्य गच्छन् रराज विभ्राजितहेमसूत्रः।
सलेखबंधः कृतहेमलेखो वणिग्जनस्येव निकाषपट्टः ॥ ६ ॥

करादित्यादि। बंधुजनस्य बंधुश्चासौ जनश्च बंधुजनस्तस्य। करात् हस्तात्। करं हस्तं। गच्छन् गच्छतीति गच्छन् यान्। सः जिनः। लेखबंधः लेखैर्बंधः देवैर्बंधः

"आदितेयादिविषदो लेखा अदितिनंदनाः" इत्यमरः । विभ्राजितहेमसूत्रः हेम्ना निर्मितं सूत्रं हेमसूत्रं विभ्राजते स्म विभ्राजितं विभ्राजितं हेमसूत्रं यस्य सः तथोक्तः विराजितसुवर्णकटिसूत्रयुक्तः । वणिग्जनस्य वणिक्चासौ जनश्च वणिग्जनस्तस्य । कृतहेमलेखः क्रियते स्म कृता हेम्नो लेखा हेमलेखा कृता हेमलेखा यस्य सः तथोक्तः कृतस्वर्णलेखासहितः । "लेखा लेखे सुरे लेखा लिपिराजकयोर्मते" इति विश्वः । निकाषपट्ट इव निकाषश्चासौ पट्टश्च तथोक्तः निकषोपल इव । रराज बभौ । राजृ दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ ६ ॥

भा० अ०—सुवर्णकटिभूषण से सुशोभित तथा देवताओं से वन्दनीय राजकुमार मुनिसुव्रत परिवार-वर्गों के हाथों हाथ होते रहने से सोने की लकीर से समुद्भासित वणिक् लोगों की कसौटी से जान पड़ते थे। अर्थात् कृष्णवर्ण मुनिसुव्रतनाथ सुवर्ण के कटिभूषण से समलङ्कृत होने पर सोने से कसी गयी कसौटी के समान दीखते थे ॥६॥

स जानुचारी मणिमेदिनीषु स्वपाणिभिः स्वप्रतिबिंबितानि ।
पुरः प्रधावत्सुरसूनुबुद्ध्या प्रताडयन्नाटयति स्म बाल्यं ॥ ७ ॥

स इत्यादि । मणिमेदिनीषु मणिकीलिता मेदिन्यो मणिमेदिन्यस्तासु रत्नमयभूमिषु । जानुचारी जानुभ्यां चरतीत्येवं शीलस्तथोक्तः जानुगमनशीलः बालकः । स्वप्रतिबिंबितानि स्वस्य प्रतिबिंबितानि तथोक्तानि स्वप्रतिमानानि । स्वपाणिभिः स्वस्य पाणयस्तैः स्वकीयहस्तैः । प्रतिबिंबबहुत्वाद्बहुवचनं । पुरः निजाग्रतः । प्रधावत्सुरसूनुबुद्ध्या प्रधावंतीति प्रधावंतः सुराश्च ते सूनवश्च सुरसूनवः प्रधावंतश्च ते सुरसूनवश्च तथोक्ताः प्रधावत्सुरसूनव इति बुद्धिस्तथोक्ता तया देवबालकमत्या । प्रताडयन् प्रताडयतीति प्रताडयन् । बाल्यं बालत्वं । नाटयति स्म नर्तयति स्म । त्रिज्ञानधरत्वादविद्यमानमपि बाल्यावस्थावशाद्विद्यमानवल्लोके दर्शयतिस्मेत्यर्थः । भ्रांतिमानलंकारः ॥ ७ ॥

भा० अ०—दोजानू होकर इधर उधर मणिमय भूमिपर डोलते हुए राजकुमार अपनी छाया को आगे दौड़ते हुए देवबालक समझ कर अपने हाथों से ताड़ित करते हुए बाल्यभावका अभिनय दिखाने लगे ॥७॥

शनैस्समुत्थाय गृहांगणेषु सुरांगनादत्तकरः कुमारः ॥
पदानि कुर्वन्किल पंचषाणि पपात तद्वीक्षणादीनचक्षुः ॥ ८ ॥

शनैरित्यादि । सुरांगनादत्तकरः सुराणामंगनाः सुरांगनास्ताभिः दत्तः करो यस्य सः तथोक्तः देवांगनाभिर्दत्तहस्तः । कुमारः जिनबालकः । शनैः मंदं यथा तथा । समुत्थाय समुत्थानपूर्वं पश्चात्किञ्चित् । गृहांगणेषु गृहस्यांगणानि गृहांगणानि तेषु सदना-

जिरेषु "गृहावग्रहणी देहल्यंगणं चत्वराजिरे" इत्यमरः। पंचषाणि पंच च षट् च पंचषाणि "सुज्वार्थ" इत्यादिना समासः। "प्रमाणिसंख्याड्डुः" इति ड प्रत्ययः। "डित्यंत्याजादेः" इत्यंत्याजादेर्लुक्। पदानि पदनिक्षेपणानि। तद्वीक्षणदीनचक्षुः तासां वीक्षणं तथोक्तं तद्वीक्षणे दीने चक्षुषी यस्य सः तथोक्तः देवांगनादर्शनेन सुदुःखितनेत्रः सन् यद्वा तद्वीक्षणेन दीनं विगतहर्षं चक्षुर्यथा तथा। पपात पततिस्म पत्ल गतौ लिट्॥ ८॥

भा० अ० –कुमार धीरे से उठ सुरांगनाओं की अंगुली पकड़ और अंगने में पांच चार डेग चल कर ही उन्हें (सुरांगनाओं को) देखने से थकित-नेत्र (दुःखित नेत्र) होते हुए गिर पड़े ॥८॥

स पांशुकेलौ सुरतर्नकानां करावकीर्णैर्नवरत्नचूर्णैः॥
कृतोपवीतो व्यरुचत्कुमारस्सदिव्यधन्वेव नवांबुवाहः ॥९॥

स इत्यादि। पांशुकेलौ पांशोः केलिः पांशुकेलिस्तस्मिन् धूलिक्रीडायां। सुरतर्नकानां सुराश्च ते तर्नकाश्च सुरतर्नकास्तेषां देवबालकानां। करावकीर्णैः अवकीर्यन्ते स्म अवकीर्णाः करैरवकीर्णाः करावकीर्णास्तैः हस्तैर्विकीर्णैः। नवरत्नचूर्णैः नव च तानि रत्नानि च नवरत्नानि नवरत्नानां चूर्णाः नवरत्नचूर्णास्तैः। "चूर्णे क्षोदः" इत्यमरः। कृतोपवीतः कृत उपवीतो यस्य सः तथोक्तः विहितवेष्टितः। सः कुमारः जिनकुमारः। सदिव्यधन्वा दिवि भवं दिव्यं दिव्यं च तत् धन्व च दिव्यधन्व दिव्यधन्वना सह वर्तत इति सदिव्यधन्वा तथोक्तः सुरचापसहितः। "धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदंडकार्मुकम्" इत्यमरः। अंबुवाहः अंबु वहतीत्यंबुवाह इव मेघ इव। व्यरुचत्। रुचि अभिप्रीत्यां च लुङ्। "द्युद्भ्यो लुङः" इति तिप्। उत्प्रेक्षा॥ ९॥

भा० अ०—वह राजकुमार धूलि-क्रीडा के समय देवबालकों के द्वारा फेंके गये नये रत्नों के चूर्ण से परि वेष्टित होकर इन्द्र चाप से प्रतिफलित नूतन मेघ के समान सोभते थे॥९॥

अशेषविज्ञोऽनिमिषैः परीक्षाप्रधित्सयेवैष विधीयमानान्॥
नियुद्धमुख्याखिलबालकेलिं निरूपयामास नरेन्द्रसूनुः॥१०॥

अशेषविज्ञ इत्यादि। अशेषविज्ञः अशेषं विजानातीत्यशेषविज्ञः सर्वज्ञः। एषः अयं। नरेन्द्रसूनुः नराणामिंद्रो नरेंद्रस्तस्य सूनुः राजतनयः। अनिमिषैः न विद्यते निमिषो येषां ते अनिमिषास्तैः देवैः। विधीयमानान् विधीयंत इति विधीयमानास्तान् क्रियमाणान्। नियुद्धमुख्याखिलबालकेलीन् बालानां केलयः बालकेलयः अखिलाश्च ते बालकेलयश्च

अखिलबालकेलयस्तान् बाहुयुद्धप्रमुखकेलयश्च अखिलबालकेलयः नियुद्धं मुख्यं येषां ते नियुद्धमुख्यास्ते च ते अखिलबालकेलयश्च नियुद्धमुख्याखिलबालकेलयस्तान् समस्त-बालविलासान् । परीक्षाप्रधित्सयेव परीक्षां प्रधित्सतीति परीक्षाप्रधित्सा तया विचार-करणेच्छयेव । निरूपयामास ददर्श । रूप रूपक्रियायां लिट् ॥ १० ॥

भा०अ०—इस सर्वज्ञ राजकुमार ने देवताओं से की गयी सभी बाल-क्रीडाओं को परीक्षा करने के निमित्त देखा न कि सर्वज्ञ होकर मनस्तृप्ति के लिये ॥१०॥

गतोनपादायुतवत्सरस्य श्रितं ततो यौवनमस्य गात्रं ॥
मधुर्यथा नंदनपारिजातं शरद्यथासान्ध्यसुधामयूखम् ॥ ११ ॥

गतोनेत्यादि । ततः तस्मिन् ततः तदनंतरं । गतोनपादायुतवत्सरस्य ऊनश्चासौ पादश्च तथोक्तः गत ऊनपादो येषां ते अयुतप्रमिता वत्सरा अयुतवत्सरा गतोनपादाः अयुतवत्सरा यस्य तस्य गलितन्यूनतुरीयभागदशप्रमितसहस्रप्रमितसंवत्सरस्य गलितविगलितपंचशताधिकसप्तसहस्रसंवत्सरस्येत्यर्थः । अस्य जिनकुमारस्य । यौवनं यूनो भावो यौवनं । गात्रं देहं । श्रितं प्राप्तं । नंदनपारिजातं नंदनस्य पारिजातस्तथोक्तस्तं नंदनकल्पवृक्षं । मधुः वसंतः । यथा शरत् शरत्कालः । सांध्यसुधामयूखं संध्याया भवस्सांध्यः सुधारूपो मयूखो यस्य सः सांध्यश्चासौ सुधामयूखश्च तथोक्तस्तम् उद्यच्चद्रं यथाश्रितः तथेति भावः ॥ ११ ॥

भा० अ०—जिस प्रकार वसन्त ऋतु नन्दन कल्पवृक्ष को और शरद् ऋतु सन्ध्याकालीन चन्द्रमा को आलिंगन करती है उसी प्रकार जब मुनिसुव्रतनाथ साढ़े सात हजार वर्ष के हुए तब इनकी देह को युवावस्थाने आलिंगित किया ॥११॥

अघर्मता निर्मलता च नित्यं पयस्सुधापांक्तिकलोहितत्वं ॥
समाकृतिं संहननं च पूर्वं सुगंधिता निंदितकैणनाभिः ॥१२॥

अघर्मतेत्यादि । नित्यं अनवरतं । अघर्मता घर्मस्य भावो घर्मता न घर्मता अघर्मता निःस्वेदत्वं । निर्मलता मलान्निर्गतं निर्मलं निर्मलस्य भावो निर्मलता निर्मलत्वं । च समुच्चयार्थः । पयस्सुधापांक्तिकलोहितत्वं पयश्च सुधा च पयस्सुधे पंक्तौ तिष्ठतीति "निकटादिषु वसतीति" ठन् । पयस्सुधयोः पांक्तिस्तथोक्तं पयस्सुधापांक्तिकं च तत् लोहितत्वं च तथोक्तं तस्य भावः पयस्सुधापांक्तिकं लोहितत्वं क्षीरामृतराजिस्थितगौररुधिरत्वं । त्रिष्वपि पदेषु बहुव्रीहिर्वा । समाकृतिः समा चासावाकृतिश्च तथोक्ता समचतुरस्रसंस्थानं । पूर्वं प्राथमिकः । संहननं वज्र-वृषभनाराचसंहननं । निंदितकैणनाभिः निंद्यतेस्म निंदितः अत्यंतं निंदितो निंदितकः

"कुत्सिताल्पाज्ञाते" इति कट् । निंदितक एणको नाभिर्यया तथोक्ता तिरस्कृतकस्तूरी । सुगंधितः शोभनो गंधोऽस्येति सुगंधिः "सूत्पूतिसुरभिर्गंधादिद्गुणे" इति अकारस्येकारः । सुगंधेर्भावस्सुगंधिता सौरभत्वम् ॥ १२ ॥

भा०अ०—निस्स्वेदता, स्वच्छता, क्षीर तथा अमृत के समान श्वेत रुधिरता, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन तथा कस्तूरी को विनिन्दित करने वाली सुगन्धिता आदि सल्लक्षण उनके अंगों में थे । १२ ।

परश्शतैरंबुजकंबुमत्स्यश्रीवत्समुख्यैर्वरलक्षणैश्च ॥
सद्व्यंजनैश्चोनसहस्रकेण मसूरिकाद्यैरुपलक्षितत्वम् ॥ १३ ॥

परश्शतैरित्यादि । अम्बुजकम्बुमत्स्यश्रीवत्समुख्यैः अंबुजं च कंबुश्च मत्स्यश्च श्रीवत्सश्च अंबुजकंबुमत्स्यास्ते मुख्या येषां तानि अंबुजकंबुमत्स्यश्रीवत्समुख्यानि तैः कमलशंखमत्स्यश्रीवत्सप्रमुखैः । परश्शतैः शतात्परा संख्या येषां तानि परश्शतानि तैः साष्टशतैः "परःशताद्यास्ते येषां परा संख्या शताधिकात्" इत्यमरः । वरलक्षणैश्च वराणि च तानि लक्षणानि च वरलक्षणानि तैः उत्कृष्टलक्षणैः । मसूरिकाद्यैः मसूरिका आद्या येषां तानि मसूरिकाद्यानि तैः मसूरिकादिभिः । ऊनसहस्रकेण ऊनं च तत् सहस्रकं च ऊनसहस्रकं तेन कियदूनसहस्रेण नवशतैरित्यर्थः । सद्व्यंजनैश्च संति च तानि व्यंजनानि च सद्व्यंजनानि च तैः प्रशस्तव्यंजनैश्च लक्षणैः । उपलक्षितत्वं उपलक्ष्यते स्म उपलक्षितं तस्य भावः उपलक्षितत्वं ॥ १३ ॥

भा० अ०—एक सौ आठ कमल, शंख, मत्स्य और श्रीवत्स आदि प्रशस्त लक्षणों से तथा नौ सौ अच्छे २ व्यञ्जनों और मसूरिकादि से वे (जिन बालक) उपलक्षित होते थे । १३ ।

विलोचनासेचनकं सुरूपं वचांसि पीयूषरसारघट्टाः ॥
जगत्त्रयीमप्यतथा विधातुं पटीयसी काचन दिव्यशक्तिः ॥ १४ ॥

विलोचनेत्यादि । सुरूपं शोभनं रूपं तथोक्तं सौरूप्यमित्यर्थः । विलोचनासेचनकं विलोचनयोरासेचनकं तथोक्तं नेत्रदर्शनेन तृप्त्यंतरहितं । "तदासेचनकं तृप्तेर्नास्त्यंतो यस्य दर्शनात्" इत्यमरः । पीयूषरसारघट्टाः पीयूषस्य रसास्तथोक्ताः पीयूषरसानामरघट्टाः पीयूषरसारघट्टाः अमृतरसजलयंत्राणि । "उद्घाटकं घटीयंत्रपादावर्तोरघट्टकः" इति हलायुधः । वचांसि वचनानि सर्वप्रियहितवचनानीत्यर्थः । नियतलिंगत्वाद्विशेष्यविशेषणत्वेऽपि तादावस्थ्यं । जगत्त्रयी त्रयाणां पूरणी त्रयी जगतां त्रयी जगत्त्रयी तां । अपि । अतथा विधातुं तेन प्रकारेण तथा न तथा अतथा अतथा विधानाय

अतथा विधातुं कंपयितुं । पटीयसी प्रकृष्टा पटुः पटीयसी "गुणांगाद्वे ष्ठेयसुः" इति इयसु प्रत्ययः "नृदुगित्" इत्यादिना ईप् । काचन काचित् । दिव्यशक्तिः दिवि भवा दिव्या सा चासौ शक्तिश्च तथोक्ता अप्रमितवीर्यतेत्यर्थः ॥ १४ ॥

भा० अ०—जिनबालक का सुन्दर रूप आँखों को तृप्त करने वाला और वाणी अमृत-धार के जल-यन्त्र के समान थी। अर्थात् सारे संसार को विचलित (अत्याश्चर्यमग्न) कर ने के लिये उन में कोई अपूर्व ही दिव्य शक्ति विद्यमान थी । १४ ।

युतः स्वभावातिशयैरमीभिः कृतोन्नतिर्विंशतिचापदंडैः ॥
विषाग्निशस्त्रादिविघातदूरस्त्रिदोषवैषम्यभवामयारिः ॥ १५ ॥

युत इत्यादि । अमीभिः एतैः । स्वभावातिशयैः स्वभावात् जाता अतिशयाः स्वभावातिशयास्तैः सहजातिशयैः । युतः युक्तः । विंशतिचापदंडैः चापानां दंडाश्चापदंडाः विंशतिश्च ते चापदंडाश्च विंशतिचापदंडास्तैः विंशतिधनुर्भिः । कृतोन्नतिः कृता उन्नतिः यस्यासौ यथोक्तः । विषाग्निशस्त्रादिविघातदूरः विषं चाग्निश्च शस्त्रं च विषाग्निशस्त्राणि तान्यादीनि येषां ते विषाग्निशस्त्रादयस्तेषां विघातस्तथोक्तः विषाग्निशस्त्रादिविघातात् दूरस्तथोक्तः गरलानलप्रहरणादिघातरहितः । त्रिदोषवैषम्यभवामयारिः त्रयश्च ते दोषाश्च त्रिदोषाः विषमस्य भावो वैषम्यं त्रिदोषवैषम्यात् भवस्तथोक्तः त्रिदोषवैषम्यभवश्चासावामयश्च त्रिदोषवैषम्यभवामयस्तस्यारिः तथोक्तः वातपित्तश्लेष्मवैषम्यात् जातव्याधिनामगम्यत्वाद्रिपुः निर्व्याधिरित्यर्थः ॥ १५ ॥

भा० अ०—इन स्वाभाविक अतिशयों से युक्त, बीस धनुष के प्रमाण उन्नत और विष, अग्नि तथा शस्त्रादिकों के घात से दूरस्थ अर्थात् अकाल-मृत्यु से रहित और वातपित्त-कफादि रोगों के शत्रु भूत श्रीजिन बालक थे । १५ ।

त्रिंशत्सहस्रीमितवत्सरायुः स्फुटातसीसूनसमानवर्णः ॥
तदायमुत्सृष्टधनुःशरस्य स्मरस्य शंकां जनयांबभूव ॥ १६ ॥

त्रिंशत्सहस्रीत्यादि । त्रिंशत्सहस्रीमितवत्सरायुः त्रिंशतः सहस्राणां समहारः त्रिंशत्सहस्री तया मितं वत्सराणामायुः त्रिंशत्सहस्रीमितवत्सरायुः यस्य सः त्रिंशत्सहस्रमितवत्सरायुष्कः । स्फुटातसीसूनसमानवर्णः अतस्याः सूनं स्फुटं च तत् अतसीसूनं च तस्य समानः स्फुटातसीसूनसमानो वर्णो यस्य सः विकसितातसीकुसुमसदृशवर्णः । अयं एषः । तदा यौवनसमये । उत्सृष्टधनुः धनुश्च शरश्च धनुश्शरौ उत्सृज्येते स्म उत्सृष्टौ धनुश्शरौ येनासावुत्सृष्टधनुश्शरस्तस्य त्यक्तचापबाणस्य । स्मरस्य मन्मथस्य ।

शंकां संदेहं । जनयांबभूव उद्भावयतिस्म । जनैङ् प्रादुर्भावे । "प्रयुज्याप्याणिणत्र् वा" इति णिञ् ततो "दयायास्कास्" इत्यादिना आम् तेनैव सूत्रेण भूसत्तायामित्यस्यानुप्रयोगः णिजन्ताल्लिट् इति पंचभिः कुलकं ॥ १६ ॥

भा० अ०—तीस हजार वर्ष की आयुवाले और खिले अतसी-पुष्प के समान रंगवाले श्रीजिनबालक ने धनुर्बाण को अलग रक्खे हुए कामदेव की शङ्का उत्पन्न कर दी ॥१६॥

पित्रापि निर्वर्तितदारकर्मा ततः स यूनामधिपोऽपि वृद्धां ॥
अग्राह्यत स्वामधिराजलक्ष्मीं पुरैव राजा जगतां त्रयाणां ॥१७॥

पित्रेत्यादि । ततः तस्मिन् ततः तदनंतरे । पुरैव प्रागेव । त्रयाणां जगतां त्रिलोकीनां । राजा स्वामी मुनिसुव्रतः । पित्रापि जनकेनापि । निर्वर्तितदारकर्मा दाराणां कर्म निर्वर्त्यते स्म निर्वर्तितं निर्वर्तितं दारकर्म यस्य सः तथोक्तः कृतविवाहकार्यः । "भार्या जायाऽथ पुंभूम्नि दाराः स्यात्तु कुटुम्बिनी" इत्यमरः । यूनां तरुणानां अधिपस्तथोक्तोऽपि । वृद्धां वर्धते स्म वृद्धा तां जरामिति विरोधः समृद्धामिति परिहारः । स्वां स्वकीयां । अधिराजलक्ष्मीं अधिको राजो अधिराजः "राजन्सखेः" इत्यट् अधिराजस्य लक्ष्मीः अधीराजलक्ष्मीस्तां अग्राह्यत स्वीकार्यते स्म ग्रही उपादाने इति धातोर्णिजन्तात्कर्मणि लङ् । स्वामिनोर्जगत्त्रय-राजत्वेपि स्वान्वयाधिराज्यग्रहणं क्षत्रियकर्मपालनमितिभावः ॥ १७ ॥

भा० अ०—पहले ही से त्रिभुवन के राजा होते हुए श्रीमुनिसुव्रत-नाथ ने पिता से विवहादि कृत्य कराये जानेपर तरुणों के शासक हो कर भी वृद्ध राज्यलक्ष्मी को ग्रहण किया अर्थात् पिताने विवाहादि-कार्य सम्पन्न करके मुनि सुव्रतनाथ को युवराज्याभिषेक किया ॥१७॥

पुण्यैकलभ्योऽधिकसौख्यहेतुर्विचित्रवर्णो विशदांतरंगः ॥
नृपासनस्थोऽनमयत्त्रिलोकीं स दीपवर्ति निधिवत्पदाग्रे ॥ १८ ॥

पुण्यैकेत्यादि । पुण्यैकलभ्यः पुण्यमेवैकं पुण्यैकं लब्धुं योग्यो लभ्यः पुण्यैकेन लभ्यः सुकर्मैकेन प्राप्यः । अधिकसौख्यहेतुः सुखमेव सौख्यं अधिकं च तत् सौख्यं च अधिक-सौख्यं अधिकसौख्यस्य हेतुस्तथोक्तः प्रकृष्टातींद्रियसुखस्य हेतुः बहुलेंद्रियसुखस्य कारणं च । विचित्रवर्णः विचित्रो वर्णो यस्य सः तथोक्तः अद्भुतशोभायुतः विविध-मणिमयत्वान्नानावर्णसहितश्च । विशदांतरंगः विशदमंतरंगं यस्य सः निर्मलाभिप्रायः निर्मलादिप्रांतभागो वा । नृपासनस्थः नृपस्यासनं नृपासनं तत्र तिष्ठतीति नृपासनस्थः । सः । पदाग्रे पदयोरग्रं पदाग्रं तस्मिन् चरणयोरुपरि पदस्याग्रं पदाग्रं तस्मिन् स्थानाग्रे च ।

निधिवत् निधिरिव निधानमिव । दीपवर्ति दीपस्य वर्तिः दीपवर्तिस्तां प्रदीपवर्त्तिकां । "वर्त्तिर्द्वीपदशादीपगात्रानुलेपनीषु च । वर्त्तिर्भेषजनिर्माणनयनांजनलेखयोः" इति विश्वः । त्रिलोकीं त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी तां "द्विगोः" इति ङी त्रिभुवनं । अनमयत् प्राह्वयत् णम् प्रह्वत्वे शब्दे णिजन्ताल्लङ् ॥ १८ ॥

भा० अ०—पुण्य ही से प्राप्त करने योग्य, अतीन्द्रिय-सुखद अथवा अधिक सुखके कारण भूत, आश्चर्यजनक शोभा-सम्पन्न अथवा विविधमणिमय होने से नानावर्ण से युक्त तथा स्वच्छान्तरंगवाले मुनिसुव्रतनाथ ने निधितुल्य दीपवर्त्तिका के समान त्रिभुवन को अपने पैरों पर अथवा निधिस्थानपर अवमत किया अर्थात् समस्त संसार उनके सामने प्रणत रहते थे ॥१८॥

आस्थानलक्ष्म्याः सगुणोरुकांतिर्नृपावलीमौक्तिकहारमध्ये ॥
स्थितो दधौ नायकरत्नशोभामसौ महानीलरुचिर्नृपेंद्रः ॥ १९

आस्थानलक्ष्म्या इत्यादि । आस्थानलक्ष्म्याः आस्थानस्य लक्ष्मीस्तथोक्ता तस्याः सभाश्रियः । नृपावलीमौक्तिकहारमध्ये नॄन् पांतीति नृपास्तेषामावली नृपावली मौक्तिकानां हारो नृपावल्येव मौक्तिकहारस्तस्य मध्यं तस्मिन् भूपतिसमूहमुक्ताफलहारमध्ये । स्थितः तिष्ठति स्म स्थितः । गुणोरुकांतिः उर्वीचासौ कांतिश्च तथोक्ता गुणाश्चोरुकांतयश्च गुणोरुकांतयः गुणोरुकांतिभिः सह वर्तत इति सगुणोरुकांतिः संध्यादिगुणमहत्कांतिद्वययुक्तः तंतुद्युतियुतः । "मौर्व्यप्रधानपारर्दिद्रियसूत्रसत्वादिसंध्यादिविद्यादिहरितादिषु गुणः" इति नानार्थकोशे । महानीलरुचिः महच्च तत् नीलं च महानीलं तस्य रुचिर्यस्य सः इन्द्रनीलरत्नकांतियुक्तः । असौ अयं । नृपेन्द्रः नृपाणामिंद्रस्तथोक्तः । नायकरत्नशोभां नायकं च तत् रत्नं च नायकरत्नं तस्य शोभां तरलरत्नशोभां । दधौ धरति स्म डुधाञ् धारणे च लिट् ॥ १९ ॥

भा० अ०—गुणयुक्त अथवा तन्तुयुक्त, अत्यधिक प्रभाशाली और बहुनील कान्तिवाले इस राजा मुनिसुव्रतनाथ ने सभालक्ष्मी के नृपसमूह रूपी हार के बीच में रत्नों के स्वामित्व की शोभा धारण की ॥१९॥

स चंद्रपाषाणसभापयोधौ सचामरोल्लोलतरंगमाले ॥
शेषोपमस्फाटिकविष्टरस्थः श्रिया सनाथो हरिवच्चकाशे ॥२०॥

स इत्यादि । सचामरोल्लोलतरंगमाले उल्लोलाश्च ते तरंगाश्च उल्लोलतरंगाः चामराण्येवोल्लोलतरंगाः चामरोल्लोलतरंगाः तेषां माला चामरोल्लोलतरंगमाला तया सह वर्तत

इति सचामरोल्लोलतरंगमालस्तस्मिन् प्रकीर्णकोपमोर्मिपंक्तिसहिते । चन्द्रपाषाणसभापयोधौ चन्द्रपाषाणेन निर्मिता सभा तथोक्ता चन्द्रपाषाणसभैव पयोधिस्तस्मिन् चंद्रकांतशिलारचितसभासमुद्रे । शेषोपमस्फाटिकविष्टरस्थः स्फटिकेन निर्मितं स्फाटिकं तच्च तत् विष्टरं च स्फाटिकविष्टरं शेषस्योपमं शेषोपमं तच्च तत् स्फाटिकविष्टरं च तस्मिन् तिष्ठतीति शेषोपमस्फाटिकविष्टरस्थः महाशेषोपमानस्फटिकनिर्मितसिंहासनस्थः । श्रिया संपत्त्या । सनाथः सहितः । सः जिनः । श्रिया रमया । सनाथः युक्तः । श्लेषः । हरिवत् हरिरिव हरिवत् नारायण इव । चकाशे बभौ । काशि दीप्तौ लिट् उत्प्रेक्षा ॥२०॥

भा० अ०—चमररूपी चंचल तरंग की माला वाले चन्द्रकान्त-मणिनिर्मित सभासमुद्र में शेष-तुल्य स्फटिक रचित आसन पर बैठे हुए मुनिसुव्रतनाथ लक्ष्मी-युक्त विष्णु के समान देदीप्यमान होने लगे ॥२०॥

चकंपिरे हेममयाः किरीटा मुहुः सभासौधसदां नृपाणां ॥
जिनोक्तिपीयूषजुषां यथामी मरुद्वशाज्जाह्नवपद्मकोशाः ॥२१॥

चकंपिर इत्यादि। सभासौधसदां सभायास्सौधस्तथोक्तः सभासौधे सीदंतीति सभासौधसदस्तेषां सभासदने विद्यमानानां। जिनोक्तिपीयूषजुषां जिनस्योक्तिः जिनोक्तिस्सैव पीयूषं तथोक्तं जिनोक्तिपीयूषं जुषंतीति जिनोक्तिपीयूषजुषस्तेषां जिनवचनामृतं प्रीत्या सेवमानानां। नृपाणां राज्ञां। हेममयाः हेम्नो विकारस्तथोक्ताः सुवर्णमयाः। किरीटाः मुकुटानि। मुहुः मुहुः पुनः पुनः। मरुद्वशात् मरुतो वशो मरुद्वशस्तस्मात् वाताधीनात् । अमी इमे। "इदमस्तु संनिकृष्टेऽर्थेऽदसो विप्रकृष्टोऽर्थः समीपतर वर्तिचैतदो रूपं तदिति परीक्षे विजानीयात्" इति वचनात् । जाह्नवपद्मकोशाः जाह्नव्या इदं जाह्नवं तच्च तत् पद्मं च तथोक्तं जाह्नवपद्मस्य कोशास्तथोक्ताः गांगेयकमलकुड्मलाः "कोशोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधाने ऽर्थौघदिव्ययोः" इत्यमरः। यथा चकंपिरे। चेलुः कपुङ् चलने लिट् उत्प्रेक्षा॥ २१ ॥

भा० अ०—सभागृह में बैठे हुए तथा जिनवचनामृत पान करते हुए राजाओं के सुवर्ण मुकुट हवा के झोंके लगी हुई जाह्नवी कमल-कलिका के समान बार बार कम्पित होने लगे ॥२१॥

जिनांबुदः पीठनगाधिरूढो दिवौकसामेष धिनोतु वृंदं ।
प्रवर्षणैर्वागमृतस्य चित्रं प्रमोदयामास च राजहंसान् ॥२२॥

जिनांबुद इत्यादि। पीठनगाधिरूढः पीठमेव नगः पर्वतो वृक्षो वा तथोक्तः पीठनगमधिरो-

हतिस्म तथोक्तः सिंहासनाद्रिस्थः भद्रासनद्रुमस्थितो वा। "शैलवृक्षौ नगावगौ" इत्युभयत्राप्यमरः। एषः अयं। जिनांबुदः अंबु ददातीत्यंबुदः जिन एवांबुदः अर्हद्दिद्रनीरदः। वागमृतस्य वागेवामृतं वागामृतं तस्य वचःपीयूषस्य। प्रवर्षणैः प्रकृष्टानि वर्षणानि प्रवर्षणानि तैः प्रसेचनैः। दिवौकसां दिवि ओको येषां ते दिवौकसस्तेषां अमर्त्यानां चातकानां च "दिवौकाश्चातके सुरे" इति विश्वः। वृंदं निचयं। धिनोतु प्रीणातु धिवु प्रीणने लोट्। किंतु राजहंसान् राज्ञानो हंसास्तान् हंसपक्षिणः नरेंद्रवरांश्च। "नृपश्रेष्ठकादंवकलहंसेषु राजहंसः" इति नानार्थकोशे। च समुच्चयार्थः। प्रमोदयामास संतोषयामास। मुदि हर्षे णिजंताल्लिट्। चित्रं आश्चर्यं। अत्र मेघस्य हंसतोषकत्वमद्भुतं। रूपकः ॥ २२॥

भा० अ०—सिंहासनाधिरूढ़ अथवा पर्वताधिरूढ़ होकर श्रीजिनेन्द्र रूपी मेघ ने देवताओं अथवा चातकों के समूह को प्रसन्न किया किन्तु आश्चर्य तो यह है कि वाक्सुधा-वृष्टि के द्वारा राजाओं अथवा राजहंसों को भी तृप्त कर दिया ॥२२॥

स्वस्थैरदुःस्थोऽतनुसौख्यकृष्टैर्जुष्टामृतैरष्टगुणाभिरामैः ॥
वृतोऽजरैः सिद्ध इवैष रेजे विलोकयन् लोकगतिं समस्ताम् ॥ २३ ॥

स्वस्थैरित्यादि। स्वस्थैः स्वस्तिष्ठंतीति स्वस्थाः देवास्तैः "स्वरित्यव्ययस्थस्य रेफस्य लुक्" इति लुक् पक्षे स्वस्मिंस्तिष्ठंतीति स्वस्थास्तैः स्वात्मस्थितैः। अतनुसौख्यकृष्टैः न विद्यते तनुर्यस्यासावतनुः सुखमेव सौख्यं अतनोः सौख्यमतनुसौख्यं तस्य कामसुखस्य नातनूनि अतनूनि अतनूनि च तानि सौख्यानि च "तनुः काये कृशे चाल्पे विरलेऽपि च वाच्यवत्" इति विश्वः। कृष्यंते स्म कृष्टाः अधीनाः अनंतसुखानां च कृष्टा अधीनास्तैः। जुष्टामृतैः जुष्यते स्म जुष्टं जुष्टममृतं यैस्तैः अनुभूतपीयूषैः प्राप्तनिर्वाणैश्च। अष्टगुणाभिरामैः अष्ट च गुणाश्च तथोक्ताः अष्टगुणैरभिरामास्तथोक्तास्तैः अणिमाद्यष्टगुणैः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणाभिरामैः। अजरैः न विद्यते जरा येषां ते अजरास्तैः देवैः पक्षे जरारहितैः उपलक्षणात् जातिजरामरणरहितैः मुक्तात्मभिरित्यर्थः। वृतः व्रियते स्म वृतः परिवेष्टितः। अदुस्थः दुःखे तिष्ठतीति दुस्थः न दुस्थः अदुस्थः समृद्धः सुस्थितश्च। समस्तां सकलां। लोकगतिं लोकस्य गतिर्लोकगतिस्तां प्रजाजीवनोपायं भुवनस्थितिं च "गतिर्मार्गे दशायां च ज्ञाने यात्राभ्युपाययोः। नाडीव्रणसरण्यां च" इति विश्वः। विलोकयन् विलोकयतीति विलोकयन् विचारयन्। एषः अयं जिनराजः। सिद्ध इव सिध्यति स्म सिद्धः सिद्धपरमेष्ठिवत्। रेजे चकाशे। राजृ दीप्तौ लिट् श्लेषोपमालंकारः॥ २३ ॥

भा० अ०—स्वस्थ अथवा निजात्मस्थित, अनन्तसुखानुभवी अथवा काम-सुखलिप्त, अमृतसेवी अथवा निर्वाणानन्दमग्न, अणिमाद्यष्ट गुणों से युक्त अथवा सम्यक्त्वादि से

मिश्रित, देवताओं से अथवा जराराहित्य से परिवेष्टित और समृद्ध अथवा सुस्थित श्री मुनिसुव्रतनाथ प्रजाओं के जीवनोपाय का विचार करते हुए सिद्ध परमेष्ठी के समान सोभने लगे ॥२३॥

नरोरगस्वर्गिमनोरमाभिरुपास्यमानः स बभौ सभायाम्
जयार्थमुन्मुद्रितशस्त्रकोशो जगत्त्रयाणामिव पुष्पकेतुः ॥२४॥

नरोरगेत्यादि। सभायां सदसि। नरोरगस्वर्गिमनोरमाभिः नराश्च उरगाश्च स्वर्गोऽस्त्येषामिति स्वर्गिणस्ते च नरोरगस्वर्गिणः मनोरमयंतीति मनोरमाः नरोरगस्वर्गिणां मनोरमाः नरोरगस्वर्गिमनोरमास्ताभिः मनुष्यभवनवासिककल्पवासिकनारीभिः। उपास्यमानः उपास्यत इत्युपास्यमानः सेव्यमानः। जगत्त्रयाणां त्रयोऽवयवाः संत्येषामिति त्रयाणि जगतां त्रयाणि जगत्त्रयाणि तेषां लोकत्रयाणां। "अवयात्तयड्"इति तयट्। "द्वित्रिभ्यां लुग्वा"इति तस्य लुक्। जगत्त्रयाणामित्यनेकान्यपि जगत्त्रयाणि जयेदिति पुष्पकेतोस्संभावनाबहुत्वं। जयार्थं जयायेदं जयार्थं जयनिमित्तं। उन्मुद्रितशस्त्रकोशः शस्त्राणां कोशः शस्त्रकोशः उन्मुद्रितः शस्त्रकोशो यस्य सः तथोक्तः मुद्राविरहितायुधभांडागारः। पुष्पकेतुः पुष्पाण्येव केतुर्यस्य सः तथोक्तः मन्मथ इव बभौ रेजे। भा दीप्तौ लिट् उत्प्रेक्षा ॥२४॥

भा० अ०--मनुष्य स्त्री, भवन, और कल्पवासिनी अंगनाओंसे सभामें सेवित होते हुए मुनिसुव्रतनाथ त्रिभुवन को जीतने के लिये शस्त्रास्त्रसे सज्जित कामदेव के समान सोभते थे।

उपायनीकृत्य गजाश्वरत्नान्युपागतानामधिपं नृपाणाम् ॥
न केवलं मार्गरुधो नगेंद्रा निपेतुरेषां दुरिताद्रयश्च ॥ २५ ॥

उपायनीकृत्यादि। गजाश्वरत्नानि गजाश्च अश्वाश्च रत्नानि च तथोक्तानि समस्तानि कुंजरवाजिमणीन्। उपायनीकृत्य प्रागनुपायनमिदानीमुपायनकरणं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति तथोक्तं उपहारं कृत्वा। अधिपं स्वामिनं। उपागतानां उपायातानां। नृपाणां राज्ञां। केवलं परं। मार्गरुधः मार्गं रुंधंतीति मार्गरुधः वर्त्मप्रतिबंधकाः। नगेंद्राः नगानामिन्द्रास्तथोक्ताः गिरिवराः। न निपेतुः न पतंति स्म अपितु एषां नृपाणां मार्गरुधः मोक्षमार्गनिरोधकाः दुरिताद्रयश्च दुरितान्येवाद्रयः निपेतुः पत्ल गतौ लिट् सहोक्तिः ॥२५॥

भा० अ०—(मुनिसुव्रतनाथ को) हाथी, घोड़े तथा रत्नों का उपहार देकर लौटते हुए राजाओं के मार्ग में रुकावट डालने वाले केवल पर्वत ही नहीं गिरे प्रत्युत मोक्षमार्ग के

बाधक पापरूपी पर्वत भी विनष्ट हो गये ॥२५॥

भक्तुं जिनेंद्रं व्रजतां नृपाणां चमूपदोद्भूतपरागपाल्या ॥
विहाय चेतांसि पलायमानकपोतलेश्याकृतिरन्वकारि ॥ २६ ॥

भक्तुमित्यादि। जिनेंद्रम् जिनानामिंद्रो जिनेंद्रस्तं। भक्तुं भजनाय भक्तुं सेवितुं। व्रजतां व्रजंतीति व्रजंतस्तेषां गच्छतां। नृपाणां नॄन् पांतीति नृपास्तेषां राज्ञां। चमूपदोद्भूतपरागपाल्या चमूनां पदानि चमूपदानि चमूपदैरुद्धतास्तथोक्ताः चमूपदोद्भूताश्च ते परागाश्च तथोक्ताः चमूपदोद्भूतपरागाणां पालिस्तया सेनाचरणनिर्गतधूलिश्रेण्या। "परागः पुष्परजसि धूलिस्नानीययोरपि। गिरिप्रभेदे विख्याताबुपरागे च चंदने। पालिः कर्णलताग्रेऽश्रौ पङ्क्तावंकप्रदेशयोः। पालिः प्रस्थे च यूकायां जातश्मश्रुस्त्रियामपि" इत्युभयत्रापि विश्वः। चेतांसि हृदयानि। विहाय विहानं पूर्वं पश्चादिति। पलायमानकपोतलेश्याकृतिः पलायत इति पलायमाना कपोताचासौ लेश्या च कपोतलेश्या पलायमाना चासौ कपोतलेश्या च तथोक्ता पलायमानकपोतलेश्यायाः आकृतिस्तथोक्ता धावत्कपोतलेश्यापरिणामाकारः। अन्वकारि अन्वक्रियत डुकृञ् करणे कर्मणि लुङ् ॥२६॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र भगवान का सेवन करने के लिये जाते हुए राजाओं की सेना के पदाघात से उड़ी हुई धूलिराजियोंने चित्त को छोड़ कर भागती हुई कपोत-लेश्या का अनुकरण किया ॥२६॥

चित्रं कृपालोर्जिनपस्य राज्यं यत्प्राप्तबंधानपि पापदस्यून् ॥
बाधां दुरंतां दधतो नितांतं विमोचयामास जगज्जनानां ॥ २७ ॥

चित्रमित्यादि। यत् यस्मात्कारणात्। प्राप्तबंधानपि प्राप्यंते स्म प्राप्तास्ते च ते बंधाश्च प्राप्तबंधाः पक्षे प्राप्ता बंधाः येषां ते तान् प्राप्तप्रकृतिस्थित्यादिबंधान् शृंखलादिबंधनयुक्तान्। जगज्जनानां जगति विद्यमाना जनास्तेषां लोकजन्तूनां। दुरंतां अवधिरहितां। बाधां पीडां। दधतः दधतीति दधतस्तान् वितरतः। पापदस्यून् पापान्येव दस्यवस्तथोक्तास्तान्। "दस्युशात्रवशत्रवः" इत्यमरः। नितांतं अत्यंतं। विमोचयामास निवारयामास मुच्लृ मोचने णिजंताल्लिट्। "दयायास्केत्यादिना" आम् अस्भुविति धातोर्योगः। कृपालोः कृपास्यास्तीति कृपालुस्तस्य "कृपाहृदयाः" मत्वर्थे आलु प्रत्ययः दयायुक्तस्य। जिनपस्य जिनान् पातीति जिनपस्तस्य जिननाथस्य। राज्यं राज्ञो भावः कृत्यं वा राज्यं प्रभुत्वं। चित्रं आश्चर्यम् ॥ २७ ॥

भा० अ०—सांसरिक जीवों को निस्सीम पीड़ा पहुँचाने की वजह से प्रकृतिस्थित्यादि

बन्धन-चतुष्टय अथवा शृङ्खलादि बन्धन को प्राप्त हुए पापरूपी चोरों को एकदम मुक्त कर दिया गया यही दयालु जिनेन्द्र भगवान के राज्य की विचित्रता है ॥२७॥

जिनेऽवनीं रक्षति सागरांतां नयप्रतापद्वयदीर्घनेत्रे ॥
कस्याऽपि नासीदपमृत्युरीतिः पीडा च नाल्पाऽपि बभूव लोके ॥२८॥

जिन इत्यादि । नयप्रतापद्वयदीर्घनेत्रे नयश्च प्रतापश्च नयप्रतापौ तयोर्द्वयं तथोक्तं दीर्घे च नेत्रे च दीर्घनेत्रे नयप्रतापद्वयमेव दीर्घनेत्रे यस्य सः नयप्रतापद्वयदीर्घनेत्रस्तस्मिन् नीतिपराक्रमद्वयविशालनयनयुक्ते । रूपकः । जिने जिनेशे । सागरांतां सागर एवांतो यस्यास्सा तां समुद्रावसानां । अवनीं भूमिं । रक्षति रक्षतीति रक्षन् तस्मिन् सति । लोके जगति । कस्यापि एकस्यापि । अपमृत्युः अकालमरणं । ईतिः प्रवासः अतिवृष्ट्यादिर्वा । "ईतिः प्रवासे डिंबे स्यादतिवृष्ट्यादिषट्सुच" इत्युभयत्रापि विश्वः । नासीत् नाभवत् । अल्पापि पीडा च । न बभूव न भवति स्म । भू सत्तयां लिट् ॥२८॥

भा० अ०—नीति तथा प्रतापरूपी विशाल नेत्रद्वयसे युक्त श्रीजिनेन्द्र भगवान के समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वी के शासन करते रहनेपर संसार में किसी को भी अकालमृत्यु तथा अतिवृष्ट्यादि की थोड़ी भी पीड़ा नहीं हुई ॥२८॥

अधर्मता खड्गिनि तस्य राज्ये पयोधरे सत्पथरोध आसीत् ॥
वधूकटाक्षे श्रवणातिपातो गजे कदाचिद्यदि दानलोपः ॥२९॥

अधर्मतेत्यादि । तस्य मुनिसुव्रतस्वामिनः । राज्ये राज्ञः कृत्ये । खड्गिनि । अधर्मता न विद्यते धर्मः पुण्यं यस्यासावधर्मः पक्षे न विद्यते धर्मो धनुर्यस्यासावधर्मस्तस्य भावोऽधर्मता पुण्यराहित्यं चापरहितत्वं । "धर्मः पुण्ये यमे न्याये स्वभावचारयोः क्रतौ । उपमायामहिंसायां चापे चोपनिगद्यते" इति विश्वः । आसीत् अभवत् । सत्पथरोधः संश्चासौ पंथाश्च सत्पथः सन्मार्गः पक्षे सतां नक्षत्राणां पंथाः सत्पथः व्योम । "सत्प्रकाशे विद्यमाने त्रिषु क्लीबे सत्यतारयोः" इति शाश्वतः । "ऋक्पूः पथ्यपोऽत्" इत्यत् प्रत्ययः । तस्य रोधो निरोधः सन्मार्गनिरोधः आकाशनिरोधः । पयोधरे पयांसि धरतीति पयोधरस्तस्मिन् मेघे । आसीत् । श्रवणातिपातः श्रवणस्य परमागमश्रुतेः श्रवणानां दिगंबराणां वा पक्षे श्रवणयोः कर्णयोः अतिपातः अतिपतनमतिपातः उल्लंघनं । "श्रवणं स्याद्वृक्षभेदे श्रवणं श्रुतिकर्णयोः । श्रवणो मासपाषण्डे दध्यालयां श्रवणीमता" इति विश्वः । वधूकटाक्षे वधूनां कटाक्षो वधूकटाक्षस्तस्मिन् । यदि चेत् । दानलोपः दानस्य लोपस्तथोक्तः त्यागरहितत्वं पक्षे मदजलाभावः । "त्यागगजमदशुद्धिपालनछेदनेषु दानम्" इति नानार्थकोशे । कदाचित् कस्मिंश्चित्काले । गजे कुंजरे । आसीत् अभवत् । परिसंख्यालंकारः ॥ २९ ॥

भा० अ०—श्री मुनिसुव्रतनाथ के राज्य में खड्गधारियों में अधर्मता (धनुर्हीनता या पुण्यरहितता) थी न कि वहाँ के लोगों में, मेघ मण्डल में ही सत्पथ–सन्मार्ग (आकाश मार्ग) की रुकावट थी न कि वहाँ के जनों के, स्त्रियों के कटाक्ष पर ही श्रवण (कान) का उल्लङ्घन करना अर्थात् कान तक पहुंच जाना निर्भर था न कि वहाँ के लोगों में शास्त्रों का अथवा दिगम्बर मुनियों का अनादर करना, और हाथियों में ही कदाचित् दान (मद-धारा) का लोप हो सकता था न कि वहाँ के लोगों में ।२६।

रतिक्रियायां विपरीतवृत्ती रतावसाने किल पारवश्यं ॥
बभूव मल्लेषु गदाभिघातो भयाकुलत्वं रविचंद्रयोश्च ॥३०॥

रतीत्यादि । विपरीतवृत्तिः विपरीता वृत्तिर्विपरीतवृत्तिः विरुद्धाचरणं पक्षे पुरुष-वर्तनं । रतिक्रियायां रत्याः क्रिया रतिक्रिया तस्यां । बभूव भवति स्म । पारवश्यं परस्य वशः परवशः तस्य भावः पारवश्यं शरीरादिपरद्रव्याधीनत्वं पक्षे मूर्च्छापराधीनत्वं । रतावसाने रतस्यावसानं रतावसानं तस्मिन् सुरतांते । बभूव । गदाभिघातः गदानां व्याधीनां पक्षे गदायाः दंडस्य अभिघातः प्रहारः रोगबाधा दंडायुधहतिः । "आयुधामयभ्रातृविष्णुषु गदः" इति नानार्थकोशे । मल्लेषु मल्लभटेषु । बभूव । भयाकुलत्वं भयेनाकुलो भयाकुलस्तस्य भावो भयाकुलत्वं भीतिकातरत्वं । पक्षे भया कांत्या आकुलत्वं संकीर्णत्वं । रविचन्द्रयोः रविश्चचंद्रश्च रविचंद्रौ तयोः सूर्यचंद्रमसोश्च । बभूव किल । भू सत्तायां लिट् । परिसंख्यालंकारः ॥३०॥

भा० अ०—रतिक्रिया में ही कदाचित् विपरीत वृत्ति (पुरुषवृत्ति) थी पर वहाँ के लोगों में विरुद्धाचरण नहीं था, संभोग के अन्त में ही पारवश्य (शिथिलता) था पर वहाँ के लोगों में परद्रव्यपराधीनता न थी, मल्लों में ही गदा के प्रहार का प्रचार था न कि वहाँ के लोग गद (व्याधि) ग्रस्त थे और चन्द्र तथा सूर्य ही कदाचित् भा (कान्ति) से परिपूर्ण न थे न कि वहाँ के लोग भयाकुल थे ।३०।

इति निरुपमभक्त्या सानुरक्त्याऽवनम्रत्रिभुवनपतिचूडाचित्ररत्नांशुवर्त्या ॥
विलिखितपदपीठराजपीठे स तस्थौ दशदशशतसंख्यान् वत्सरान् पंच चैव ॥३१॥

इतीत्यादि । सः मुनिसुव्रतप्रभुः । सानुरक्त्या अनुरक्त्या सह वर्तत इति सानुरक्तिः तया अनुरागरक्तया निर्व्याजयेत्यर्थः । इति एवं प्रकारेण । निरुपमभक्त्या उपमाया निर्गता निरुपमा सा चासौ भक्तिश्च निरुपमभक्तिस्तया उपमातीतभक्त्या । अवनम्रत्रिभुवनपतिचूडा-चित्ररत्नांशुवर्त्या त्रयाणां भुवनानां समहारस्त्रिभुवनं तस्य पतयः त्रिभुवनपतयः अवनमंतीत्येवं शीलाः अवनम्राः ते च ते त्रिभुवनपतयश्च तेषां चूडा तथोक्ताः चित्राणि च

तानि रत्नानि च चित्ररत्नानि तेषामंशवः चित्ररत्नांशवः अवनम्रत्रिभुवनपतिचूडानां चित्ररत्नांशवस्तथोक्ताः तयेव वर्तिस्तया अवनमनशीलत्रिलोकपतिमुकुटरत्नकांतिवर्तिकया । "वर्तिर्दीपदशादीपगात्रानुलेपनीषु च । वर्तिर्भेषजनिर्माणनयनांजनलेखयोः" इति विश्वः । विलिखितपदपीठे पदयोः पीठं पदपीठं चरणासनं विलिखितं पदपीठं यस्य तस्मिन् । राजपीठे राज्ञः पीठं राजपीठं तस्मिन् । दशदशशतसंख्यान् दश वारान् शतानि दशशतानि पुनरपि दशवारान् दशशतानि दशदशशतानि तान्येव संख्या येषां ते दशदशशतसंख्यास्तान् । पंच चैव । वत्सरान् वर्षान् । पंचाधिकदशसहस्रवर्षपर्यंतमित्यर्थः । "कालाध्वनोर्व्याप्तौ" इति व्याप्त्यर्थे द्वितीया । तस्थौ तिष्ठति स्म । ष्ठा गति निवृत्तौ लिट् ॥ ३१ ॥

इत्यर्हद्दासकृतेः काव्यरत्नस्य टीकायां सुखबोधिन्यां भगवत्कौमारयौवनदारकर्मसाम्राज्यवर्णनो नाम सप्तमसर्गोऽयं समाप्तः ।

भा० अ०—इस प्रकार निश्छल तथा अनुपम-भक्ति से अवनत त्रिभुवनपतियों की मुकुटमणि से प्रतिबिम्बित राजसिंहासन पर श्रीमुनिसुव्रत स्वामी ने आरूढ़ होकर दस हजार पाँच सौ वर्षों तक राज्य-शासन किया । ३१ ।

अथ अष्टमस्सर्गः

अत्रांतरे श्रुतधरः श्रुतधर्मतत्त्वैर्भव्योत्तमैर्दमवराख्यमुमुक्षुमुख्यः ॥
आलोक्य यागकरिपुंगवमस्तहर्षमापृष्ट इत्यचकथद्गजराजवृत्तं ॥१॥

अत्रेत्यादि । अत्रांतरे अस्मिन्नवसरे एतत्साम्राज्यकाल इत्यर्थः । श्रुतधर्मतत्त्वैः श्रुतधर्मस्य तत्त्वं श्रूयते स्म श्रुतं श्रुतं धर्मतत्त्वं यैस्तैः श्रुतधर्मस्वरूपैः । भव्योत्तमैः रत्नत्रयाविभवनयोग्याः भव्याः भव्येषूत्तमा भव्योत्तमास्तैः विनेयजनमुख्यैः । अस्तहर्षं अस्तो हर्षो यस्य तं नष्टसंतोषं । यागकरिपुंगवं पुमांश्चासौ गौश्च पुंगवस्तथोक्तः यागार्हः करिपुंगवस्तथोक्तस्तं पट्टबंधगजवरं । विलोक्य आलोक्य । आपृष्टः आपृच्छते स्म आपृष्टः विज्ञापितः । श्रुतधरः श्रुतं धरतीति श्रुतधरः परमागमभृत् । दमवराख्यमुमुक्षमुख्यः दमस्य वरो दमवरः दमवर इत्याख्या यस्य सः मोक्षमिच्छवो मुमुक्षवस्तेषु मुख्यस्तथोक्तः दमवराख्यश्चासौ मुमुक्षुमुख्यश्च तथोक्तः दमवरनामधेयमुनिश्रेष्ठः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । गजराजवृत्तं गजानां राजा गजराजस्तस्य वृत्तं करींद्रचरित्रं । अचीकथत् अब्रवीत् । कथ वाक्यप्रबंधे चुरादिभ्यो णिच् कथापानीत्यादिना अक् तस्य लोपः लुङ् णेरिततोत्यादिना णिलुक् कंश्रत्यादिना ङः द्विर्धातुरित्यादिना द्विर्भावः सन्वल्लघावित्यादिना अग्लुचिसन्वद्भा

"सन्यत" इतीत्वभावः ॥ १ ॥

भा० अ०—एक समय इन्हीं मुनिसुव्रतनाथ के शासन-काल में पट्टबन्धगजाधिपति को उदासी न देख कर धर्मतत्त्व को सुने हुए उत्तम भविकों से इसके विषय में पूछे गये दमवर नामक परमागमज्ञाता मुमुक्षुश्रेष्ठ यतिवर ने हाथी का वृत्तान्त यों कहा ।१।

राजाभवन्नरपतिः पुरि पूर्वताले दानं ददौ निकृतनिर्मलजैनधर्मः ॥
स्वैरं कुपात्रनिवहाय ततोऽजनिष्ट सोयं गजः स्मृतवनः कबलं निरुंधे ॥२॥

राजेत्यादि । पूर्वताले पूर्वतालाख्ये । पुरि पत्तने । नरपतिः नराणां पतिस्तथोक्तः नरपत्याख्यः । राजा स्वामी । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् । निकृतनिर्मलजैनधर्मः निक्रियते स्म निकृतः मलान्निर्गतो निर्मलः जिनस्यायं जैनः संसारदुःखाक्रांतान् जीवानुद्धृत्य मोक्षसुखे धरतीति धर्मः जैनश्चासौ धर्मश्च जैनधर्मः निर्मलश्चासौ जैनधर्मश्च तथोक्तः निकृतो जैनधर्मो येन सः तथोक्तः तिरस्कृतानवद्यरत्नत्रयात्मकधर्मः सन् । स्वैरं स्वेष्टं । "मंदस्वच्छंदयोः स्वैरः" इत्यमरः । कुपात्रनिवहाय कुत्सितानि पात्राणि तेषां निवहस्तथोक्तः तस्मै कुत्सितपात्रसमूहाय । दानं धनादित्यागं । ददौ ददाति स्म । डुदाञ् दाने लिट् । ततः तस्मात्कारणात् । सः नरपतिः । अयं एषः । गजः करिपतिः । अजनिष्ट अजायत । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् । स्मृतवनः स्मृतं वनं येन सः चिंतितवनस्सन् । कबलं आहारं । निरुंधे निवारयते रुधिङ् आवरणे लट् ॥ २ ॥

भा० अ०—पूर्वताल नामक नगर में यह गजराज विशुद्ध जैन धर्म को तिरस्कृत किये हुआ नरपति नामक एक राजा था । कुपात्रों को मन-माना दान देने से इसने हाथी की योनि में जन्म लिया है । इसे अपने पूर्व वन की बात याद आयी अतः भोजन नहीं करता ।२।

आकर्ण्य तद्वचनमाप्तभवस्मृतिस्सन् सद्यः सदृग्विकलसंयममग्रहीत् सः ॥
श्रुत्वा जगत्त्रयगुरुस्तदिदं सभास्थो निर्वेदमात्महृदये बिभरांबभूव ॥३॥

आकर्ण्येत्यादि । सः यागहस्ती । तद्वचनं तस्य वचनं तथोक्तं मुनिवचनं । आकर्ण्य श्रुत्वा । आप्तभवस्मृतिस्सन् आप्यते स्म आप्ता भवस्य स्मृतिः आप्ता भवस्मृतिर्येन सः तथोक्तः प्राप्तजातिस्मरणस्सन् । सद्यः तस्मिन्निति सद्यः तत्क्षणे । सदृग्विकलसंयमं दृशा सह वर्तत इति सदृक् स चासौ विकलसंयमश्च सदृग्विकलसंयमस्तं दर्शनयुक्तदेशसंयमं । अग्रहीत् अगृह्णात् । ग्रही उपादाने लुङ् । तदिदं तदेतत्सर्वं । सभास्थः सभायां तिष्ठतीति सभास्थः आस्थाने स्थितः । जगत्त्रयगुरुः जगतां त्रयं जगत्त्रयं तस्य गुरुः लोकत्रयस्वामी । श्रुत्वा । आत्महृदये आत्मनो हृदयं आत्महृदयं तस्मिन् स्वस्य चित्ते । निर्वेदं वैराग्यं । बिभारांबभूव डुभृञ् धारणपोषणयोः । "भीह्रीभृहोः श्लुवदिति" श्लुवत् ।

"द्विर्धातुः" इत्यादिना द्विः। "आमिति" भू सत्तायां इति धातोः पुनर्योगः। धरतिस्मेत्यर्थः॥३॥

भा० अ०—उस हाथी ने उल्लिखित मुनिवर से अपने पूर्व भव की सभी बातें सुन कर जाति-स्मरण होने से तत्क्षण सम्यग्दर्शन-पूर्वक देशसंयम को धारण किया यह बात सुन कर त्रिभुवन-गुरु मुनिसुव्रत नाथ के भी चित्त में एक दम वैराग्य हो गया।३।

हंताशुभाशरणदुःखचलेभवेऽस्मिन् बीभत्सके वपुषि चेतननेययंत्रे॥
प्रारंभमिष्टपरिणामकटौ च भोगे लोलो वसाम्यलमलं स्वहिते यतिष्ये॥४॥

हंतेत्यादि। अशुभाशरणदुःखचले न शुभमशुभं न शरणमशरणं उभयत्र बहुव्रीहिर्वा अशुभं च तदशरणं च तथोक्तं दुःखं च तत् चलं च तथोक्तं अशुभाशरणं च तत् दुःखचलं च अशुभाशरणदुःखचलं तस्मिन् अप्रशस्तशरणरहितपीडाकारणस्थिरत्वरहिते। खंज-कुंडादिवदन्यतरप्राधान्येन विशेषणमित्यादिना कर्मधारय एव समासः। अस्मिन् एतस्मिन्। भवे संसारे। बीभत्सके जुगुप्साजनके। चेतननेययंत्रे नेतुं योग्यं नेयं चेतनेन नेयं चेतननेयं चेतननेयं च तत् यंत्रं च चेतननेययंत्रं तस्मिन् अचेतनत्वाज्जीवप्राणीययंत्रे। वपुषि शरीरे। प्रारंभमिष्टपरिणामकटौ प्रारंभे मिष्टः प्रारंभमिष्टः परिणामे कटुः परिणामकटुः प्रारंभ-मिष्टश्चासौ परिणामकटुश्च प्रारंभमिष्टपरिणामकटुः तस्मिन् प्रथमे मनोहरे चरमे परुषे। भोगे विषयद्रव्ये च। लोलः आसक्तस्सन्। वसामि तिष्ठामि। हंत हा। अलमलं पर्याप्तं पर्याप्तं। "अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्" इत्यमरः। स्वहिते स्वस्मै हितं स्वहितं तस्मिन् आत्महिते कार्ये। यतिष्ये प्रयत्नं करिष्ये यति प्रयत्ने लृट्॥ ४॥

भा० अ०—मैं अशुभ तथा शरणरहित दुःखों से चलायमान इस संसार में चेतनयंत्र के द्वारा नानायोनि में जन्म कराने वाली घृणास्पद देह में रह प्रारंभ में सुखद तथा परि-णाम में दुःखद भोग में लिप्त हो रहा हूं। हा!!! अब मैं आत्मकल्याण के लिये प्रयत्न करूंगा (ऐसा मुनिसुव्रत स्वामी ने कहा)।४।

तन्निश्चितात्मकरणीयतया वसंतं स्वांतं नितांतमवधार्य्य विमुक्तिनार्या॥
संपर्कलालसधियेव चरा विमृष्टाः संप्राप्य साधु जगदुर्जगदंतदेवाः॥५॥

तमित्यादि। स्वांतः स्वस्य अंतः स्वांतः अंतरंगे। नितांतं अत्यंतं। निश्चितात्मकरणीयतया निश्चीयतेस्म निश्चितं आत्मना करणीयमात्मकरणीयं निश्चितं च तत् आत्मकरणीयं च तथोक्तं तस्य भावो निश्चितात्मकरणीयता तया व्यवसितस्वकीयकर्तव्यतया। वसंतं वस-तीति वसन् तं वसंतं तिष्ठंतं तं मुनिसुव्रतजिनपं। अवधार्य अवधारणं पूर्वं पश्चात्किञ्चिदिति निश्चित्य। जगदंतदेवाः जगतोंऽतस्तथोक्तः जगदंते विद्यमाना देवास्तथोक्ताः लौकांतिका अमराः। संपर्कलालसधिया लालसा चासौ धीश्च लालसधीः संपर्क लालसधीस्तथोक्ता

तया संभोगासक्तबुद्ध्या । विमुक्तिनार्या विमुक्तिरेव नारी विमुक्तिनारी तया मोक्षवनितया । रूपकः । विसृष्टाः विसृज्यंते स्म विसृष्टाः प्रेरिताः । चरा इव दूता इव । संप्राप्य संप्रापणं पूर्वं० समेत्य । साधु मनोहरं यथा तथा । जगदुः ऊचुः । गद व्यक्तायां वाचि लिट् । उत्प्रेक्षा ।।५।।

भा० अ०—मुनिसुव्रत-नाथ को अपने अन्तरंग में कर्त्तव्य-कर्म को पूर्ण रूप से निश्चित किये हुए जान कर साथ करने की इच्छा से मुक्ति-रूपिणी वनिता के द्वारा भेजे गये दूत के समान लौकिकान्तिक देवों ने इनकी सेवा में उपस्थित होकर इस प्रकार निवेदन किया । ५ ।

अस्मात्तृतीयजनने जननांधकूपादभ्युद्धरेयमखिलं जगदित्युदीर्णा ॥
चित्तस्थले तव कृपाच्छलकल्पवल्ली या साद्य देव फलिता जगदेकबंधोः ॥६॥

अस्मादित्यादि । देव स्वामिन् । जगदेकबंधोः एकश्चासौ बंधुश्च एकबंधुः जगतामेकबंधुस्तस्य लोकानां मुख्यबंधोः । तव भवतः । चित्तस्थले चित्तस्य स्थलं चित्तस्थलं तस्मिन् मनःप्रदेशे । अस्मात् एतस्मात् । जननात् जन्मनः । तृतीयजनने त्रयाणां पूरणं तृतीयं तच्च तत् जननं च तृतीयजननं तस्मिन् "द्वित्रेस्तियद्" श्च त्रःशि" इति तीयत् प्रत्ययः त्रःशादेशश्च । हरिवर्मचरे तृतीयजन्मनि । अखिलं सकलं । जगत् लोकं । जननांधकूपात् अंधश्चासौ कूपश्च अंधकूपः जननमेवांधकूपो जननांधकूपस्तस्मात् संसारनिर्जलपुराणकूपात् । अभ्युद्धरेयं अभ्युद्धराणि । इति एवं प्रकारेण । उत्तीर्णा उत्पन्ना । या कृपाच्छलकल्पवल्ली कृपैव छलं यस्यास्सा कृपाच्छला कल्पा चासौ वल्ली च तथोक्ता सा । अद्य अस्मिन्नद्य इदानीं । फलिता फलतिस्म निष्पन्ना ॥ ६ ॥

भा० अ०—हे देव ! इस से तीसरे जन्म में आप के हृदयस्थल में यह इच्छा हुई थी कि मैं इस सारे संसार का जन्मान्ध कूप से उद्धार करूं सो आज आप जैसे त्रिभुवन के एकमात्र बन्धु की वह कृपारूपिणी कल्पलतिका फलीभूत हो गयी । ६ ।

सांयात्रिकस्त्वमसि बोधनकर्णधारो यस्मात्तपप्रवहणो गुणरत्नवाही ॥
तस्माद्विनेयवरसार्थयुतो विमुक्तिद्वीपं गमिष्यसि भवांबुनिधेरवश्यं ॥७॥

सांयात्रिक इत्यादि । यस्मात्कारणात् । त्वं भवान् । बोधनकर्णधारः बोधनमेव कर्णधारो यस्य सः तथोक्तः सम्यग्ज्ञाननाविकयुक्तः । तपःप्रवहणः तप एव प्रवहणो यस्य सः तपश्चरणनौयुक्तः । "यानपात्रं प्रवहणं बोहित्थं च वहित्रवत्" इत्यभिधानात् । गुणरत्नवाही गुणा एव रत्नानि गुणरत्नानि तानि वहतीत्येवं शीलस्तथोक्तः समूलोत्तरगुणमणिधारी । विनेयसार्थयुतः विनेया एव सार्था विनेयसार्थास्तैर्युतः भव्यश्रेष्ठिभिर्युक्तः । सांयात्रिकः पोत-

वणिक् । असि भवसि । तस्मात् कारणात् । भवांबुनिधेः भव एवांबुनिधिस्तस्मात् संसारसमुद्रात् । विमुक्तिद्वीपं विमुक्तिरेव द्वीपो विमुक्तिद्वीपस्तम् मोक्षांतद्वीपं । "द्व्यंतरुप सर्गादिदपोनात्"इतीकारादेशः । अवश्यं निश्चयं । गमिष्यसि यास्यसि । गम्लृ गतौ लृट् । रूपकः ॥ ७ ॥

भा० अ०—आप सम्यग्ज्ञान-रूपी नाविक वाले, तपोरूपी नाघ वाले और मूलोत्तर गुणरूपी रत्न ढोने वाले हैं; इस लिये भविक रूप श्रेष्ठिवर्य्यों के साथ इस संसार-समुद्र को पार कर मुक्तिरूपी द्वीपको आप अवश्य जायंगे । ७ ।

स्वं लोकमित्थमभिवंद्य गतेषु तेषु देवोऽपवर्गपुरसाधननिर्गमं तं ॥
बंधून्निवेद्य जननीजनकौ पराश्चं प्राज्यं नियोज्य तनये विजये स्वराज्यं ॥८॥

स्वमित्यादि । इत्थं अनेन प्रकारेण इत्थं "कथमित्थमुः"इति साधुः । अभिवंद्य अभिवंदनं पूर्वं० नुत्वा नत्वा च । स्वं स्वकीयं । लोकं ब्रह्मलोकं । तेषु लौकांतिकेषु । गतेषु यातेषु । देवः स्वामी । तं । अपवर्गपुरसाधननिर्गमं अपवर्गमेव पुरं अपवर्गपुरं तस्य साधनं तथोक्तं अपवर्गपुरसाधनाय निर्गमः अपवर्गपुरसाधननिर्गमस्तं मोक्षपुरसाधनाय बहिर्यांणं । बंधून् स्वजनान् । जननीजनकौ जननी च जनकश्च जननीजनकौ मातापितरौ । परांश्च अन्यांश्च अमात्यादीन् । च समुच्चयार्थः । निवेद्य निवेदनं पूर्वं० ज्ञापयित्वा । विजये विजयाख्ये । तनये पुत्रे । प्राज्यं प्रचुरं । राज्यं । राज्ञो भावः कृत्यं वा राज्यं राज्यभारं । नियोज्य नियोजनं पूर्वं० संस्थाप्य ॥ ८ ॥

भा० अ० – वन्दनापुरस्सर यों निवेदन कर लौकिकान्तिक देवों के अपने ब्रह्मलोक में जाने पर मुनिसुव्रत-नाथ ने मोक्षपुर-साधन के निमित्त प्रस्थान को अपने माता, पिता, बन्धुवर्गों तथा अन्यान्य अमात्यादिकों से कह विजयनामक पुत्र को सारा साम्राज्य का भार दे दिया । ८ ।

तीर्थाम्बुनाऽथ दिविजप्रभुणाभिषिक्तो दिव्यांगरागवसनाभरणैः प्रसिद्धः ॥
अग्रेभवां ग्रहविवर्त्तमिव स्फुरंतीमध्यारुरोह शिबिकामपराजिताख्यां ॥युग्मं॥९

तीर्थांबुनेत्यादि । अथ राज्यनियोजनानंतरे । दिविजप्रभुणा दिवि जायंत इति दिविजास्तेषां प्रभुर्दिविजप्रभुस्तेन । तीर्थांबुना तीर्थानामंबु तेन गंगादितीर्थोदकेन । अभिषिक्तः अभिषिच्यते स्म अभिषिक्तः स्नापितः । दिव्यांगरागवसनाभरणैः दिवि भवानि दिव्यानि अंगस्य रागोंऽगरागः अंगरागश्च वसनं च आभरणं च तथोक्तानि दिव्यानि च तान्यंगरागवसनाभरणानि च दिव्यांगरागवसनाभरणानि तैः स्वर्गभवानुलेपनवस्त्राभरणैः । प्रसिद्धः अलंकृतः । "प्रसिद्धौ ख्यातभूषितौ" इत्यमरः । ग्रहविवर्तमिव ग्रहाणां विवर्तः ग्रहविवर्तस्तं

नवरत्नखचितत्वान्नवग्रहपरिणाममिव । स्फुरन्तीं स्फुरंतीति स्फुरंती तां विराजंतीं । अग्रेभवां अग्रे भवतीत्यग्रभवा तां पुरस्थितां । अपराजितारव्यां अपराजितेत्यारव्या यस्यास्सा अपराजितारव्या तां अपराजितनामधेयां । शिविकां याप्ययानं । अध्यारुरोह अध्यारोहतिस्म । रुह बीजजन्मनि लिट् ॥ ९ ॥

भा० अ०—इन्द्र के द्वारा गंगादितीर्थ जल से स्नान कराये जाकर तथा स्वर्गीय अंग राग और वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर मुनिसुव्रत-नाथ रत्नखचित होने से देदीप्यमान अपराजिता नाम की पालकी पर आरूढ़ हुए । ९ ।

भूमिभृतामभृत सप्तपदानि भूमौ विद्याधृतां वियति सप्तपदानि वृंदं ॥
आरब्धपांडुवनसप्त्यृतुभिः प्रपन्नैरानिन्यिरे तदनु नीलवनं निलिंपाः ॥ १० ॥

भूमिभृतामित्यादि । भूमौ अवनौ । भूमिभृतां भूमिं बिभ्रतीति भूमिभृतस्तेषां राज्ञां । वृंदं समूहः । सप्तपदानि सप्त च तानि पदानि च सप्तपदानि सप्तपदपर्यंतं । अभृत अधृत । वियति आकाशे । विद्याधृतां विद्यां धरंतीति विद्याधृतस्तेषां । वृंदं । सप्तपदानि अभृत भृञ् भरणे लुङ् । तदनु पश्चात् । निलिंपाः देवाः । "निलिंपाः स्वर्गिणस्सेंद्रौ" इत्यभिधानात् । प्रपन्नैः प्रपद्यंतेस्म प्रपन्नास्तैः । ऋतुभिः वसंतादिषड्तुभिः । आरब्धपांडुवनमपि वनशब्दोऽत्रपुष्पवाचकः तदाह विष्णुपर्यायव्युत्पत्तौ सुभूतिचंद्रोमरसिंहटीकाकारो वनमालीति पुष्पमाला तद्योगाद्वनमालीति । आरभ्यंतेस्मारब्धानि पांडूनि च तानि वनानि च तथोक्तानि आरब्धानि पांडुवनानि यस्य तत्तथोक्तं प्रारब्धशुभ्रकुसुमयुक्तं ऋतुभिरारब्धसितकुसुमस्यास्य नीलकुसुमवत्त्वं विरुद्धमित्यपिशब्दार्थः । नीलवनं नीलं च तत् वनं च नीलमितिवनं वा नीलवनं नीलानि वनानि यस्य तन्नीलवनं नीलपुष्पोपेतं चेतिविरोधः नाम्ना नीलोद्यानं । आनिन्यिरे प्रापयामासुः । णीञ् प्रापणे । शिविकामिति सर्वत्राध्याहारः ॥ १० ॥

भा० अ०—पृथ्वी पर राजाओं ने उस पालकी को सात डेग, विद्याधरों ने आकाश में सात पग तथा देवताओं ने प्रशस्य वसन्तादि छः ऋतुओं से समाकुल और समुज्ज्वल पुष्पवाले नीलनामक उद्यान तक ढोया । १० ।

रेजे नभस्थलविराजिविमानराजिरश्मिप्रतानविततात्रविभागमेतत् ॥
अत्तुं फलप्रकरमापततः पतंगानानाय्यविस्तृतमिवोपरि निग्रहीतुं ॥ ११ ॥

रेजे इत्यादि । नभस्थलविराजिविमानराजिरश्मिप्रतानविततात्रविभागं नभसः स्थलं नभस्थलं विराजंतीत्येवं शीलाः विराजिनस्ते च ते विमानाश्च विराजिविमानाः तेषां राजिः

नभस्थले विराजिविमानराजिस्तथोक्ता तस्याः रश्मयः रश्मीनां प्रतानं नभस्थलविराजिविमानराजिरश्मिप्रतानन्तेन विततः अग्रस्य भागोऽग्रभागः नभस्थलविराजिविमानराजिरश्मिप्रतानविततोऽग्रभागो यस्य तत् तथोक्तं । एतत् नीलवनं । फलप्रकरं फलानां प्रकरस्तथोक्तस्तं फलसमूहं । अत्तुं अदनाय तथोक्तं भक्षणाय । आपततः आपतंतीत्यापतंतः तान् आगच्छतः । पतंगान् विहगान् । "पतंगौ पक्षिसूर्यौ च" इत्यमरः । निग्रहीतुं निग्रहणाय निग्रहीतुं आक्रष्टुं । उपरि अग्रे । आनायविस्तृतमिव आनायेन विस्तृतं तथोक्तं जालप्रच्छादितमिव । रेजे बभौ । राजृ दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ ११ ॥

भा० अ०—आकाश में विराजमान विमान-पंक्तियों के दीप्तिपुंज से प्रतिफलित शिखर वाला यह नीलवन फल-समूह को खाने के लिये आने वाले पक्षियों को बझाने के लिये फैलाये गये जाल के समान मालूम होता था । ११ ।

रेजे बहिर्घटितरत्नविमानमेतदंतश्चरामरि गलन्मकरंदधारं ॥
सैंद्रायुधं सचपलं च सवारिधारमभ्रच्युतं मिथ इवाहतमभ्रजालं ॥युग्मं॥१२॥

रेजे इत्यादि । बहिर्घटितरत्नविमानं बहिः बाह्ये घट्यते स्म घटिताः रत्नैर्निर्मिताः विमानास्तथोक्ताः घटिता रत्नविमाना यस्य तत् । अंतश्चरामरि अंतश्चरंतीत्यंतश्चराः अंतश्चरा अमर्यो यस्य तत् मध्ये विचरद्‌मरस्त्रीसहितं । गलन्मकरंदधारं मकरंदस्य धारा तथोक्ता गलंती मकरंदधारा यस्मिन् तत् स्रवत्पुष्परसप्रवाहसहितं । एतत् वनं । सैंद्रायुधं इंद्रायुधेन सह वर्तत इति तथोक्तं सुरचापसहितं । सचपलं चपलया सह वर्तत इति तथोक्तं विद्युत्सहितं ।"तडित्सौदामिनी विद्युच्चंचला चपला अपि"इत्यमरः च समुच्चयार्थः। सवारिधारं वारिणां धारा तथोक्ता वारिधारया सह वर्तत इति तथोक्तं वृष्टिसंपातसहितं । मिथः अन्योन्यं । आहतं संघृष्टं । अभ्रच्युतं अभ्राच्च्युतं तथोक्तं आकाशात्पतितं । अभ्रजालं अभ्राणां जालं तथोक्तं मेघसमूह इव । "अभ्रं नभःस्वर्गबलाहकेषु" इति विश्वः । रेजे चकारो । रत्नविमानयुक्तत्वात्सुरचापसहितं अंतश्चरामरीयुक्तत्वाद्विद्युत्सहितं पुष्परसयुक्तत्वाद्वृष्टिसंपातसहितं कृष्णवर्णत्वाद्वनस्य मेघजालत्वं । उत्प्रेक्षा ॥१२ ॥

भा० अ०—बाहर रत्नजड़ित विमानवाला, जिसके भीतर देवांगनायें विचरण कर-रही हैं और जहां मकरन्द-धारा प्रवाहित हो रही है ऐसा यह वन इन्द्रचाप-सहित विद्युल्लता-मण्डित तथा वारि-धारा-युक्त परस्पर संघर्षित मेघ-समूह के समान सोभने लगा । १२ ।

यानादथायमवतीर्य वनस्य मध्ये श्रीदेन दिव्यपटमंडपिकां प्रक्लृप्तां ॥
आविश्य देवपतिदत्तकरावलंबः श्रीदुग्धमौक्तिकचतुष्कमलंचकार ॥१३॥

यानादित्यादि । अथ गमनानंतरे । देवपतिदत्तकरावलंबः देवानां पतिर्देवपतिः करस्यावलंबः करावलंबः देवपतिना दत्तस्तथोक्तः देवपतिदत्तः करावलंबो यस्य सः । अयं एषः मुनिसुव्रतस्वामी । यानात् शिबिकायास्सकाशात् । अवतीर्य अवतरणं कृत्वा। वनस्य नीलवनस्य । मध्ये अंतःप्रदेशे । श्रीदेन श्रियं ददातीति श्रीदः तेन कुबेरेण । "श्रीदः पुण्यजनेश्वरः" इत्यमरः । प्रक्लृप्तां निर्मितां । दिव्यपटमंडपिकां पटस्य मंडपिका दिवि भवा दिव्या सा चासौ पटमंडपिका च तथोक्ता तां मनोहरदूष्यां । आविश्य प्रविश्य। श्रीदुग्धमौक्तिकचतुष्कं मौक्तिकस्य चतुष्कं श्रिया दुग्धं तच्च तत् मौक्तिकचतुष्कं च तथोक्तं श्रीदेवीविरचितमौक्तिकरंगावलिं । अलंचकार अलंकरोतिस्म अध्यवसदित्यर्थः । डुकृञ् करणे लिट् ॥ १३ ॥

जाने के बाद, मुनिसुव्रत नाथ ने विमान से उतर कर वन के बीच में कुबेर से रचित वस्त्रमंण्डप में इन्द्र का हाथ पकड़ कर प्रवेश कर लक्ष्मीजी से निर्मित मणिमय वेदी को विभूषित किया ॥ १३ ॥

षष्ठोपवासनियमी सुरदिङ्मुखस्थः पल्यंकवान्परिहृतांबरमाल्यवेषः ॥
त्यक्ताखिलोपधिरुपेतसहस्रभूभृदुच्चार्यमाणवरसिद्धनमस्कृतिश्च ॥१४॥

षष्ठेत्यादि । षष्ठोपवासनियमी षण्णां पूरणः षष्ठः स चासावुपवासश्च षष्ठोपवासः नियमोऽस्यास्तीति नियमी षष्ठोपवास इति नियमी तथोक्तः उपवासद्वयनियमी । त्रिंशद्घटिकानामेक उपवास इत्यागमपरिभाषाश्रयणात् । सुरदिङ्मुखस्थः सुरस्य दिक् सुरदिक् सुरदिशि मुखं सुरदिङ्मुखं तस्मिन् तिष्ठतीति तथोक्तः पूर्वाभिमुखः । पल्यंकवान् पल्यंकोऽस्यास्तीति पल्यंकवान् पद्मासनः । परिहृतांबरमाल्यवेषः परिह्रियंतेस्म परिहृताः अंबरं च माल्यं च वेषश्च अंबरमाल्यवेषाः परिहृता अंबरमाल्यवेषा येन सः तथोक्तः परित्यक्तवस्त्रमालाभरणः । "आकल्पो मंडनं वेषः प्रतिकर्मप्रसाधनम्" इति हलायुधः । त्यक्ताखिलोपधिः अखिलाश्च ते उपधयश्च अखिलोपधयः त्यज्यंतेस्म त्यक्ताः त्यक्ताऽखिलोपधयो येन सः विसृष्टबाह्याभ्यंतरपरिग्रहः । उपेतसहस्रभूभृत् सहस्रं भूभृतः सहस्रभूभृतः उपयंतिस्म उपेताः सहस्रभूभृतो येन सः तथोक्तः । उच्चार्यमाणवरसिद्धनमस्कृतिश्च उच्चार्यंते इति उच्चार्यमाणा वराश्च ते सिद्धाश्च वरसिद्धाः नमस्करणं नमस्कृतिः वरसिद्धानां नम-

स्कृतिस्तथोक्ता उच्चार्यमाणा वरसिद्धनमस्कृतिः येन सः तथोक्तः "नमःसिद्धेभ्यः" इति प्रोच्चार्यमाणसिद्धनमस्कारश्च। च शब्द उत्तरविशेषणसमुच्चयार्थः॥ १४॥

भा० अ०—छठवें उपवास का नियम करने वाले, वस्त्रमाला आदि का त्याग किये हुए, अन्तरंग तथा बहिरंग परिग्रह को छोड़े हुए और हजारों राजाओं से युक्त ॐ नमः सिद्धेभ्यः इस सर्वोत्कृष्ट नमस्कार मंत्र का उच्चारण करते हुए श्रीमुनिसुव्रत स्वामी ने पूर्वाभिमुख हो पद्मासन लगाये हुए। १४।

उत्खाय पंचभिरुदंचितमुष्टिबन्धैः कैश्यं च पंच भवमूलचयं यथैव॥
वैशाखकृष्णदशमीदिवसेऽपराह्णे दीक्षामुपादित युतश्रवणे सितांशौ॥१५॥

उत्खायेत्यादि। सः मुनिसुव्रतस्वामी। सितांशौ सिता अंशवो यस्य सः सितांशुस्तस्मिन् चंद्रे। युतश्रवणे युताः श्रवणा येन सः युतश्रवणस्तस्मिन् श्रवणनक्षत्रसहिते। वैशाखकृष्णदशमीदिवसे वैशाखपूर्णिमास्यास्तीति वैशाखः "साऽस्यपौर्णमासी" इत्यण् वैशाखस्य कृष्णः दशानां पूरणा दशमी "नेमट् डित्वात् टिड्ढेजित्यादिना" ङी दशमीदिवसे तथोक्तः वैशाखकृष्णस्य दशमीदिवसस्तस्मिन् वैशाखमासकृष्णपक्षस्य दशम्यां तिथौ। अपराह्णे अह्नः अपरः अपराह्णस्तस्मिन् "संख्याऽव्ययसर्वांशात्तत्" इत्यतद्योगे ह्नादेशश्च सायाह्ने। पंचभिः। उदंचितमुष्टिबंधः उदंचंते स्म उदंचिताः मुष्टेर्बन्धाः मुष्टिबंधाः उदंचिताश्च ते मुष्टिबंधाश्च उदंचितमुष्टिबंधास्तैः उन्नीतमुष्टिबन्धैः। पंचभवमूलचयं पंच च ते भवाश्च पंचभवास्तेषां मूलानि तेषां चयस्तं पंचसंसारसमूलसमूहं। यथैव। कैश्यं केशानां समूहो कैश्यं पुनस्तत् "केशादेः" इति ण्यः। उत्खाय उत्खननं पूर्वं० उद्धृय। दीक्षां नैर्ग्रन्थ्यं। उपादित उपाधत्त। डु दाञ् दाने लुङ्॥ १५॥

भा० अ०—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भाव-रूप पंच संसार-मूल-समूह केशों का पंचमुष्टियों से लोंचकरके वैशाख कृष्णदशमी को चन्द्रयुत श्रवण में अपराह्ण समय में दीक्षा ग्रहण की। १५।

लोकत्रयैकगुरुरेष पुरैव पूर्णचारित्रशीलगुणसंयमभारवाही॥
प्राप्ताखिलर्द्धिरुपजातचतुर्थबोधिरत्यंतगौरवपदं पुनरासदेव॥१६॥

लोकत्रयेत्यादि। पुरैव पूर्वमेव। लोकत्रयैकगुरुः लोकानां त्रयं लोकत्रयं गुरुराध्यो दुर्भरश्च। "गुरुस्तु निष्पत्तौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे" इत्यभिधानात्, एकश्चासौ गुरुश्च एकगुरुः लोकत्रयस्यैकगुरुस्तथोक्तः त्रिभुवनमुख्यगुरुः। एषः अयं स्वामी। पूर्णचारित्रशीलगुणसंयमभारवाही चारित्रं च शीलं च गुणश्च संयमश्च चारित्रशीलगुणसंयमाः

पूर्यन्ते स्म पूर्णास्ते च ते चारित्रशीलगुणसंयमाश्च तथोक्ताः यद्वा पूर्णश्च तच्चारित्रं चेति प्रोक्तस्तयेव भारस्तथोक्तः पूर्णचारित्रशीलगुणसंयमभारं वहतीत्येवं शीलस्तथोक्तः पूर्णचारित्रं सकलचारित्रं व्रतपरिरक्षणलक्षणं शीलं सम्यक्त्वादिलक्षणो गुणः इंद्रियप्राणिद्विभेदस्संयमः एत एव भारस्तस्य वाही । प्राप्ताखिलर्द्धिः प्राप्यंते स्म प्राप्ताः अखिलाश्च ताः ऋद्धयश्च अखिलर्द्धयः प्राप्ता अखिलर्द्धयो येन सः तथोक्तः प्राप्तबुद्ध्यादिसप्तर्द्धियुतः । उपजातचतुर्थबोधिः चतुर्णां पूरणश्चतुर्थः स चासौ बोधिश्च चतुर्थबोधिः उपजातश्चतुर्थबोधिर्यस्य सः तथोक्तः उत्पन्नमनःपर्ययज्ञानः । पुनः । अत्यंतगौरवपदं गुरोर्भावो गौरवं तच्च तत् पदं च गौरवपदं अत्यंतगौरवपदं तथोक्तं पुनस्तत् अधिकगुरुत्वस्थानं । आसदेत् आगमदेव । षद्‌ल विशरणगत्यवसादनेषु लुङ् "सदित्यादिना" णदित्वादङ् ॥ १६ ॥

भा० अ०—यह स्वामी त्रिभुवन के मुख्य गुरु पहले थे ही अब फिर पूर्ण चारित्र, शील गुण तथा संयम के धारक सारी ऋद्धियों को प्राप्त कर मनःपर्यय ज्ञान-पूर्वक गौरव पद पर आरूढ़ हुए । १६ ।

रेजेतरां दशशतैः श्रवणैरुपेतो नेत्रैरिवामरपतिः किरणैरिवार्कः ॥
पत्रैरिवांबुजमरैरिव चक्ररत्नं शेषः फणैरिव निधानमिवैष यक्षैः ॥१७॥

रेज इत्यादि । दशशतैः दश वारान् शतं दशशतास्तैः सहस्रमितैः । श्रवणैः मुनिभिः । उपेतः उपैतिस्म तथोक्तः सहितः । एषः अयं स्वामी । अमरपतिः अमराणां पतिस्तथोक्तः देवेंद्रः । नेत्रैरिव सहस्रनयनैरिव । अर्कः सूर्यः । किरणैरिव सहस्रकांतिभिरिव । अंबुजं कमलं पत्रैरिव सहस्रदलैरिव । चक्ररत्नं चक्रं च तत् रत्नं च चक्ररत्नं । अरैरिव सहस्रधाराभिरिव । शेषः धरणींद्रः । फणैरिव सहस्रफणाभिरिव । "स्फुटायां तु फणाद्वयोः" इत्यमरः । निधानं निधिः यक्षैरिव सहस्रयक्षदेवैरिव । रेजे बभौ राज् दीप्तौ लिट् ॥ १७ ॥

भा० अ०—हजारों मुनियों से युक्त यह मुनिसुव्रत स्वामी सहस्र नयनों से इन्द्र के समान सहस्र किरणों से सूर्य के समान सहस्र फणों से शेषनाग के समान और सहस्र-यक्षों से निधि के समान सोभने लगे । १७ ।

यस्माद्बभूव लवनं नियमेन तस्मिन्नेः पुष्पधन्वधुनतः पुरतो जिनेन ॥
तस्मात्तदादि किल नीलवनाभिधानं तस्याभवत्त्रिभुवनप्रथितं वनस्य ।१८।

यस्मादित्यादि । यस्मात्कारणात् । तस्मिन् वने । जिनेन जिनेश्वरेण । एः मन्मथस्य "इकार उच्यते कामो लक्ष्मीरीकार उच्यते" इत्येकाक्षरनिघंटौ । नियमेन निश्चयेन । लवनं नाशनं । बभूव भवतिस्म भू सत्तायां लिट् । तस्मात्कारणात् । तदादि तदादि यस्मिन् कर्मणि

तत् ततः प्रभृतिः। पुरतः अग्रे। पुष्पधन्वधुनतः पुष्पमेव धन्वा यस्यासौ पुष्पधन्वा तं धुनातीति पुष्पधन्वधुनत् तस्य मन्मथनाशकस्य। "धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदंडकार्मुकम्" इत्यमरः। तस्य नीलवनस्य। नीलवनाभिधानं नीलवनमित्यभिधानं नीलवनमितिनामधेयं विनियमेन एर्मन्मथस्य लवनं छेदनं यस्मिन् तत् नीलवनमिति व्युत्पत्तेः। त्रिभुवनप्रथितं त्रिभुवनस्य प्रथितं तथोक्तं लोकत्रयप्रतीतं। अभवत्किल अभूत्किल। भू सत्तायां लङ्॥१८॥

भा० अ०—इस वन में जिनेश्वर भगवान के द्वारा कामदेव का नाश हुआ है क्योंकि 'नी' का अर्थ काम तथा 'ली' का लय होना है। काम का नाश जिस वन में हुआ इसी कारण से इस कामदेव-नाशक वनका नाम जगत्प्रसिद्ध नीली वन पड़ा। १८।

पश्चाज्जिनालकभरं मणिभाजनस्थं रक्तोत्पलस्थमिव भृंगकदंबमिंद्रः॥
चिक्षेप दुग्धजलधौ जयघोषघूर्णद्बंभाप्रणादबधिरीकृतसर्वलोकम् ।१९।

पश्चादित्यादि। पश्चात् पुनः। इंद्रः देवराजः। रक्तोत्पलस्थं रक्तं च तत् उत्पलं च रक्तोत्पलं तस्मिन् तिष्ठतीति रक्तोत्पलस्थं अरुणारविंदस्थं। भृंगकदंबं भृंगाणां कदंबं तथोक्तं भ्रमरवृंदमिव। मणिभाजनस्थं मणिभिर्निर्मितं भाजनं तस्मिन् तिष्ठतीति तथोक्तं रत्नमयपात्रस्थं। जिनालकभरं जिनस्यालका जिनालकास्तेषां भरस्तं जिनेश्वरकुंतलनिचयं। जयघोषघूर्णद्बंभाप्रणादबधिरीकृतसर्वलोकम् जय इति घोषः जयघोषस्तेन घूर्णन्तः जयघोषघूर्णन्तः बंभानां शंखानां प्रणादाः बंभप्रणादाः जयघोषघूर्णंतश्च ते बंभाप्रणादाश्च तथोक्ताः सर्वे च ते लोकाश्च सर्वलोकाः प्रागबधिराः इदानीं बधिराः क्रियंत इति बधिरीकृताः जयघोषघूर्णद्बंभाप्रणादैः बधिरीकृताः सर्वलोकाः यस्मिन्कर्मणि तत् तथोक्तं जयघोषेण प्रवर्धमान शंखध्वनिभिः बधिरीकृतसकलभुवनं यथा भवति तथा। दुग्धजलधौ दुग्धानां जलधिस्तथोक्तस्तस्मिन् क्षीरसमुद्रे। चिक्षेप निक्षेप। क्षिप प्रेरणे लिट् उत्प्रेक्षा॥ १६॥

भा० अ०—इन्द्र ने रक्त कमल पर बैठे हुए भ्रमर-समूह के समान दीखता हुआ मुनिसुव्रत स्वामी का मणिमय पात्रस्थ बाल जयघोष से परिवर्द्धित शंखध्वनि के द्वारा-सारे संसार को बधिर बनाते हुए दुग्ध-समुद्र में परिप्लावित किया। १६।

यो यत्र यत्र जिनकुंतलकर्बुरोऽभूत्शैवालमंजरितवत्स हि तत्र तत्र॥
क्षीरांबुधिस्त्रिदशलोकमनांसि कर्षन्वाताबघूर्णितघनावृतवद्बभासे॥२०॥

यः इत्यादि। यः समुद्रः। यत्र यत्र यस्मिन् यत्र प्रदेशे। "वीप्सायाम्" इति द्विः। शैवालमंजरितवत् शैवालेन मंजरित इव तथोक्तः शैवालेन स्तबकित इव। जिनकुंतलकर्बुरः

जिनस्य कुंतलास्तैः कर्बुरस्तथोक्तः जिनेश्वरालकमिश्रः । अभूत् अजनिष्ट । भू सत्तायां लुङ् । तत्र तत्र प्रदेशे । सः क्षीरांबुधिः क्षीरसमुद्रः । त्रिदशलोकमनांसि त्रिदशाश्च ते लोकाश्च त्रिदशलोकाः तेषां मनांसि तथोक्तानि देवानां चित्तानि । हि स्फुटं । कर्षन् कर्षतीति कर्षन् स्वीकुर्वन् । वातावघूर्णितघनावृतवत् वातेन अवघूर्णितो वातावघूर्णितः स चासौ घनश्च तथोक्तः वातावघूर्णितघनेनावृतः तथोक्तस्तस्य इव तथोक्तः वायुना चलितमेघेनावृत इव । बभासे बभौ । भासृङ् दीप्तौ लिट् । घना जलादानाय समुद्रमाश्रयंतीति प्रसिद्धिरुत्प्रेक्ष्यते ॥ २० ॥

भा० अ०—जो समुद्र जहां जहां शैवाल-मंजरी के समान जिन-कुन्तल-मिश्रित हुआ वहाँ वहाँ वह क्षीर-समुद्र देवताओं के चित्त को आकर्षित करता हुआ वायु-संचालित मेघ के ऐसा समुद्भासित होने लगा । २० ।

तं पारणां वृषभसेन इति प्रतीतो राजाऽथ राजगृहनामनि राजधान्याम् ॥
श्रद्धादिसप्तगुणवान्नवभेदभिन्नैः पुण्यैरकारयदुपस्थितपूर्वपुण्यः ॥२१॥

तमित्यादि । अथ दीक्षोपासनानंतरे । राजगृहनामनि राजगृह इति नाम यस्याःसा तथोक्ता तस्यां । राजधान्यां प्रधाननगरे । वृषभसेन इति नाम्ना विशेषः । प्रतीतः प्रसिद्धः । "प्रतीते प्रथितख्यातवित्तविज्ञातविश्रुताः" इत्यमरः । राजा भूपतिः । उपस्थितपूर्वपुण्यः पूर्वस्मिन् जन्मन्युपार्जितं पुण्यं उपस्थितं पूर्वपुण्यं यस्य सः फलदानपरिणतपूर्वसुकृतः । श्रद्धादिसप्तगुणवान् श्रद्धा आदिर्येषां ते तथोक्ताः श्रद्धादिसप्तगुणास्संत्यस्येति तथोक्तः श्रद्धादिसप्तगुणयुक्तः । नवभेदभिन्नैः नव च ते भेदाश्च नवभेदास्तैर्भिन्नानि तैः नवप्रकारभिन्नैः । पुण्यैः । तं जिनेश्वरं । पारणां । अकारयत् व्यधापयत् । डुकृञ् करणे णिजंता-लुङ् । "श्रद्धा शक्तिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता दया क्षांतिः । यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसंति । स्थापनमुच्चैःस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामश्च । वाक्कायहृदयशुद्धिरेषणशुद्धिश्च नवविधं पुण्यं" ॥ २१ ॥

भा० अ०—दीक्षा के बाद राजगृह नामक राजधानी के प्रसिद्ध वृषभसेन नामक राजा ने पूर्वोपार्जित पुण्यवान् होकर श्रद्धादि सप्त गुणों से युक्त नवधाभक्ति के द्वारा मुनिसुव्रत स्वामी को पारण कराया । २१ ।

आश्चर्यपंचकमभूदथरत्नवृष्टिराच्छादितांबरतला च लतांतवृष्टिः ।
व्याप्तश्रुतीविबुधदुंदुभिनिस्वनाहोदानस्वनौ सुरभिशीतलमंदवायुः ॥२२॥

आश्चर्येत्यादि । अथ पारणानंतरे । रत्नवृष्टिः रत्नानां वृष्टिस्तथोक्ता । आच्छादितांबरतला अंबरस्य तलमंबरतलं आच्छादितमंबरतलं यया सा तथोक्ता पिहिताकाश-

प्रदेशा । लतांतवृष्टिः लतांतानां वृष्टिस्तथोक्ता पुष्पवृष्टिः । "पुष्पं सुमनसः फुल्लं लतांतं प्रसवो-द्गमम्" इति धनंजयः । व्याप्तश्रु ती व्याप्ताः श्रु तयो याभ्यां तौ तथोक्तौ व्याप्तजगज्जनश्रोत्रौ । विबुधदुंदुभिनिस्वनाहोदानस्वनौ दुंदुभीनां निस्वनः दुंदुभिनिस्वनः अहोदानमितिस्वनः अहोदानस्वनः दुदुंभिनिस्वनश्च अहोदानस्वनश्च दुंदुभिनिस्वनाहोदानस्वनौ विबुधानां दुदुंभिनिःस्वनाहोदानस्वनौ तथोक्तौ देवदुंदुभिध्वनिः आश्चर्यरूपं दानमिति उपलक्षणाद-द्भुतरूपपात्रमित्यादि प्रशंसाध्वनिः । सुरभिशीतलमंदवायुः मन्दश्चासौ वायुश्च मन्दवायुः शीतलश्चासौ मंदवायुश्च तथोक्तौ सुरभिश्चासौ शीतलमंदवायुश्चेति पुनः कसः । शैत्यसौरभ्यमांद्यगुणसहितमारुतः । इत्याश्चर्यपंचकं आश्चर्याणां पंचकं तथोक्तं अभूत् अभवत् भू सत्तायां लुङ् ॥२२॥

भा० अ० — पारण के अनन्तर रत्नवृष्टि, आकाश को आच्छन्न करने वाली पुष्पवृष्टि चारो तरफ गूंजने वाली देवदुन्दुभि ध्वनि "हा कैसा दान है" ऐसी आश्चर्य सूचक ध्वनि तथा शीतल मन्द सुगन्ध वायु का प्रवाहित होना ये पाँच आश्चर्य-मयी घटनायें हुईं । २२।

मुनिपरिवृढो निर्वर्त्यैवं तनुस्थितिमुत्तमां मृदुमधुरया वाचाशास्यं विधाय यथोचितं ।
मुनिसमुदयैरक्षिव्रातैश्च पौरनृणामनुव्रजितचरमः पुण्यारण्यं गजेंद्रगतिर्ययौ २३

मुनीत्यादि । मुनिपरिवृढः मुनीनां परिवृढस्तथोक्तः मुनिनाथः "प्रभुःपरिवृढोऽधिपः" इत्यमरः । उत्तमाम् योग्यां । तनुस्थितिं तनोः स्थितिस्तनुस्थितिः तां कायस्थितिं । उपचरितत्वादाहारमित्यर्थः । एवं इति । निर्वर्त्य निर्वर्तनं पूर्व० कृत्वा । मृदुमधुरया मृद्वी चासौ मधुरा च मृदुमधुरा तया मृदुमनोहररूपया । वाचा वचनेन । यथोचितं उचित-मनतिक्रम्य यथोचितं यथायोग्यं । आशास्यं आशास्तुं योग्यं आशास्यं आशीर्वादं । विधाय कृत्वा । मुनिसमुदयैः मुनीनां समुदयास्तथोक्तास्तैः मुनिसमूहैः । पौरनृणां पुरे भवाः पौराः पौराश्च ते नरश्च पौरनरास्तेषां पुरजनानां । अक्षिव्रातैः अक्ष्णां व्राता अक्षिव्रातास्तैः । अनुव्रजितचरमः अनुव्रज्यतेस्म अनुव्रजितः अनुव्रजितश्चरमो यस्य सः अनुयातपश्चाद्भागः । गजेंद्रगतिः गजानां इंद्रस्तथोक्तः गजेन्द्रस्येव गतिर्यस्य सः मंद-गमन इत्यर्थः । पुण्यारण्यं पुण्यं च तत् अरण्यं च पुण्यारण्यं तपोनिलयत्वात्पवित्रं नीलवनं । ययौ जगाम । या प्रापणे लिट् ॥ २३ ॥

भा० अ० — मुनिसुव्रत स्वामी ने यों अपनी शरीर-स्थिति के हेतु उत्कृष्ट आहार सम्पन्न कर तथा सुमधुरवाणी से यथोचित आशीर्वाद देकर मुनिगण और पुरवासियों के नेत्र-समूह से अनुगत होते हुए गजेन्द्र गति से तपोवन का प्रस्थान किया । २३ ।

इत्यर्हद्दासकृतेः काव्यरत्नस्य टीकायां सुखबोधिन्यां भगवत्परिनिष्क्रमणवर्णनो नामाष्टमस्सर्गः

इति अष्टमः सर्गः समाप्तः ।

॥ अथ नवमः सर्गः ॥

आलोक्य देवमथपाटितपंचबाणं प्रायेण नश्यति मधौ मधुरास्त्रबंधौ ॥
वेलामुपेत्य किल विस्फुरितप्रतापः सद्योऽग्रहीदधिपदं विपिनं निदाघः ।१।

आलोक्येत्यादि । अथ अनंतरे । पाटितपंचबाणं पंच बाणा यस्य सः पंचबाणः पाट्यते स्म पाटितः पाटितः पंचबाणो येन सः तथोक्तस्तं विनाशितमन्मथं । देवं अर्हन्नाथं । आलोक्य वीक्ष्य । मधुरास्त्रबंधौ मधुरमस्त्रं यस्य सः मधुरास्त्रः इक्षुचाप इत्यर्थः "रसवत्स्वादनप्रियभेदशतपुष्पेषु मधुरम्" इति नानार्थरत्नकोशे मधुरास्त्रस्य बंधुस्तथोक्तस्तस्मिन् मन्मथराजमित्रे । "मधौ वसंते । क्षीरक्षौद्रमवरंकमद्यदैत्यचैत्रवसंतेषु मधुः" इति नानार्थरत्नकोशे । प्रायेण प्राचुर्येण । "प्रायोभूम्न्यंतगमनम्" इत्यभिधानात् नादव्ययोदंतः शब्दः । नश्यति नश्यतीति नश्यन् तस्मिन् पलायमाने सति । विस्फुरितप्रतापः विस्फुरति स्म विस्फुरितः स च प्रतापो यस्य सः तथोक्तः प्रवृद्धातपयुक्तः प्रकृष्टतेजा वा । निदाघः ग्रीष्मकालः । वेलां समयं । उपेत्य उपयनं पूर्व० प्राप्य । अरिपदं अरेः पदं तथोक्तं शत्रुस्थानं । प्राग्वसंताश्रितमिति यावत् । विपिनं काननं । सद्यः तस्मिन् सद्यः तत्क्षणे । अग्रहीत्किल उपायात्किल ग्रही उपादाने लुङ् ॥ १ ॥

भा० अ०—कामनाशक श्री अर्हद्देव को देखकर कामदेव के अन्तरंग मित्र वसंत के नौ दो ग्यारह होने पर प्रखरतेजस्वी ग्रीष्म ऋतु समय पाकर शीघ्र उस बन में आ पहुंची ।१।

वाताश्ववेगजरजःपिहिताभ्रभागमागत्य सर्वमपहाय मधोर्द्रुतस्य ॥
ग्रीष्मस्तुतोद पिकभृंगबलान्यधाक्षीत् केलीवनानि रुजतिस्म च पुण्डरीकम् ।२।

वातेत्यादि । ग्रीष्मः निदाघः । वाताश्ववेगजरजःपिहिताम्रभागं वातश्च अश्वाश्च वाताश्वास्तेषां वेगो वाताश्ववेगस्तस्माज्जायतेस्म वाताश्ववेगजं तच्च तत् रजश्च वाताश्ववेगजरजः तेन पिहितस्तथोक्तः अम्रस्य भागोऽम्रभागः वाताश्ववेगजरजसा पिहिताम्रभागो यस्मिन् कर्मणि तत् वातवेगोत्थवाजिवेगजनितधूल्याच्छादितगगनप्रदेशं यथा तथा । आगत्य एत्य । सर्वं सकलं । अपहाय अपहानं पूर्व० परित्यज्य । द्रुतस्य द्रवतिस्म द्रुतस्तस्य विनष्टस्य । "विलीनशीघ्रविद्रावणेषु द्रुतं" इति नानार्थरत्नकोशे । मधोः वसंतस्य। पिकभृंगबलानि पिकाश्च भृंगाश्च पिकभृंगास्त एव बलानि तथोक्तानि कोकिलभ्रमरसैन्यानि । तुतोद व्यथयतिस्म । तुदि व्यथने लिट् । केलिवनानि केल्या वनानि तथोक्तानि क्रीडावनानि। अधाक्षीत् दहतिस्म दह भस्मीकरणे लुङ् । पुंडरीकं सितांबुजं श्वेतच्छत्रं च "पुंडरीकं सितांभोजमथ रक्तसरोरुहे" इत्यमरः । रुजतिस्म बभंज रुजो भंगे"स्मे च लट्" इति भूतेऽर्थे स्मयोगाल्लट् ॥ २ ॥

भा० अ०—इस ग्रीष्म ऋतु ने और सबों को हवा तथा घोड़ों के वेग से उड़ी हुई धूलि से आम्रवन के अग्रभागों को आच्छादित करती हुई आकर नष्ट हुए वसन्त की कोयल भ्रमर तथा वनरूपिणी सेना को पीड़ित किया, क्रीडावन को जलाया तथा कमलों को भी तोड़ मरोड़ दिया ।२।

तद्भाविदुःखमिव वीक्षितुमक्षमत्वात् क्षिप्रं मधौ व्रजति तीव्रनिदाघयोगात् ॥
संतप्यमानमखिलं तरुवल्लिजातं तापज्वरीव ददृशे मधुविप्रयोगात ॥३॥

तदित्यादि । तद्भाविदुःखं भविष्यतीति भावि भावि च तत् दुःखं च भाविदुःखं तस्य भाविदुःखं तथोक्तम् भविष्यद्दुःखं । वीक्षितुं वीक्षणाय वीक्षितुं द्रष्टुं । अक्षमत्वादिव अक्षमस्य भावोऽक्षमत्वं तस्मात् असमर्थत्वादिव । मधौ वसंते । क्षिप्रं शीघ्रं । व्रजति सति व्रजतीति व्रजन् तस्मिन् गच्छति सति । तीव्रनिदाघयोगात् तीव्रश्चासौ निदाघश्च तीव्रनिदाघस्तस्य योगस्तीव्रनिदाघयोगस्तस्मात् निष्ठुरग्रीष्मसंबंधात् । संतप्यमानं । अखिलं समस्तं । तरुवल्लिजातं तरवश्च वल्लयश्च तरुवल्लयस्तासां जातं वृक्षलतावृंदं "जात्योघजन्मसु जातम्" इति नानार्थरत्नकोशे । मधुविप्रयोगात् मधोर्विप्रयोगस्तथोक्तस्तस्मात् वसंतवियोगात् । तापज्वरीव तापेन युक्तो ज्वरस्तापज्वरः सोऽस्याऽस्तीति तथोक्तः स इति वा । ददृशे दृश्यतेस्म दृश् प्रेक्षणे कर्मणि लिट् ॥ ३ ॥

भा० अ०—प्रचण्ड ग्रीष्म के योग से भावी दुःख को देखने में असमर्थ होने के कारण वसन्त के झट चले जाने पर सभी पेड़ पौधे सन्तप्त होते हुए मानो वसन्त के वियोग से ज्वर-ग्रस्त से दीखने लगे । ३।

ग्रीष्मे विदीर्णवनभूमिविशालदर्यो रेजुः कनत्कनकशेवधिदीप्रगर्भाः ॥
मान्याभिरुग्रकरपादहतेः प्रवेष्टुं क्लृप्तानि कुण्डशतवद् वनदेवताभिः ॥४॥

ग्रीष्मे इत्यादि। ग्रीष्मे निदाघे। कनत्कनकशेवधिदीप्रगर्भाः कनंतीति कनंति तानि कनकानि येषु ते कनत्कनकास्ते च ते शेवधयश्च तथोक्ता दीप्यत इत्येवं शीलो दीप्रः कनत्कनकशेवधिभिर्दीप्रो गर्भो यासां तास्तथोक्ताः ज्वलत्सुवर्णयुक्तनिधिभिः प्रकाश्यदंतभागाः। विदीर्णवनभूमिविशालदर्यः वनस्य भूमिर्वनभूमिः विशालाश्च ता दर्यश्च विशालदर्यः विदीर्णा चासौ वनभूमिश्च तथोक्ता तस्या विशालदर्यस्तथोक्ताः विभिन्नारण्यावनिविशालरेखाः। मान्याभिः मानितुं योग्या मान्यास्ताभिः पूज्याभिः। वनदेवताभिः वनस्य देवता वनदेवताः ताभिः व्यंतरदेवताभिः। उग्रकरपादहतेः कराश्च पादाश्च करपादाः उग्राश्च ते करपादाश्च तथोक्ताः पक्षे उग्राः कराः यस्य सः उग्रकरः सूर्यस्तस्य पादाः रश्मयस्तेषां हतिः उग्रकरपादहतिस्तस्याः निष्ठुरहस्तपादघातात् रविकिरणोपहतेर्वा। "बलिहस्तांशवः कराः। पादारश्म्यंघ्रितुर्यांशाः" इति उभयत्राप्यमरः। प्रवेष्टुं निपतितुं। क्लृप्ताग्निकुंडशतवत् अग्नेः कुंडानि अग्निकुंडानि क्लृप्तानि च तान्यग्निकुंडानि च तथोक्तानि क्लृप्ताग्निकुंडानां शतानि तथोक्तानि तानिव विरचितानलकुंडानेकवत्। रेजुः बभुः। राजृ दीप्तौ लिट् उत्प्रेक्षा ॥ ४ ॥

भा० अ०—ग्रीष्म ऋतु में चमकती हुई सुवर्ण-निधियों से समुद्भासित गर्भवाली विदीर्ण वनभूमिकी विशाल कन्दरायें मानो सूर्य के पादाघात अथवा किरणों के आक्रमण से अग्निकुण्डवत् नीचे की ओर प्रवेश करने के समान सोभने लगी। ४।

मिथ्यात्वकर्मकृतयाशुभयेव दृष्ट्या जंतुव्रजाः परमतत्त्वधियाप्यतत्त्वं ॥
ग्रैष्म्या तृषा मृगगणा मृगतृष्णिकांभः सेदुर्नदीयधिया बत धावमानाः ॥५॥

मिथ्यात्वेत्यादि। जंतुव्रजाः जंतूनां व्रजास्तथोक्ताः जीवसमूहाः। ग्रैष्म्या ग्रीष्मे भवा ग्रैष्मी तया निदाघजातया। तृषा पिपासया "उदन्या तु पिपासा तृट्" इत्यमरः। मृगतृष्णिकांभः मृगाणां तृष्णा तथोक्ता मृगतृष्णेव मृगतृष्णिकेति स्वार्थे कः मृगतृष्णिकैवांभः मरीचिकाजलं तथोक्तम्। मिथ्यात्वकर्मकृतया मिथ्याभावो मिथ्यात्वं तच्च तत् कर्म च मिथ्यात्वकर्मणा कृता तया द्रव्यमिथ्यात्वविहितया। अशुभया अप्रशस्तरूपया। दृष्ट्या श्रद्धया भावमिथ्यात्वेनेत्यर्थः। अतत्त्वमपि न तत्त्वमतत्त्वमपि तत्त्वाभासमपि। परमतत्त्वधिया परमं च तत् तत्त्वं च परमतत्त्वं परमतत्त्वमितिधीस्तथोक्ता तया सद्भूतवस्त्विति बुद्धया। धावमानाः धावंत इति धावमानाः पलायमानाः। सेदुरिव यथा दुःखायंतेस्म।

तथा मृगगणाः मृगाणां गणास्तथोक्ताः मृगसमूहाः । नदीरयधिया नद्या रयो नदीरयः नदीरय इति धीः नदीरयधीस्तया सरित्प्रवाह इति बुद्धया । धावमानाः पलायमानाः सन्तः । खेदुः दुःखायंतेस्म षदूल् विशरणगत्यवसादनेषु लिट् । बत हंत ॥ ५ ॥

भा० अ०—जिस प्रकार सभी जीवगण द्रव्य-मिथ्यात्व से किये गये भाव-मिथ्यात्व के कारण अतत्त्व को भी परमतत्त्व के विचार से अपनाते हैं, उसी प्रकार हरिण-समूह ग्रीष्म की तृषा से प्यासे होकर मृगतृष्णा के जल की ओर नदी की धारा समझ कर दौड़ २ कर दुःखित होते हैं । ५ ।

तृष्णातुरः स्वयमपि द्युमणिर्बभूव संतापवांश्च समयेऽत्र न चेत्कराग्रैः ॥

पंकाविलान्यपि जलान्यपिबत्किमर्थं प्रालेयशैलतटमध्युषितश्च कस्मात् ॥ ६ ॥

तृष्णातुर इत्यादि । अत्र समये अस्मिन्निदाघे । द्युमणिः सूर्यः । स्वयमपि । तृष्णातुरः तृष्णया आतुरस्तथोक्तः तृष्णापीडितः । संतापवांश्च संतापोऽस्यास्तीति संतापवान् च समुच्चयार्थः संतापयुक्तः । बभूव भवतिस्म । भू सत्तायां लिट् । न चेत् न भवति । कराग्रैः करस्याग्राणि कराग्राणि तैः किरणाग्रैः हस्ताग्रैः । पंकाविलानि पंकेनाविलानि कर्दमकलुषाणि । जलान्यपि सलिलान्यपि । किमर्थं कस्मै इदं किमर्थं । अपिबत् अपात् । अशोषयदिति यावत् । पा पाने लुङ् । प्रालेयशैलतटं प्रालेयसहितशैलः प्रालेयशैलस्तस्य तटं तथोक्तं हिमाचलसानुं । कस्मात् कारणात् । अध्युषितः अधिवसतिस्मेति तथोक्तः अधिष्ठितः उत्तरायणगत इत्याशयः । "वसोऽनूपाध्याङ्" इत्याधारे द्वितीया । उत्प्रेक्षा ॥ ६ ॥

भा० अ०—इस ग्रीष्म ऋतु में स्वयं सूर्य भी तृषातुर तथा सन्तापदग्ध हो गये, नहीं तो अपनी किरणों से ये गदले जलों को क्यों पीते अर्थात् सुखाते तथा हिमालय पर्वत के शिखरारूढ़ क्यों होते । ६ ।

शंकामयं जनितवान् जगतो वनांतः किं पाटलाः कुसुमिताः दवपावकाः किं ॥

किं मल्लिकाः स्तिमितभृंगगणाः किमेते शांतोल्मुका विशदभस्मचया इतीत्थं ॥ ७ ॥

शंकामित्यादि । कुसुमिताः कुसुमानि संजातान्येषामिति तथोक्ताः संजातपुष्पयुताः । पाटलाः पाटलवृक्षाः । किं किन्तु । दवपावकाः दवाश्च ते पावकाश्च तथोक्ताः दावाग्नयः । किं किंवा । स्तिमितभृंगगणाः भृंगानां गणा भृंगगणाः स्तिमिता भृंगगणो यासु तास्तथोक्ताः निश्चलभृंगकुलमिलिताः । "स्तिमितावार्द्रनिश्चलौ" इति वैजयंती । मल्लिकाः मल्लिकानामपुष्पाणि । "मल्लिकाः बहुलं श्लुक्पुष्पमाले" इति बहुल-प्रत्ययस्य श्लुक् मल्लिकापुष्पाणि किंवा । एते इमे । शांतोल्मुकाः शांतमुल्मुकं एषां ते तथोक्ताः

शांतांगाराः । "अलातमुल्मुकम्" इत्यमरः । विशदभस्मचयाः विशदानि च तानि भस्मानि च विशदभस्मानि तेषां चयाः शुभ्रभूतिसमूहाः किंवा । इत्थं अनेन प्रकारेण इत्थं । अयं एषः । वनांतः वनस्यांतर्वनांतः वनमध्ये अव्ययं । अयं ग्रीष्मः । जगतः लोकस्य । शंकां वितर्कं । "शंका त्रासे वितर्के च" इति विश्वः । जनितवान् जनयतिस्म जनितवान् । जनैङ् प्रादुर्भावे णिजंतात् क्तवतु प्रत्ययः । संशयालंकारः ॥ ७ ॥

भा० अ०—वन के बीच में खिले हुए गुलाब क्या वनाग्नि है, निश्चल भ्रमर-समूह वाले मल्लिका पुष्प शान्त अंगार वाले भस्म-समूह हैं क्या ! इत्यादि शंकाएं इस ग्रीष्म ऋतु ने लोगों के मन में उत्पन्न करदीं । ७ ।

संतप्तरेणुनिकरं कृपयेव वाता निन्युः सुशीतलजलां द्युनदीं निदाघे ॥
एकांततप्तवसुधास्थितिभीतभीता द्रागद्रवन्निव तदा मृगतृष्णिकौघाः ॥८॥

संतप्तेत्यादि । निदाघे ग्रीष्मे । वाताः वायवः । संतप्तरेणुनिकरं संतप्यंतेस्म संतप्तास्ते च ते रेणवश्च संतप्तरेणवस्तेषां निकरस्तथोक्तस्तं सम्यक्तप्तधूलिसमूहं । कृपयेव अनुकंपयेव । शीतलजलां शीतलं जलं यस्यां तां । द्युनदीं दिवो नदी द्युनदी तां सुरगंगां । निन्युः प्रापयंतिस्म । णीञ् प्रापणे लिट् । तदा तत्समये । मृगतृष्णिकौघः मृगतृष्णिकानां ओघस्तथोक्तः । "ओघो वृंदेऽम्भसां रये" इत्यमरः मरीचिकाप्रवाहः । एकांततप्तवसुधास्थितिभीतभीताः एकांतं तप्ता एकांततप्ता सा चासौ वसुधा च एकांततप्तवसुधा तस्यां स्थितिः तथोक्ता भृशं भीताः भीतभीताः एकांततप्तवसुधास्थित्याः भीतभीतास्तथोक्ताः अत्यंततप्तभूमिस्थित्याः त्रस्तत्रस्ताः भृशार्थे द्विः । अद्रवन् शीघ्रं अद्रवन् अधावन् । द्रु गतौ लङ् ॥ ८ ॥

भा० अ०—मानो कृपा करके हवाओं ने ग्रीष्म ऋतु में सन्तप्त धूलियों को अत्यन्त शीतल जलवाली गंगा के पास पहुंचा दिया । उसी समय अतिशय तपी हुई पृथ्वी पर रहने से मानों बहुत डर कर मृगतृष्णाएं झट भाँगी हुई सो ज्ञात हुईं । ८ ।

हा हंत तृड्भरविदीर्णगला मृगालिः पंकाविलोष्णसलिलं वनपल्वलानां ॥
अल्पं कथंचिदपिबत्कृपयावगम्य केनाप्युपाहृतमिवोद्धकषायतोयं ॥ ९ ॥

हेत्यादि । तृड्भरविदीर्णगला तृषो भरस्तथोक्तः विदरतिस्म विदीर्णः तृड्भरेण विदीर्णो गलो यस्यास्सा तथोक्ता तृषातिशयेन स्फुटितकंठाः । मृगालिः मृगाणामालिस्तथोक्ता मृगसमूहः । वनपल्वलानां वनस्य पल्वलानि वनपल्वलानि तेषां अरण्याल्पसरसां "पल्वलं चाल्पसरः" इत्यमरः । अल्पं स्तोकं । पंकाविलोष्णसलिलं

पंकेनाविलं पंकाविलं पंकाविलं च तदुष्णं च तथोक्तम् तत्सलिलं च पंकाविलोष्णसलिलं च कर्दमेनानच्छोष्णजलं। केनापि येन केनापि सत्पुरुषेण। अवगम्य अवगमनं पूर्व० ज्ञात्वा। कृपया दयया। उपाहृतं उपाह्रियतेस्म उपाहृतं। उद्धकषायतोयं उद्धश्चासौ कषायश्च उद्धकषायस्तस्य तोयमिव। कथंचित् केनचित्प्रकारेण। अपिबत् अपात् पा पाने लङ् ॥९॥

भा० अ०—प्यास की अधिकता से स्फुटित कण्ठवाले मृग-समूह ने वनकी बावडी के गर्म जल को कृपा करके किसी सज्जन से दिये गये गर्म कडुए काढ़े के समान किसी तरह पिया। ९।

धात्रीदरीमुखगतैर्विपिनस्थलीनां व्यादीर्णवेणुगलितैर्मणिभिर्विरेजे ॥
मा लोकमित्र शिखिनो मम पीडयेति दीनं प्रकाशितरदेव दिनाधिपाय ॥१०॥

धात्रीत्यादि। धात्री वसुधा। उपमाता वा। "धात्री स्यादुपमातापि क्षितिरप्यामलक्यपि" इत्यमरः। व्यादीर्णवेणुगलितैः व्यादीर्यन्तेस्म व्यादीर्णास्ते च ते वेणवश्च तथोक्तास्तेभ्यः गलितास्तैः स्फुटितवंशतः पतिताः। विपिनस्थलीनां विपिनस्य स्थल्यस्तथोक्तास्तासां विपिनस्थलीनां अरण्यप्रदेशानां। दरीमुखगतैः दर्या मुखं दरीमुखं तद्गच्छंतिस्म दरीमुखगतास्तैः दरीविवरप्राप्तैः। मौक्तिकैः मणिभिः। लोकमित्र लोकस्य मित्रं तथोक्तं तस्य संबोधनं हे लोकबंधो भानो। मम मे। शिखिनः शिखास्त्येषां इति शिखिनस्तान् पुत्रान् वृक्षान्वा "शिखी पुत्रे बलीवर्दे शरे केतुग्रहे द्रुमे" इति विश्वः। मा पीडयेति मा बाधयेति। पीड गहने लोट्। दिनाधिपाय दिनस्याधिपस्तथोक्तस्तस्मै सूर्याय। दीनं सदैन्यं यथा तथा। प्रकाशितरदेव प्रकाशिता रदा यस्यास्सा तथोक्ता प्रकटितदंतेव। विरेजे चकाशे। राजृ दीप्तौ लिट्॥ उत्प्रेक्षा।१०।

भा० अ०—वसुधा (अथवा उपमाता) फटे हुए बाँस से गिरे हुए तथा दरार के किनारे पर पड़े हुए मोतियों के कारण—हे सूर्य! मेरे बच्चों (अथवा वृक्षों को) मत पीड़ित करें एतदर्थ मानों सूर्य को प्रार्थना-सूचक दाँत दिखलाती कीसी ज्ञात हुई। १०।

संतापिताः स्वरिपुराहुमहारुषेव चंडांशुना सदृशराहुकुलाः फणीन्द्राः ॥
शंके गतान्यशरणाप्यलुठंस्तदीये पादाग्र एव कृतवक्रपुटप्रमोकाः ॥११॥

संतापिता इत्यादि। चंडांशुना चंडाः अंशवो यस्य सः तथोक्तस्तेन भास्करेण। स्वरिपुराहुमहारुषेव स्वस्य रिपुः स्वरिपुः स चासौ राहुश्च स्वरिपुराहुः महती चासौ रुट् च महारुट् स्वरिपुराहौ जनिता महारुट् तया निजशत्रुराहूत्थमहाक्रोधेन। संतापिताः

सन्ताप्यन्तेस्म सन्तापिताः सम्बाधिताः । सदृशराहुकुलाः राहोः कुलं राहुकुलं राहुकुलेन सदृशं कुलं येषां ते तथोक्ताः राहुकुलसमवंशाः । गतान्यशरणाः अन्यच्च तत् शरणं च अन्यशरणं गतं अन्यशरणं येषां ते तथोक्ताः अप्राप्तापररक्षकाः । "शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यमरः । कृतवक्त्रपुटप्रमोकाः क्रियंतेस्म कृताः वक्त्रस्य पुटं तस्य प्रमोको वक्त्रपुटप्रमोकः कृतो वक्त्रपुटप्रमोको यैस्ते विहितवदनपुटविकसनाः । फणीन्द्राः फणीनामिंद्रास्तथोक्ताः महासर्पाः । तदीये तस्येदं तदीयं तस्मिन् तदीये "दोश्छः" इति छः सूर्यसंबंधिनि । पादाग्रमेव पादानां किरणानामग्रं तस्मिन् चरणकिरणाग्रे एव । व्यलुठन् लुठंतिस्म लुठ प्रतिघाते लङ् ॥११॥

भा० अ० – ग्रीष्म सम्बन्धी प्रखर धूप में अनन्य-गतिक होकर सर्प-समूह मुंहखोले लोटते हुए मानो शत्रुभूत राहु जन्य क्रोध से सूर्य के द्वारा सन्तापित किये जाकर राहु कुल के समान प्रतीत होते थे। ११।

इत्येष तीव्रतरभावनिपीड्यमाननिःशेषजीवनिवहोऽपि निदाघकालः ॥
निन्येऽत्र जीवनिवहैः सुखमात्तयोगः पुण्ये जगद्गुरुरवास्थित यत्र शैले ॥१२॥

इतीत्यादि । पुण्ये पुण्यहेतुत्वादेव पुण्यं तस्मिन् पवित्रे । यत्र यस्मिन्यत्र । शैले कस्मिंश्चित् पर्वते । आत्तयोगः आधीयंतेस्म आत्तः आत्तो योगो येन सः स्वीकृतध्यानः । "योगः सन्नहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु" इत्यमरः । जगद्गुरुः जगतां गुरुः तथोक्तः लोकगुरुः । अवास्थित तिष्ठतिस्म ष्ठा गतिनिवृत्तौ लुङ् । "समवप्रविभ्यः" इति तङ् । अत्र अस्मिन् गिरौ । जीवनिवहैः जीवानां निवहा जीवनिवहास्तैः प्राणिसमूहैः । इति एवं प्रकारेण । तीव्रतरभावनिपीड्यमाननिःशेषजीवनिवहोऽपि प्रकृष्टस्तीव्रस्तीव्रतरः स चासौ भावश्च तीव्रतरभावः निपीड्यत इति निपीड्यमानः तीव्रतरभावेन निपीड्यमानस्तथोक्तः जीवानां निवहो जीवनिवहः निःशेषश्चासौ जीवनिवहश्च निश्शेषजीवनिवहः तीव्रतरभावनिपीड्यमानो निःशेषजीवनिवहो यस्य सः निष्ठुरस्वभावेन बाध्यमानस्थावरजंगमप्राणिसमूहयुक्तोऽपि । एषः अयं । निदाघकालः निदाघश्चासौ कालश्च निदाघकालः ग्रीष्मकालः । सुखं यथा तथा । निन्ये नीयतेस्म । णीञ् प्रापणे लिट् ॥ १२ ॥

भा० अ०—जिस पवित्र पर्वत पर ध्यानमग्न जगद्गुरु मुनिगण रहते थे सभी जीवों को दूसरी जगह निष्ठुर भाव से सन्तप्त किये हुई इस भीषण ऋतु को भी उस पर्वत पर प्राणिवर्ग सुखपूर्वक बिताते थे। १२।

गंभीरगर्जितभरादथ कंपमानचक्रांगबालविरहिव्रजमब्दकालः ॥
छिद्राविशत्फणिसनृत्यमयूरयूथमुन्मीलदोष्ठपुटचातकमुद्बभूव ॥ १३ ॥

गंभीरेत्यादि। अथ निदाघकालावसानानंतरे। अब्दकालः अपो ददातीत्यब्दः स चासौ कालश्च तथोक्तः वर्षाकालः । गंभीरगर्जितभरात् गंभीरं च तत् गर्जितं च गंभीरगर्जितं तस्य भरो गंभीरगर्जितभरस्तस्मात् गंभीरस्तनिताशयात् । कंपमानचक्रांगबालविरहिव्रजं चक्रांगानां बालाः चक्रांगबालाः विरहोऽस्त्येषामिति विरहिणः चक्रांगबालाश्च विरहिणश्च चक्रांगबालविरहिणस्तेषां व्रजस्तथोक्तः कंपत इति कंपमानः कंपमानश्चक्रांगबालविरहिव्रजो यस्मिन् कर्मणि तत् तथोक्तं भयविचलद्धंसपोतविरहिजनसमूहसहितं यथा भवति तथा । छिद्राविशत्फणिसनृत्यमयूरयूथं आविशंतीत्याविशंतः फणास्त्येषामिति फणिनः छिद्रमाविशंतश्छिद्राविशंतस्ते च ते फणिनश्च छिद्राविशत्फणिनः नृत्येन सह वर्तंत इति सनृत्यास्ते च ते मयूराश्च सनृत्यमयूराः छिद्राविशत्फणिनश्च सनृत्यमयूराश्च तथोक्ताः छिद्राविशत्फणिसनृत्यमयूराणां यूथं यस्मिन् कर्मणि तथोक्तं रंध्रप्रविशत्सुनृत्यमयूरनिवहं यथा यथा । उन्मीलदोष्ठपुटचातकं उन्मीलत इत्युन्मीलंतौ ओष्ठयोः पुटावोष्ठपुटौ उन्मीलंतावोष्ठपुटौ येषां ते तथोक्ताः उन्मीलदोष्ठपुटाश्चातका यस्मिन्कर्मणि तत् तथोक्तं शिथिलीभवदोष्ठचातकं पक्षे विशेषयुक्तं यथा तथा। उद्बभूव उदेतिस्म भू सत्तायां लिट् ॥ १३ ॥

भा० अ० —इसके बाद गंभीर गर्जन से हंस-शावकों को तथा वियोगी जनों को कम्पित, विधुर सर्पों को बिल में घुसने के लिये बाध्य, मयूर समूह को नृत्य-मग्न तथा चातकों के अधर पुट को उन्मीलित करती हुई वर्षा ऋतु का प्रादुर्भाव हुआ । १३ ।

प्राजीजनत् प्रसृतसर्वसमुद्रदेशाः शक्रेण सिंधुजलमग्ननगग्रहाय ॥
क्षिप्तोरुजालधिषणां पुनरुत्पतन्तः खं नीयमाननगशेमुषिकां नवाब्दाः । १४ ।

प्राजीजनदित्यादि । प्रसृतसर्वसमुद्रदेशाः प्रस्रियंतेस्म प्रसृताः समुद्रस्य देशाः समुद्रदेशाः सर्वे च ते समुद्रदेशाश्च सर्वसमुद्रदेशाः प्रसृताः सर्वसमुद्रदेशा यैस्ते तथोक्ताः व्याप्तसमस्तसागरप्रदेशसहिताः । नवाब्दाः नव च ते अब्दाश्च नवाब्दाः नूतनमेघाः । शक्रेण निर्जरवरेण । सिंधुजलमग्ननगग्रहाय सिंधोर्जलं सिंधुजलं मज्जंतिस्म मग्नाः सिंधुजले मग्नास्तथोक्ताः सिंधुजलमग्नाश्च ते नगाश्च तथोक्तास्तेषां ग्रहः सिंधुजलमग्ननगग्रहस्तस्मै समुद्रसलिलमग्नपर्वतग्रहणाय । क्षिप्तोरुजालधिषणां क्षिप्यतेस्म क्षिप्तं उरु च तत् जालं च उरुजालं क्षिप्तं च तत् उरुजालं च क्षिप्तोरुजालं तदिति धिषणा क्षिप्तो-

रुजालधिषणा तां निक्षिप्तपृथुलनायबुद्धिं। प्राजीजनत् प्राजनयन् जनेङ् प्रादुर्भावे णिजंताल्लुङ्। पुनः भूयः। उत्पतंतः उत्पतंतीत्युत्पतंतः उपर्यागच्छंतः। नवाब्दाः प्रत्यग्रांबुदाः। खं व्योम। नीयमाननगशेमुषिकां नीयंत इति नीयमानास्ते च ते नगाश्च नीयमाननगाः त इति शेमुषिका नीयमाननगशेमुषिका तां आकृष्यमाणपर्वतबुद्धिं। प्राजीजनत् प्राग्भावयतिस्म ॥ १४ ॥

भा० अ०—मानों सभी सामुद्रिक प्रदेशों में उमड़े हुए नूतन मेघों ने समुद्र जल में मग्न पर्वतों को निकालने के लिये इन्द्र के द्वारा फेंके गये महाजाल की तथा ऊपर की ओर उठे हुए मेघों ने आकाश की ओर पर्वत को खैंचने को प्रवीणता को प्रकटित किया। १४।

नो विद्म साभ्रमपराम्बुनिधेरटंती विद्युत्वतां किमु ततिर्बडवानलार्ता ॥
वार्दंतिसंततिरुत द्युनदीक्षणार्थं व्यारूढपाशिवनिता मकरीततिर्वा ॥१५॥

नो इत्यादि। अपरांबुनिधेः अपरश्चासावंबुनिधिश्च तथोक्तस्तस्मात् पश्चिमयादःपतेः सकाशात्। अभ्रं सुरवर्त्म। अटंती अटंतीत्यटंती गच्छंती। सा दृश्यमाना। विद्युत्वतां विद्युदस्त्येषामिति विद्युत्वंतस्तेषां विद्युत्वतां अत्र मत्वर्थे इति जस्त्वाभावः। ततिः राजिः। किमु स्याद्वा। बडवानलार्ता बडवानलेनार्ता बडवाग्निबाधिता। वार्दंतिसंततिः वारि विद्यमाना दंतिनो वार्दंतिनस्तेषां संततिः दन्तोपशोभितो जलगजसमूहः। उत भवेत्किं। द्युनदीक्षणार्थं दिवो नदी द्युनदी तस्या ईक्षणं द्युनदीक्षणं द्युनदीक्षणाय तथोक्तं गंगानदीदर्शनाय। व्यारूढपाशिवनिताः व्यारूढ्यन्तेस्म व्यारूढाः पाशोऽस्यास्तीति पाशी तस्य वनिता पाशिवनिताः व्यारूढाः पाशिवनिताः यस्यास्सा तथोक्ता वाहनत्वादारूढवरुणस्त्रीसमेता। मकरीततिः मकरीणां ततिस्तथोक्ता मकरस्त्रीनिकरो वेति। नोविद्म न जानीमः। विद् ज्ञाने लङ्। "विदो लटो वा" इति मसो मादेशः। संशयालंकारः ॥ १५ ॥

भा० अ०—मैं नहीं समझता कि पश्चिम समुद्र से आकाश तक चक्कर लगाती हुई विद्युत्पंक्तियाँ हैं? अथवा बाड़वाग्नि से पीड़ित हस्तिसमूह है? या आकाश गंगा को देखने के लिये वरुण की स्त्रियों से सवारी की गयी मगरों की स्त्रियों का झुंड तो नहीं है॥ १५ ॥

नीरंध्रमभ्रपटलं पिहिताखिलद्यु भेजेतरां विधृतदीर्घतरांबुधारं ॥
देव्याः दितेरुपरि लंबितदीर्घमुक्तामालं विशालमिव धातृकृतं वितानं ॥१६॥

नीरंध्रमित्यादि। पिहिताखिलद्यु अपिधीयतेस्म पिहिता "धाञ्"इति ह्यादेशः।

"धाञोह्यपेः" इत्यपेरकारलोपः अखिला चासौ द्यौश्च अखिलद्यौः पिहिता अखिलद्यौर्येन तत् तथोक्तं "नपो ऽचो ह्रस्वः" इति ह्रस्वः आच्छादितसमस्ताकाशं । विधृतदीर्घतरांबुधारं प्रकृष्टा दीर्घा दीर्घतरा अंबुनो धारा अंबुधारा दीर्घतरा चासावंबुधारा च तथोक्ता विध्रीयतेस्म विधृता विधृता दीर्घतरांबुधारा येन तथोक्तं भृशाधिकायतजलधारं । नीरंध्रं रंध्रान्निर्गतं नीरंध्रं निच्छिद्रं । अभ्रपटलं अभ्राणां पटलं तथोक्तं मेघसमूहः । क्षितेः भूम्याः । देव्याः देवतायाः भूदेव्याः । उपरि अग्रे । धातृकृतं धात्रा कृतं ब्रह्मनिर्मितं । लंबितदीर्घमुक्तामालं लंब्यतेस्म लंबिता मुक्तानां माला मुक्तामाला दीर्घा चासौ मुक्तामाला च दीर्घमुक्तामाला लंबिता दीर्घमुक्तामाला यस्य तत् । विशालं विस्तीर्णं । वितानमिव चंद्रोपमानमिव । भ्रेजेतरां प्रकृष्टं भ्रेजे भ्रेजेतरां भ्राजि वर्चिर्दीप्तौ लिट् । "द्वयोर्विभज्ये च तरप्" इति तरप् प्रत्ययः । अव्ययैर्दित्यादिनामुप्रत्ययः उत्प्रेक्षा ॥ १६ ॥

भा० अ०—समस्त नभो-मण्डल को आच्छन्न किये हुआ, बड़ी प्रखर जल-धारा को धारण किये हुआ, भगवती पृथ्वी के ऊपर लटकी हुई बड़ी २ मुक्ता माला वाला ब्रह्मा के द्वारा फैलाये गये विशाल छिद्ररहित तम्बू के समान मेघ-मण्डल मालूम पड़ता था ।१६॥

रेजुः प्रसृत्य जलधिं परितोऽप्यशेषं मेघा मुहुर्मुहुरभिप्रसृताभ्रभागाः ॥
आदानवर्षणमिषात्पयसां पयोधिं व्योमापि मान्त इव संशयिताशयेन ॥ १७॥

रेजुरित्यादि । अशेषं न शेषं अशेषं तं सकलं । जलधिं जलानि धीयंतेस्म जलधिस्तं समुद्रं । परितः सर्वतः । प्रसृत्य प्रसरणं पूर्वं० व्याप्य । मुहुर्मुहुः भूयो भूयः । अभिप्रसृताभ्रभागाः अभितः प्रसृताः अभ्रस्य भागाः अभ्रभागाः अभिप्रसृता अभ्रभागा येस्ते तथोक्ताः अभिव्याप्तगगनप्रदेशयुक्ताः । मेघाः जलधराः । पयसां जलानां । आदानवर्षणमिषात् आदानं च वर्षणं च तथोक्ते आदानवर्षणे एव मिषं आदानवर्षणमिषं तस्मात् स्वीकरणवर्षणव्याजात् । संशयिताशयेन संशेतेस्म संशयितः स चासावाशयश्च संशयिताशयस्तेन शंकिताभिप्रायेण । पयोधिं जलधिं । व्योमापि दिवमपि । मांत इव मांतीति मांतस्त इव माङ्माने शत्रंतः प्रमितिं कुर्वंति इव । रेजुः बभुः । राजृ दीप्तौ लिट् उत्प्रेक्षा ॥ १७॥

भा० अ०—सारे समुद्र के चारो तरफ बार बार फैल कर आकाश-मण्डल को घेरे हुए मेघ जलों को लेने और बर्षण करने के बहाने से संदिग्ध चित्त हो मानो समुद्र और आकाश को नापते हैं । १७ ।

कांतारभूमिषु विदीर्णदरीविधानदेदीप्यमानमणिराशिमुपोपविष्टाः ॥
अंगारपुंजमनसा किल सेवमानाः शाखामृगाः शुशुभिरे नववृष्टिशीर्णाः ॥ १८॥

कांतारेत्यादि । कांतारभूमिषु कांताराणां भूमयः कांतारभूमयः तासु अरण्यभूमिषु । नववृष्टिशीर्णाः नवा चासौ वृष्टिश्च नववृष्टिस्तया शीर्णाः नूतनवर्षेण कदर्थिताः । विदीर्णदरीनिधानदेदीप्यमानमणिराशिं विदीर्णाश्च ता दर्यश्च विदीर्णदर्यः देदीप्यंत इति देदीप्यमानास्ते च ते मणयश्च तथोक्ता विदीर्णदरीषु विद्यमाना देदीप्यमानमणयस्तेषां राशिस्तं प्राग्निदाघभरस्फुटितसुदरीषु भाभास्यमानरत्नराशिं । उपोपविष्टाः उपोपविशंतिस्म तथोक्ताः समीपस्थिताः । प्रोपोत्संपादपूरणे द्विः । अंगारपुंजमनसा अंगाराणां पुंजस्तथोक्तः अंगारपुंज इति मनस्तेन अंगारराशिबुद्ध्या । सेवमानाः सेवंत इति सेवमानाः । शाखामृगाः कपयः । शुशुभिरे किल चकाशिरे किल । शुभ दीप्तौ लिट् । भ्रांतिमानलंकारः ॥१८॥

भा० अ०—वन-भूमियों में विदीर्ण कन्दराओं में विद्यमान रत्नपुंज के निकट नई वृष्टि से आर्त्त हो अंगारपुंज के ख्याल से बैठे हुए बन्दर सोभते थे ॥ १८ ॥

नीलोपलोर्ध्वनिलयैर्मणितोरणाग्रैरंतर्बहिःपरिमुहुर्विचरद्वधूकैः ॥
किर्म्मीरिता जलधरास्सुरचापरम्या विद्युद्युता विविदिरे नगरेषु वर्षैः ॥१९॥

नीलोपलेत्यादि। नगरेषु पत्तनेषु । अंतः मध्ये । बहिः बाह्ये । परि परितः । मुहुः पुनः पुनः । विचरद्वधूकैः विचरंतीति विचरंत्यः विचरंत्यो वध्वो येषां ते विचरद्वधूकास्तैः संचरद्वनितायुतैः । मणितोरणाग्रैः मणिभिर्निर्मितास्तोरणास्तथोक्ताः मणितोरणा अग्रे येषां ते मणितोरणाग्रास्तैः अग्रभागे रत्नतोरणयुक्तैः । नीलोपलोर्ध्वनिलयैः नीलश्चासौ उपलश्च नीलोपलस्तेन निर्मिता ऊर्ध्वनिलयाः नीलोपलोर्ध्वनिलयास्तैः इंद्रनीलरत्नरचितसौधैः । किर्म्मीरिताः मिश्राः । सुरचापरम्याः सुरचापेन रम्याः इंद्रधनुषा मनोहराः । विद्युताः विद्युता युतास्तथोक्ताः तडिद्युक्ताः । जलधराः जलानि धरंतीति जलधराः मेघाः । वर्षैः वृष्टिभिः । विविदिरे रेजिरे । विद ज्ञाने लिट् । अत्रोपमानोपमेयपदानां बिंबप्रतिबिंबभावेन परस्परोपमा ॥ १९ ॥

भा० अ०—बाहर, भीतर तथा चारो तरफ जहाँ बार २ युवतियाँ विचरण कर रही हैं ऐसी मणिमय तोरण वाली नीलम-जड़ित अट्टालिकाओं से स्पृष्ट और इन्द्र धनुष तथा चंचला-युक्त मेघ शहरों में वृष्टि द्वारा ही जाने जाते थे अर्थात् आकाशस्पर्शिनी इन्द्रमणि-खचित अटारियों से समुद्भासित स्वच्छाकाश के भी नील बने रहने की वजह से प्रकृत जलद वृष्टि होने पर ही प्रतीत होता था । १९ ।

उन्मार्गवर्त्यपि जगज्जनमान्यवृत्तिरुल्लासभासुरकुजोप्युरुचाप्पसीतः ॥
अंभोमुचामशमयत्प्रचयो रजांसि प्रत्याहतामलदिगंबरदर्शनोऽपि ॥२०

उन्मार्गेत्यादि । उन्मार्गवर्त्यपि उद्गतो मार्गस्तस्मिन् वर्तत इत्येवं शीला उन्मार्गवर्ती दुर्मार्गवर्त्यपि पक्षे व्योममार्गवर्त्यपि । जगज्जनमान्यवृत्तिरपि जगतो जना: जगज्जना: मानितुं योग्या: मान्या: जगज्जनैर्मान्या तथोक्ता जगज्जनमान्या वृत्तिर्यस्य स: लोक-जनपूज्यवर्तनायुक्त: । दुर्मार्गवर्तिनो जगज्जनमान्यवृत्तित्वविरोध: आकाशमार्गवर्तीति परिहार: । उल्लासभासुरकुजोऽपि उल्लसनमुल्लासस्तेन भासंत इत्येवं शीला उल्लासभा-सुरा कौ जायंत इति कुजा: उल्लासभासुरा: कुजा: यस्य स: हर्षेणभासनशीलसीतायुत: । पक्षे उल्लासभासुरा: पल्लवपलाशप्रसूनादिभिर्भासमाना: कुजा: वृक्षा यस्य स: तथोक्त-स्सोपि । उरुबाष्पसित: उरु बाष्पं यस्यास्सा तथोक्ता उरुबाष्पा सीता यस्य स: महदश्रु युक्तसीतादेवीसहित: पक्षे ऊष्मायमाणलांगलपद्धतिसहित: । "बाष्पो नेत्रजलोष्मणो: । सीता-रामकलत्रे स्यात्तथा लांगलपद्धतौ"इत्युभयत्रापि विश्व: । उल्लासभासुरसीतावत: उरुबाष्पं सीतावत्वं विरोध: । किन्तु उल्लसनभासनशीलवृक्षवत्वं नववृष्टिवशादुष्मायमाणलांगलत्व-पद्धतिवत्त्वमिति परिहार: । प्रत्याहतामलदिगंबरदर्शनोऽपि प्रत्याहन्यतेस्म प्रत्याहतं न विद्यते मलं यस्य तदमलं दिश एवांबरं येषां ते दिगंबरा: तेषां दर्शनं तथोक्तं प्रत्याहतं अमलं दिगंबरदर्शनं येन स: तथोक्तस्सोऽपि निराकृतनिर्मलजिनमतवानपि पक्षे दिशश्च अंबरं च दिगंबराणि तेषां दर्शनं प्रत्याहतं अमलदिगम्बरदर्शनं येन स: इत्यत्रापि बहुपदो वस: । प्रक्षिप्तविशदादिगाकाशवीक्षणवानपि । "दर्शनं नयनस्वप्नबुद्धिधर्मोपलब्धिषु । शास्त्रदर्पणयो-श्चापि" इति विश्व: । अंभोमुचां अंभांसि मुञ्चत्यम्भोमुचस्तेषां मेघानां । प्रचय: प्रकर: । रजांसि पापानि रेणून्वा । अशमयत् अदमयत् । शमू दमू उपशमने लङ् । निराकृतजिनमतस्य पापशमनत्वं विरोध: । प्रतिहतनिर्मलदिगाकाशप्रक्षणस्याब्दकालस्य धूलिशमनत्वमिति-परिहार: । विरोधभासालंकार: ॥ २० ॥

भा० अ०—विपथ गामी (आकाश पथचारी) होते हुए भी सांसारिक लोगों से मान्य वृत्ति होकर, हर्ष से प्रकाशन–शील सीता (वृक्ष) युक्त होते हुए भी अत्यन्त वाष्प सम्पन्न लांगल (सीता देवी) सहित तथा स्वच्छ दिशावलोकन (पवित्र जिनमत दर्शन) को अव-रूद्ध किए हुए भी मेघ–मंडल ने रजस्समूह (रजोगुण) को शान्त किया । २० ।

किं केतकी कुसुमिता किमयं तडित्वान् संबाधतो जलमुचां पतित: पृथिव्यां ॥
किं वा धृतेंदुशकलस्तमसां समूह: किं शाकिनी शितरदा तरुणादनाय ॥ २१ ॥

किमित्यादि । कुसुमिता कुसुमानि संजातान्यस्यामिति तथोक्ता संजातकुसुम-युक्ता । केतकी वृक्ष: । किं भवेत् किंतु । अयं एष: । जलमुचां जलं मुंचतीति जलमुचस्तेषां । संबाधत: संबाधनं संबाधस्तस्मात् तथोक्तं परस्परसंमर्दनत: । पृथिव्यां भूम्यां । पतित:

पततिस्म पतितः च्युतः। तडित्वान् तडिदस्यास्तीति तडित्वान् "स्तं मत्वर्थे" इति जस्त्वाभावः विद्यु द्युक्तमेघः। किंस्यांदुत। धृतेंदुशकलः ध्रियतेस्म धृतं इंदोः शकलमिंदुशकलं धृतमिंदुशकलं येन सः धृतचंद्रभागः। "भित्त शकलखंडे वा" इत्यमरः। तमसां तिमिराणां। समूहः निवहः। किं वा भवेद्वा। तरुणादनाय तरुणानामदनं तरुणादनं तस्मै कामोद्दीपनहेतुत्वाद्यु वजनभक्षणार्थमित्यर्थः। शितरदा शिता रदा यस्यास्सा तथोक्ता निशितरदना "शितं शातं च निशिते कृशे शान्तश्च कर्मणि" इति विश्वः। शाकिनी शाकिनी नाम देवी। किं भवति किं। संशयालंकारः ॥२१॥

भा० अ०—क्या यह विकसित केतकी की गाछ है या परस्पर मेघ के संघर्षण से ज़मीन पर गिरी हुई बिजली है अथवा चन्द्रमा का टुकड़ा लिये हुआ अन्धकार-समूह है या युवकों का भक्षण करने के लिए कटिबद्ध उजले दाँत वाली राक्षसी तो नहीं है। २१।

गोत्रारिगोपकरका व्यरुचन्धरायां मेघागमेन दयितेन कृतांकपाल्याः ॥
व्योमश्रियः स्तनतटत्रुटितोरुहारस्रस्तावकीर्णनवविद्रुममौक्तिकाभाः ॥२२॥

गोत्रारीत्यादि। मेघागमनेन आगमनमागमः मेघस्यागमो यस्मिन् तेन प्रावृट्कालेन दयितेन प्राणनायकेन। कृतांकपाल्याः क्रियतेस्म कृता कृता अंकपालिर्यस्यास्सा तथोक्ता तस्याः विहितालिंगनायाः। "क्रोड़धात्रिकापरिरंभेष्वंकपालिः" इति नानार्थकोशे। व्योमश्रियः व्योम्नः श्रीः व्योमैव वा श्रीस्तस्याः गगनलक्ष्म्याः। स्तनतटत्रुटितोरुहारस्रस्तावकीर्णनवविद्रुममौक्तिकाभाः स्तनयोस्तटं स्तनतटं तस्मात् त्रुटितः तथोक्तः उरुश्चासौ हारश्च तथोक्तः स्तनतटत्रुटितश्चासौ उरुहारश्च स्तनतटत्रुटितोरुहारः स्रस्ताश्च ते अवकीर्णाश्च स्रस्तावकीर्णाः स्तनतटत्रुटितोरुहारात् स्रस्तावकीर्णाः विद्रुमाश्च मौक्तिकाश्च विद्रुममौक्तिकाः नवाश्च ते विद्रुममौक्तिकाश्च नवविद्रुममौक्तिकाः स्तनतटत्रुटितोरुहारस्रस्तावकीर्णाश्च ते नवविद्रुममौक्तिकाश्च तथोक्ताः तेषामाभाः कुचप्रदेशत्रुटितपृथुहाराच्छिथिलितविकीर्णनूतनप्रवालमुक्ताफलसदृशाः। गोत्रारिगोपकरका गोत्रारिगोपाश्च करकाश्च तथोक्ताः इंद्रगोपक्रिमिवर्षोपलाः। धरायां भूमौ। व्यरुचन् विशेषेण रेजुः। रुचि अभिप्रीत्यां च लुङ् "द्युद्भ्योलुङ्" परस्मैपदम्। उत्प्रेक्षालंकारः ॥२२॥

भा० अ०—वर्षा-काल-रूपी वल्लभ से आलिंगित आकाश-लक्ष्मी के स्तन-प्रदेश से टूटी हुई माला के गिरे हुए नये मोती और मूंगे की सी आभा वाले इन्द्र कीट तथा ओले पृथ्वी पर चमकने लगे। २२।

आलप्य खल्वतितरां चतुरैरमुष्मिन्नारूढधन्वनि सतामवमानहेतौ ॥
काले हि राजविकले कलुषात्मनीति कामं पिकोऽभवदुरीकृतमूकभावः ॥२३॥

आलप्येत्यादि । पिकः कोकिलः । आरूढधन्वनि आरूह्यतेस्म आरूढं आरूढं धन्व यस्मिन् तस्मिन् आरूढधनुष्मति कलहतत्पर इत्यर्थः पक्षे प्ररूढेंद्रायुधवति । सतां सत्पुरुषाणां पक्षे नक्षत्राणां । "सत्प्रशस्ते विद्यमाने त्रिपु स्त्रीसत्यतारयोः" इति शाश्वतः । अवमानहेतौ अवमानस्य हेतुस्तथोक्तः तस्मिन् तिरस्कारकारणे । राजविकले राजा विकलस्तथोक्तस्तस्मिन् उत्तमक्षत्रियहीने पक्षे चंद्रप्रभारहिते "राजा चंद्रमहीपत्योः"इति धनंजयः । कलुषात्मनि कलुष आतमा यस्य तस्मिन् पापात्मनि पक्षे मलिमसस्वभावे । अमुष्मिन् काले पक्षे एतद्वर्षाकाले । चतुरैः पंडितमनोरंजननिपुणैः पक्षे पंचमध्वनिनिपुणैः । अतितरां अत्यंतं । आलप्य आलपनं पूर्व० उक्त्वा । खलु "निषेधेऽलं खलौ क्त्वेति"क्त्वा प्रत्ययः । "क्त्वोऽनञःप्यः" इति प्यादेशः । "निषेधवाक्यालंकारजिज्ञासानुनये खलु" इत्यमरः । एवमाशयेन । दूरीकृतमूकभावः दूरीक्रियतेस्म दूरीकृतः मूकस्य भावो मूकभावः दूरीकृतो मूकभावो येन सः अंगीकृतमौननियमः । कामं पर्याप्तं । "कामं प्रकामं पर्याप्तम्" इत्यमरः । अभवत् भू सत्तायां लङ् ॥ २३ ॥

भा० अ०—कलह-तत्पर अथवा इन्द्र-चाप-युक्त, सज्जनों अथवा नक्षत्रों के अपमान के कारण उत्तम राजहीन अथवा चन्द्र-प्रकाश से रहित पापात्मा अथवा कृष्णता-युक्त इस बर्षाऋतु में कोकिलने पंचम राग से मनमाना कूजन कर अब एकदम चुप्पी साधली । २३ ।

प्रत्युन्मिषन्नवकदंबरजोभिरुच्चैश्चित्रं दिगंबरहृदप्यनुरक्तमाशु ॥
चित्तान्यरंजयत रागिजनस्य तस्येत्याश्चर्यमत्र किमु पश्चिमगंधवाहः ॥२४॥

प्रत्युन्मिषमित्यादि । अत्र प्रावृषि । पश्चिमगंधवाहः पश्चिमश्चासौ गंधवाहश्च तथोक्तः पश्चिमवायुः । प्रत्युन्मिषन्नवकदंबरजोभिः प्रत्युन्मिषतीति प्रत्युन्मिषन् नवश्चासौ कदंबश्च नवकदंबः प्रत्युन्मिषंश्चासौ नवकदंबश्च तथोक्तः प्रत्युन्मिषन्नवकदंबस्य रजांसि तैः विकसत्कुसुमनूतननीपवृक्षस्य रजोभिः । दिगंबरहृदपि दिश एवांबरं एषां ते दिगंबरास्तेषां हृत् चित्तं तदपि पक्षे दिशश्च अंबराणि च दिगंबराणि तेषां हृदंतर्भागो मुनींद्रहृदयमपि पक्षे दिगाकाशमध्यमपि । उच्चैः अधिकं । आशु शीघ्रं । अनुरक्तं अनुरज्यतेस्मानुरक्तं प्रीणतिं पक्षे अरुणितं । चक्रे विदधे । तस्य प्रसिद्धस्य । रागिजनस्य रागोऽस्यास्तीति रागी स चासौ जनश्च रागिजनस्तस्य कामुकजनस्य । चित्तानि मनांसि । अरंजयत अप्रीणयत् । इति एवं तत् । आश्चर्यं किमु अद्भुतं किं चित्रं न भवति इति यावत् ॥ २४ ॥

भा० अ०—जब पश्चिमी वायु ने विकसित नूतन कदम्ब-पुष्प के परागों से आकाश के मध्यभाग अथवा दिगम्बर मुनियों के चित्त को बहुत शीघ्र अधिक अनुरक्त कर लिया तब भला वह कामी जनों के हृदय को अनुरंजित करे तो क्या आश्चर्य है । २४ ।

इत्यंबुवाहसमयोऽपि विजृंभमाणो वज्रानलं जनपदेषु ससर्ज नेषत् ॥
चक्रेऽतिवृष्टिमितरां न च दुर्दिनानि तस्य द्रुमूलगतलोकपतेःप्रभावात् ॥२५॥

इत्येत्यादि । इति एवं प्रकारेण । विजृंभमाणः प्रवर्धमानः । अंबुवाहसमयोऽपि अंबु वहतीत्यंबुवाहः स चासौ समयश्च तथोक्तः वर्षाकालोऽपि । द्रुमूलगतलोकपतेः द्रोर्मूलं द्रुमूलं तद्गच्छतिस्म द्रुमूलगतः लोकस्य पतिर्लोकपतिः द्रुमूलगतश्चासौ लोकपतिश्च द्रुमूलगतलोकपतिस्तस्य वृक्षमूलस्थितजिनेश्वरस्य । प्रभावात् सामर्थ्यात् । जनपदेषु देशेषु । ईषत् स्तोकं च । वज्रानलं वज्रस्यानलो वज्रानलस्तं वज्राग्निः । "वज्रं हीरकदंभोलिबालकामलकेषु च" इति विश्वः । न ससर्ज न चकार । सृज विसर्गे लिट् । अतिवृष्टिं अधिकवृष्टिं । इतरां अनावृष्टिं । दुर्दिनानि च मेघछन्नदिनानि च । न चक्रे न विदधे ॥ २५ ॥

भा० अ०—यों बहुत बढ़े चढ़े हुए भी वर्षा-काल ने वृक्ष के नीचे स्थित श्रीजिनेन्द्र देव के प्रभाव हो से देशों में सभी जगह बज्रपात, अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा दुर्दिन आदि बाधायें संघटित नहीं की । २५ ।

सुश्लिष्टकांतमथ सीत्कृतगर्भकंठं निस्स्वेददीर्घसुरतं स्वदमानवह्नि ॥
कर्पूरखंडविकलक्रमुकोपभोगं कश्चिद्बभूव विषयः समयो जनानां ॥२६॥

सुश्लिष्टेत्यादि । अथ प्रावृट्कालानंतरे । कश्चित् कोऽपि समयोऽपि । कालः हिमकाल इत्यर्थः । सुश्लिष्टकांतं कांता च कांतश्च कांतौ एकशेषः सुश्लिष्येतेस्म सुश्लिष्टौ कांतौ यस्मिन् कर्मणि तत् गाढालिंगितदंपति यथा तथा । सीत्कृतगर्भकंठं सीत्कृतमेव गर्भं यस्य सः तथोक्तः सीत्कृतगर्भः कंठो यस्मिन् कर्मणि तत् सीत्कारांतसहितगलयुक्तं यथा तथा । "सीत्कृतं भणितं कामे" इति धनंजयः अनुकरणध्वनिः । निःस्वेददीर्घसुरतं स्वेदान्निर्गतं निःस्वेदं दीर्घं च तत् सुरतं च तथोक्तं निःस्वेदं दीर्घसुरतं यस्मिन्कर्मणि तत् घर्मरहितायतनिधुवनं यथा तथा । स्वदमानवह्नि स्वदते इति स्वदमानः स्वदमानो वह्निर्यस्मिन् कर्मणि तत् अंगीकृताग्नियुक्तं यथा तथा । कर्पूरखंडविकलक्रमुकोपभोगं कर्पूरस्य खंडं तथोक्तं कर्पूरखंडेन विकलः कर्पूरखंडविकलः क्रमुकस्योपभोगः क्रमुकोपभोगः कर्पूरखंडविकलः क्रमुकोपभोगो यस्मिन् कर्मणि तत् शीतहेतुत्वेन घनसारखंडरहितक्रमुकोपभोगयुक्तं यथा तथा । जनानां लोकानां । विषयः गोचरः । "विषयः स्यादिंद्रियार्थे देशे जनपदेऽपि च । गोचरे च प्रवन्धाद्ये यस्य ज्ञातस्तु तत्र च" इति विश्वः । बभूव भवतिस्म भू सत्तायां लिट् । रूपकः ॥ २६ ॥

भा० अ०—वर्षा-काल के बाद परस्पर दम्पती को आलिङ्गन कराती हुई, अत्यन्त ठंढक सूचित करने वाला सीत्कार (सी सीसी ऐसी ध्वनि) गलेसे निकलवाती हुई, और अधिक

देर तक संभोग होते रहने पर भी स्वेद (पसीना) का अभाव दिखलाती हुई कर्पूर रहित सुपारी के सेवनोपयुक्त हेमन्त ऋतु लोगों की दृष्टि-गोचर हुई । २६ ।

उच्चाटनाय शरदः सितसर्षपौघो निर्दग्धुमब्जनिलयानिलयं तुषाग्निः ॥
आलंभचूर्णमसहायजनस्य कामं प्रालेयसीकरमिषेण कुतोऽप्यपप्तत ॥२७॥

उच्चाटनायेत्यादि । शरदः शरत्कालस्य । उच्चाटनाय उच्चाटनकर्मनिमित्तं । सितसर्षपौघः सिताश्च ते सर्षपाश्च सितसर्षपास्तेषामोघस्तथोक्तः सिद्धार्थसमूहः । अब्जनिलयानिलयं अब्जमेव निलयो यस्यास्सा तथोक्ता अब्जनिलयाया निलयस्तथोक्तस्तं लक्ष्मीनिवासं कमलमित्यर्थः । रूपकः । निर्दग्धुं निःशेषं दहनाय । तुषाग्निः तुषस्याग्निस्तथोक्तः पलालाग्निः । असहायजनस्य न विद्यते सहायो यस्य सः असहायः स चासौ जनश्च असहायजनस्तस्य असहायजनस्य वियोगिजनस्य । आलंभचूर्णं आलंभार्थं चूर्णं तथोक्तं मारणचूर्णं । "आलंभपिंजविशरघातोन्माथवधा अपि" इत्यमरः । प्रालेयसीकरमिषेण प्रालेयस्य सीकरास्तथोक्ताः प्रालेयसीकरा इति मिषं प्रालेयसीकरमिषं तेन हिमकणव्याजेन । "मिषं गजनिमीलनम्" इत्यभिधानात् । कुतोऽपि कस्मादपि । अपप्तत् अपतत् । पत्लृ गतौ लुङ् । "शर्तिशास्ति" इत्यादिना अङ् प्रत्ययः । "श्वयत्यश्वच्प्रतोऽङ्यथ गुप्पम्" इति पमागमः ॥ २७ ॥

भा० अ०—शरत्काल के उच्चाटन के लिए उजले सरसो, कमल को जलाने के लिए तुषाराग्नि और जनो के लिए मृत्युचूर्ण ओस-के बिन्दू के वहाने न मालूम कहां से आ जुटे । २७ ।

रेजुः प्रभातसमयेषु लतावनद्धाः क्षोणीरुहस्तुहिनवारिकणैर्विकीर्णैः ॥
आलिंगितस्तबकचारुकुचा रतांतप्रादुर्भवद्भिरिव घर्मलवैर्युवानः ॥२८॥

रेजुरित्यादि । प्रभातसमयेषु प्रभातान्येव समयाः प्रभातसमयास्तेषु विभातकालेषु । लतावनद्धाः अवनह्यंतेस्म अवनद्धाः लताभिरवनद्धास्तथोक्ताः वल्लरीसंबद्धाः । आलिंगितस्तबकचारुकुचा चारू च तौ कुचौ च चारुकुचौ स्तबका एव चारुकुचौ आलिंग्येतेस्म आलिंगितौ स्तबकचारुकुचौ यैस्ते तथोक्ताः परिरंभगुच्छकमनोरमस्तनाः "स्याद् गुच्छकस्तु स्तबकः" इत्यमरः । क्षोणीरुहः क्षोण्यां भूम्यां रुहंतीति क्विबंतो हकारांताः वृक्षाः । विकीर्णैः विप्रकीर्णैः । तुहिनवारिकणैः वारिणां कणाः वारिकणाः तुहिनस्य वारिकणाः तैः हिमजलशीकरैः । रतांतप्रादुर्भवद्भिः रतस्यांतं रतांतं प्रादुर्भवंतीति प्रादुर्भवंतः रतांते प्रादुर्भवंतः तथोक्तास्तैः निधुवनावसानाविर्भवद्भिः । घर्मलवैः घर्मस्य लवा घर्मलवास्तैः स्वेदबिंदुभिः । युवान इव तरुणा इव । रेजुः बभुः । राजृ दीप्तौ लिट् ॥ २८ ॥

भा० अ०—प्रातःकाल में लताओं से लिपटे हुए तथा गुच्छरूपी सुन्दर कुचों का आलिंगन किए हुए वृक्ष बिखरे हुए ओस के बिन्दुओं से संभोगान्त में निकले हुए पसीने के कणों से युवक गण के समान सोभने लगे। २८।

कालेऽत्र तीव्रहिमभाजि न वासरेंद्रसांद्रांशुकोऽपि सहतेस्म हिमाद्रिवासम्॥
दूरस्थमप्यथ ययौ मलयाचलेंद्रं गोशीर्षकोटरफणिश्वसितैः कवोष्णम्॥२९॥

काल इत्यादि। तीव्रहिमभाजि तीव्रं च तत् हिमं च तथोक्तं तीव्रहिमं भजतिस्म तीव्रहिमभाग् तस्मिन् तीव्रहिमभाजि निष्ठुरहिमसहिते। अत्र अस्मिन्। काले समये। सांद्रांशुकोऽपि सांद्रमंशुकं यस्य सोऽपि दृढवस्त्रवानपि पक्षे सांद्रोंऽशुर्यस्य स तथोक्तः घनकिरणोऽपि। वासरेंद्रः वासरस्येंद्रस्तथोक्तः सूर्यः। हिमाद्रिवासं हिमेन युक्तोऽद्रिर्हिमाद्रिः हिमाद्रिवासस्तथोक्तः तं हिमवत्पर्वतस्थितिं। न सहतेस्म न मर्षतिस्म। षह मर्षणे "स्मे च लिट्" इति भूतार्थे लट्। अथ अनंतरे। दूरस्थमपि विप्रकृष्टदेशस्थितमपि। गोशीर्षकोटरफणिश्वसितैः गोशीर्षस्य कोटरं तथोक्तं गोशीर्षकोटरे स्थिताः फणिनः गोशीर्षकोटरफणिनस्तेषां श्वसितास्तथोक्तास्तैः श्रीगंधवृक्षकोटरस्थितसर्पनिश्वासैः। कवोष्णं ईषदुष्णं कवोष्णं तथा "काकवौवोष्णे" इति कोः कवादेशः। मलयाचलेंद्रं मलयाश्च ते अचलाश्च मलयाचलास्तेषामिंद्रो मलयाचलेंद्रस्तं यद्वा अचलानामिंद्रस्तथोक्तः स चासाविंद्रश्च मलयाचलेंद्रस्तं। ययौ प्राप। या प्रापणे लिट्॥ २९॥

भा० अ०—इस मध्य-कालीन निष्ठुर हेमन्त ऋतु में अत्यन्त सघन किरण-रूप वस्त्र युक्त होते हुए भी सूर्य हिमाचल पर्वतर नहीं रह सके, प्रत्युत अत्याधिक दूरस्थ होत हुए भी चन्दन वृक्ष के खोखले में बैठे हुए साँपों के फुंकारों से कुछ कुछ उष्ण मलयाचल पर्वत को चल दिये। २९।

लोध्रेण सौरभसनद्रितदिङ्मुखेन रेणोत्करेण पिहितानि वनानि रेजुः॥
लोकातिदुःसहसहस्यभयादिवात्तपत्रांगचारुतरभूरिनिशारकाणि॥ ३०॥

लोध्रेणेत्यादि। सौरभसनद्रितदिङ्मुखेन सौरभेण सनद्रितं सौरभसनद्रितं दिशां मुखं दिङ्मुखं सौरभसनद्रितं दिङ्मुखं यस्य सः सौरभसनद्रितदिङ्मुखस्तेन परिमलव्याप्तदिग्विवरेण। लोध्रेण लोध्रस्यायं लोध्रस्तेन लोध्रसंबन्धिना। "गालवः शाबरो लोध्रस्तिरीटस्तिल्वमार्जनौ" इत्यमरः। रेणोत्करेण रेणूनामुत्करो रेणूत्करस्तेन। पिहितानि अपिधीयंतेस्म पिहितानि आच्छादितानि। वनानि अरण्यानि। लोकातिदुःसहसहस्यभयात् अतिदुःखेन महता कष्टेन सह्यत इति दुःसहस्तथोक्तः लोकैरतिदुःसहस्तथोक्तः स चासौ सहश्च लोकातिदुःसहसहस्तस्य भयं तस्मात् "पौषे तैषसहस्यौ द्वौ" इत्यमरः। जनातिदुःसहसहिष्णुहिम-

कालस्य भीतेः । आत्तपत्रांगचारुतरभूरिनिशारकाणीव आदीयन्तेस्म आत्ताः निशार एव निशारकाः भूयश्च ते निशारकाश्च भूरिनिशारकाः प्रकृष्टाश्चारवश्चारुतराः पत्रांगेण चारुतराः पत्रांगचारुतराः आत्ताः पत्रांगचारुतराः भूरिनिशारका यैस्तानि तथोक्तानीव "निशारः स्यात्प्रावरणे हिमानिलनिवारणे" इत्यमरः । स्वीकृतरागविशेषा मनोहरबहुलाच्छादनवस्त्रवत्य इव । रेजुः बभुः । राजृ दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ३० ॥

भा० अ०—सुगन्ध से सभी दिशाओं को व्याप्त किए हुए ऐसे लोध्र के पराग-पुंज से आच्छादित वन लोगों के लिए अत्यन्त दुस्सह हेमन्त ऋतु के भय से मानों विविध रंग के वेष्टनों से आवेष्ठित से सोभने लगे । ३० ।

संतापिता रतिपतेस्त्रिजगज्जयार्थं नाराचिका सुनिशिता इव निर्विचारम् ॥
कातर्यमंबुजदृशो दिदिशुर्जनानां काश्मीररेणुकलितांगलता हिमर्तौ ॥ ३१ ॥

संतापिता इत्यादि । हिमर्तौ हिमश्चासौ ऋतुश्च हिमर्तुस्तस्मिन् हेमंतकाले । काश्मीररेणुकलितांगलताः काश्मीरस्य रेणुः तेन कलिता अंगमेव लता तथोक्ता काश्मीररेणुकलिता अंगलता यासां तास्तथोक्ता कुंकुमपरागोद्धूलितदेहयष्टयः । अंबुजदृशः अंबुजमिव दृशौ यासां तास्तथोक्ताः सरोजाक्ष्यः । रतिपतेः रत्याः पतिः रतिपतिः तस्य कामस्य । त्रिजगज्जयार्थं त्रीणि च तानि जगंति च त्रिजगंति तेषां जयस्तथोक्तस्त्रिजगज्जयाय त्रिजगज्जयार्थं लोकत्रयजयनिमित्तं । संतापिताः संताप्यंतेस्म संतापिताः । सुनिशिताः अधिकतीक्ष्णाः । नाराचिका इव अयोनाराचा इव । जनानां लोकानां । निर्विचारं विचाररहितं । कातर्यं कातरस्य भावः कातर्यं अधीरत्वं । दिदिशुः दधतिस्म । दिश अतिसर्जने लिट् ॥ ३१ ॥

भा० अ०—हेमन्त ऋतु में केशर की धूलो से परिलिप्त अंगलतिका वाली और कमल कीसी आंख वाली युवतियां त्रिभुवन को जीतने के लिये कामदेव के अत्यन्त तीक्ष्ण तथा सन्तप्त लोहे के अस्त्र के समान विचार रहित होकर लोगों को अधीर करने लगी । ३१ ।

कांतावियोगदहनेन नितांतदग्धाः पांथास्तुषारपतनेन विशीर्यदंगाः ॥
ऊष्मायमाणवदनाः श्वसितैरशंकं चूर्णोपलास्समभवन्सलिलोपसिक्ताः ॥ ३२ ॥

कांतेत्यादि । कांतावियोगदहनेन कांतायाः वियोगः कांतावियोगः स एव दहनः कांतावियोगदहनस्तेन वनितावियोगाग्निना । रूपकः । नितांतदग्धाः दह्यंतेस्म दग्धाः नितांतं दग्धास्तथोक्ताः अत्यंतं दग्धाः । तुषारपतनेन तुषारस्य पतनं तेन हिमस्य पतनेन । विशीर्यदंगाः विशीर्यतीति विशीर्यत् विशीर्यदंगं येषां ते तथोक्ताः बाध्यमानावयवाः । श्वसितैः उच्छ्वासैः । ऊष्मायमाणवदनाः ऊष्माणमुद्वमतीत्यूष्मायते ऊष्मायते इति ऊष्मायमाणं

वदनं येषां ते तथोक्ताः ऊष्णोद्वमदाननाः "बाष्पोष्मफेनादुद्वमि" इति त्यङ् प्रत्ययः । पांथाः पंथानं नित्यं यांताः पांथाः "नित्यं णः पंथश्च" इति ण प्रत्ययः पंथादेशश्च पथिकजनाः । सलिलोपसिक्ताः सलिलेनोपसिक्ताः तथोक्ताः जलेनोपसिक्ताः । चूर्णोपलाः चूर्णस्योपलाः चूर्णोपलाः सुधाश्मानः । "चूर्णं क्षोदे क्षारभेदे चूर्णा निवासयुक्तिषु" इति विश्वः । अशंकं न विद्यते शंका यस्मिन्कर्मणि तत् निस्संदेहं यथा तथा । समभवन् समभूवन् । भू सत्तायां लङ् । मन्मथाकुलिताः बभूवुरितिभावः ॥ ३२ ॥

भा० अ०—पथिकगण अपनी कान्ता के विरह से अत्यन्त दग्ध होते हुए ठंढक पड़ने से जड़ीभूत (विशीर्ण) अंगवाले हो तत्पश्चात् आह भरने से सबाष्प मुख होते हुए जल से सींचे गये चूने के पत्थर के समान होगये । ३२ ।

सत्यं तुषारपटलैः शमिनो न रुद्धाः सिद्धेः पुनः परिचयाय हिमर्तुलक्ष्म्या ॥
छन्ना दुकूलवसनैर्नु पटीरपंकैर्लिप्ता नु मौक्तिकगुणैर्यदि भूषिता नु ॥ ३३ ॥

सत्यमित्यादि । शमिनः शममस्त्येषामिति शमिनः यतयः कायोत्सर्गस्थिता इति शेषः । तुषारपटलैः तुषाराणां पटलानि तुषारपटलानि तैः हिमसमुदायैः "समूहे पटलं न ना" इत्यमरः । रुद्धाः रुध्यंतेस्म रुद्धाः आवृताः । न भवंति । सत्यं तथ्यमेव । पुनः पश्चात्किमिति चेत । सिद्धेः मोक्षलक्ष्म्याः । परिचयाय संगनिमित्तं । हिमर्तुलक्ष्म्या हिमश्चासौ ऋतुश्च हिमर्तुः स एव लक्ष्मीस्तथोक्ता तया हेमर्तुश्रिया । दुकूलवसनैः दुकूलानि च तानि वसनानि च तैः क्षामवस्त्रैः । छन्नाः छाद्यंतेस्म छन्नाः संवृताः । नु किमु । पटीरपंकैः पटीरस्य पंकाः पटीरपंकाः तैः श्रीगंधकर्दमैः । लिप्ताः लिप्यंते स्म लिप्ताः उपदिग्धाः । नु किमु । यदि चेत् । मौक्तिकगुणैः मौक्तिकानां गुणा मौक्तिकगुणास्तैः मुक्तामालाभिः । "मौर्व्यांप्रधानपारर्देद्रियसूत्रसत्त्वादिसंज्ञादिहरितादिषु" इति नानार्थरत्नकोशे । भूषिताः भूष्यंतेस्म भूषिताः अलंकृताः । नु किमिति संशयः "नु पृच्छायां वितर्के च" इत्यमरः ॥३३॥

भा० अ०—खड्गासन-पूर्वक स्थित यतिगण हिमसमूह से आच्छन्न हैं ? या मोक्षलक्ष्मी का साथ करने के लिये हेमन्त-श्री के द्वारा महीन कपड़े से ढके गये तो नहीं है या श्रीचन्दन से उपलिप्त तो नहीं है अथवा मुक्ता-माला से तो भूषित नहीं हैं ? अर्थात् कायोत्सर्ग से खड़े हुए मुनिगणों की देह पर शीतकाल में तुषारपात होने से कवि उत्प्रेक्षा करते हैं कि चन्दन-लिप्त, मणिहार-भूषित अथवा समुज्ज्वल दुकूलाच्छन्न तो ये मुनिगण नहीं हैं । ३३ ।

इत्थं सुदुस्सहतुषारतुषारवपातैर्निर्दग्धनीरजकुले समयेऽपि तस्मिन् ॥
म्लानानि नैव कमलानि महानुभावो यस्याः स्थितः स भगवान् सरितःप्रतीरे ॥३४॥

इत्थमित्यादि । इत्थं अनेन प्रकारेण "कथमित्थमुः" इति साधुः । सुदुस्सहतुषारतुषारवपातैः सुष्ठु दुःखेन महता कष्टेन सुसह्यत इति सुदुस्सहः स चासौ तुषारश्च तथोक्तः सुदुःसहतुषारस्य तुषारास्तथोक्तास्तेषामवपातास्तैः सोढुमशक्यहिमदेशपतनैः । निर्दग्धनीरजकुले निर्दह्यतेस्म निर्दग्धं नीरे जायंत इति नीरजानि तेषां कुलं निर्दग्धनीरजकुलं यस्मिन्तस्मिन् निःशेषभस्मीकृतकमलयूथयुक्ते । तस्मिन् समये हिमकाले । यस्याः कस्याश्चित् । सरितः सरोवरस्य । प्रतीरे तटे "कूलं रोधश्च तीरं च प्रतीरं च तटं त्रिषु" इत्यमरः । महानुभावः महाननुभावो यस्य सः तथोक्तः उत्कृष्टसामर्थ्यसहितः । सः भगवान् ज्ञानवैराग्यसंपन्नः । स्थितः तिष्ठतिस्म स्थितः । तत्र कमलानि सरोजानि । म्लानानि "क्तयोः" इत्यादिना क्तस्य नः हर्षरहितानि । नैव नैवाभवन् ॥ ३४ ॥

भा० अ०—यों असह्य तथा जोरों की ठंढक पड़ने से सभी कमलों को जलाने वाले भी इस शीतकाल में महा प्रतापशाली यह श्रीमुनिसुव्रत नाथ स्वामी जिस नदी के तीर पर पधार ते थे वहां के कमल कभी म्लान नहीं होते थे । ३४ ।

कायक्लेशाभिधाने तपसि जिनपतिर्निष्ठितो वर्षमेकम् ।
बाह्यान्तर्विग्रहद्वादशविधतपसां मध्यमेऽप्यग्र इत्थम् ॥
दीक्षाकल्याणमादौ समभवदभवद्यत्र तत्रैव भूयो ।
नीलारण्ये शरण्ये भवचकितधियामात्तपुण्ये वरेण्ये ॥३५॥

कायेत्यादि । जिनपतिः मुनिसुव्रतार्हदीश्वरः । बाह्यांतर्विग्रहद्वादशविधतपसां बाह्यं च अंतरं च बाह्यांतरे ते एव विग्रहो येषां द्वाभ्यामधिका दश द्वादशविधा येषां तानि द्वादशविधानि तानि च तानि तपांसि च तथोक्तानि बाह्यंतर्विग्रहाणि च तानि द्वादशविधतपांसि च बाह्यांतर्विग्रहद्वादशविधतपांसि तेषां बहिरंगांतरंगद्वादशभेदतपसां । मध्यमेऽपि मध्ये भवं मध्यमं तस्मिन् "मध्यान्मः" इति म प्रत्ययः मध्येगतेऽपि । अग्रे उत्तमे उपरि गते च । "अग्रमालंबने व्राते परिमाणे पलस्य च । प्रांते पुरस्तादधिको प्रधाने प्रथमोद्ध्वयोः इति" विश्वः कायक्लेशाभिधाने कायस्य क्लेशस्तथोक्तः कायक्लेश इत्यभिधानं यस्य तत्तस्मिन् कायक्लेशनामधेये । तपसि तपश्चरणे । इत्थं अनेन प्रकारेण इत्थं । एकं वर्षं एकवर्षपर्यंतं "कालाध्वनोर्व्याप्तौ" इति द्वितीया । निष्ठितः निस्तिष्ठतिस्म निष्ठितः निष्पन्नः । यत्र यस्मिन्वने । आदौ पूर्वस्मिन् ।

दीक्षाकल्याणं दीक्षायाः कल्याणं तथोक्तं परिनिष्क्रमणकल्याणं । समभवत् समजायत । तत्रैव तस्मिन्नेव । भवचकितधियां भवे भवाद्वा चकिताधीर्येषां तेषां संसारभीतबुद्धिनां । शरण्ये रक्षणभूते । "शरणंगृहरक्षित्रोः" इत्यमरः । आत्तपुण्ये आदीयतेस्म आत्तं पुण्यं यस्मिन् भव्योपार्जितसुकृते । वरेण्ये उभयकल्याणनिलयत्वादुत्कृष्टे । "मुख्यवर्यवरेण्याश्च" इत्यमरः । नीलारण्ये नीलं च तत् अरण्यं च नीलारण्यं तस्मिन् नीलवने । भूयः पूर्ववत्पुनश्च । इत्थं वक्ष्यमाणरीत्या । अभवत् भूसत्तायां लङ् ॥ ३५ ॥

भा० अ०—मुनिसुव्रतनाथ स्वामी वाह्य तथा आभ्यन्तर बारह प्रकार की तपस्या के मध्य होते हुए भी सर्वोत्तम कायक्लेश नामक तपश्चरण में यों एक वर्ष तक सन्नद्ध थे तदनन्तर पहले जहां इनका दीक्षाकल्याणक हुआ संसार से त्रस्त जीवों के शरणद तथा सुकृतिलभ्य श्रेष्ठ उसी नीलवन में वह रहे। ३५।

इत्यर्हद्दासकृतेः काव्यरत्नस्य टीकायां सुखबोधिन्यां भगवत्तपोवर्णनो नाम नवमःसर्गः

अथ दशमः सर्गः ।

श्रीमंतमेनमखिलार्चितमात्मधाम प्राप्तं स्वयं सपदि तद्वनभूजषण्डम् ॥

शाखाकरेषु धृतपुष्पफलप्रतानमासीदिवार्चयितुमुद्यतमादरेण ॥१॥

श्रीमंतमित्यादि । आत्मधाम आत्मनो धाम आत्मधाम पुनस्तत् परमात्मभावं "गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि" इत्यमरः । स्वयं आत्मनैव । प्राप्तं प्राप्नोतिस्म प्राप्तं कर्तरि क्तः । श्रीमंतं श्रीरस्यास्तीति श्रीमान् तं उभयलक्ष्मीनायकं । अखिलार्चितं आखिलैरर्चितस्तं समस्तनृसुरार्चितं । एनं मुनीशं मुनिसुव्रततीर्थाधिनाथं । तद्वनभूजषंडं तच्च तत् वनं च तद्वनं भुवि जायंत इति भूजाः तद्वनस्य भूजाः तद्वनभूजाः तेषां षंडं पुनस्तत् नीलवनवृक्षकदंबं । आदरेण भक्त्या । अर्चयितुं अर्चनाय अर्चयितुं पूजयितुं । उद्यतमिव उद्युक्तमिव । सपदि शीघ्रेण । शाखाकरेषु शाखा एव कराः तेषु शाखाहस्तेषु । रूपकः । धृतपुष्पफलप्रतानं पुष्पाणि च फलानि च पुष्पफलानि तेषां प्रतानं तथोक्तं धृतं पुष्पफलप्रतानं येन तत्तथोक्तं आत्तकुसुमफलनिचयं । आसीत् अभवत् अस भुवि लङ् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ १ ॥

भा० अ०—सबों से पूजित तथा परमात्म-भाव को प्राप्त श्रीमुनिसुव्रत नाथ को मानो आदर के साथ अर्चना करने के लिये ही उस नील वनके सभी वृक्ष-समूह शाखारूपी हाथों में पुष्प और फल लिये हुए स्वयम् उद्यत थे । १ ।

तस्यैव कीलकलनाः किमु पल्लवानि तस्य स्फुलिंगनिकरो ननु कुड्मलानि ॥

तस्यैव धूमविततिर्न पुनर्द्विरेफा गत्वा वने यमनलं मदनो निमग्नः ॥ २ ॥

तस्येत्यादि । वने नीलवने । मदनः रतिपतिः । यं अनलं यद्ध्यानाग्निं । गत्वा मोहादुपेत्य । निमग्नः निपतितः । तस्य ध्यानाग्नेः । कीलकलना एव कीलानां कलनाः कल इति धातुः कवीनां कामधेनुः ज्वालाकलापा एव । पल्लवानि किसलयानि । किमु किं वा । तस्य यद्ध्यानानलस्य । स्फुलिंगनिकरः स्फुलिंगानां निकरस्तथोक्तः अग्निकणगणः । कुड्मलानि मुकुलानि । ननु किंवा । पुनः तस्य ध्यानाग्नेः । धूमविततिरेव धूमानां विततिर्धूमविततिस्तथोक्ता धूमराजिरेव । द्विरेफाः भ्रमराः । न भवंति । अपह्नुत्यलंकारः ॥ २ ॥

भा० अ०—उस नीलारण्य में जिस मुनिसुव्रत नाथ की ध्यानाग्नि में गिर कर मदन-स्वयं भस्मी भूत हो गये उसी की अग्नि-ज्वाला तो ये पत्तियाँ नहीं हैं ? उसकी चिनगारी-शायद ये कलियाँ हों और उसके धूम्रसमूह ही संभवतः ये भ्रमर हैं । २ ।

अस्मिन्नमूनि न पलाशदलान्यघारेरुद्वेलशांतरससागरविद्रुमा नु ॥
वान्ता मृगैश्चिरविरोधलवा मिथो नु वन्यैस्ततार्चनमणिप्रकरा नु रेजुः ॥३॥

अस्मिन्नित्यादि । अस्मिन् एतस्मिन्वने । अमूनि इमानि । पलाशदलानि पलाशानां दलानि तथोक्तानि किंशुकपुष्पदलानि । न न भवंति । अघारेः अघानां अरिस्तथोक्तस्तस्य पापारिजिनेशस्य । उद्वेलशांतरससागरविद्रुमाः शांतस्य रसस्तथोक्तः शांतरस एव सागरः शांतरससागरः वेलामुद्गत उद्वेलस्स चासौ शांतरससागरश्च उद्वेलशांतरससागरः तस्य विद्रुमाः तथोक्ताः । नु "नु प्रश्ने च वितर्के च" इत्यमरः । मृगैः । वांताः वाम्यंतेस्म वांताः मुनींद्रसन्निधिवशात् उद्गीर्णाः । मिथः अन्योन्यं । चिरविरोधलवाः विरोधानां लवाः तथोक्ताः चिरं स्थिताः विरोधलवास्तथोक्ताः बहुलस्थितविरोधकणाः । नु किमु । वन्यैः वने भवाः वन्यास्तैः वनवासिभिः । ततार्चनमणिप्रकराः तन्यंतेस्म तताः अर्चनाय योग्या मणयस्तथोक्तास्तेषां प्रकराः अर्चनमणिप्रकराः तताश्च ते अर्चनमणिप्रकराश्च तथोक्ताः विस्तृतपूजायोग्यरत्नविशराः । किमु नु रेजुः बभुः । राजृ दीप्तौ लिट् । संशयालंकारः ॥ ३ ॥

भा० अ०—इस नील वन में ये पलाश पुष्प नहीं हैं बलिक अघ-विनाशक श्रीजिनेन्द्र-भगवान के उद्वेलित शान्तरसमहोदधि के मूंगे हैं ? अथवा हरिणों से उद्गीर्ण किये हुए चिरसञ्चित पारस्परिक विरोधांश तो नहीं हैं ? या वनवासियों से बिखराये गये अर्चनार्थ मणिसमूह तो नहीं सोभ रहे हैं । ३ ।

अध्यास्य चंपकतरोस्तलमात्तषष्ठो धर्म्याणि बिभ्रदवलंबितशुभ्रलेश्यः ॥
शुद्धात्मतत्त्वमिव जातविवर्तमीशो ध्यानं दधे दुरितदूननचुंचु शुक्लं ॥४॥

अध्यास्येत्यादि । चंपकतरोः चंपकश्चासौ तरुश्च चंपकतरुः तस्य हेमपुष्पकवृक्षस्य । तलं मूलं "शाङ्स्थासोऽधेराधारे" इति द्वितीया । अध्यास्य अध्यासनं पूर्वं पश्चात्० स्थित्वा आत्तषष्ठः आदीयतेस्म आत्तः आत्तः षष्ठो येनासौ तथोक्तः स्वीकृतषष्ठोपवासः । धर्म्याणि धर्मादनपेतानि तथोक्तानि आज्ञाविचयादिधर्मध्यानानि । बिभ्रत् बिभर्तीति बिभ्रत् स्वीकुर्वन् । अवलंबितशुभ्रलेश्यः अवलंब्यतेस्म अवलंबिता शुभ्रा चासौ लेश्या च शुभ्रलेश्या अवलंबिता शुभ्रलेश्या येन सः स्वीकृतशुक्ललेश्यः । ईशः त्रिलोकस्वामी । शुद्धात्मतत्त्वमिव तस्य भावः तत्त्वं आत्मनस्तत्त्वं वात्मैव तत्त्वमात्मतत्त्वं शुद्धश्च तदात्मतत्त्वं च शुद्धात्मतत्त्वं पुनस्तत्तदिव निर्मलात्मस्वरूपवत् । जातविवर्तं जातं विवर्तं यस्मिन् तत् उत्पन्नपर्यायं । दुरितदूननचुंचु दुरितस्य दूननं तथोक्तं दुरितदूननेन वित्तं दुरितदूननचुंचु "तेन वित्तश्चं

चुचणौ" इति चुंचु प्रत्ययः पापनाशप्रतीतं । शुक्लध्यानं शुक्लनामैकाग्रचिंतां । दधे धरतिस्म । डुधाञ् धारणे लिट् ॥४॥

भा० अ०—चम्पक वृक्ष के तल में स्थित हो धर्म-ध्यान करते हुए छठवें उपवास का नियम लिये हुए शुक्ल लेश्या वाले मुनिसुव्रत नाथ ने शुद्धात्मस्वरूप के ऐसा उत्पन्नपर्याय वाला पापनाशक शुक्लध्यान लगाया । ४ ।

स्त्यानत्रयं जिनपतिः क्रमशो रजांसि नाम्नि त्रयोदश पुरा हतसप्तमोहः ॥
मोहैकविंशतिमपि क्षपयन्ददाह क्षीणोऽथ षोडश चिदीक्षणरोधविघ्नान ॥५॥

स्त्यानत्रयमित्यादि । पुरा तृतीयभवे । हतसप्तमोहः सप्त च ते मोहाश्च सप्तमोहाः हतास्सप्तमोहा येन सः तथोक्तः विनष्टसप्तप्रकृतिः । जिनपतिः जिनानां पतिस्तथोक्तः जिनेश्वरः । क्रमशः क्रमात् क्रमशः "बह्वल्पार्थात्कारकाच्छसौनिष्टानिष्टे" इति शस् प्रत्ययः । क्षपकश्रेणिक्रमात् । अथ आत्तशुक्लध्यानधारणानंतरं । स्त्यानत्रयं स्त्यानानां त्रयं निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धित्रयं । नाम्नि नामकर्मणि । त्रयोदश त्रिभिरधिका दश तथोक्ता । "द्व्यष्टात्रयोऽनशितौ प्राक्छतादबहुव्रीहौ" इत्यनेन त्रयादेशः । रजांसि कर्माणि । मोहैकविंशतिमपि एकेनाधिका विंशतिस्तथोक्ता मोहानामेकविंशतिर्मोहैकविंशतिस्तां अष्टाविंशतिमोहनीयेषु सप्तप्रकृतीनां तृतीयभवे विनष्टत्वात् शेषाणीत्यर्थः । क्षपयन् क्षपयतीति क्षपयन् अनिवृत्तिकरणसूक्ष्मसांपरायगुणस्थानद्वये नाशयन्नित्यर्थः । क्षीणे क्षीणकषायगुणस्थाने । चिदीक्षणरोधविघ्नान् चिच्च ईक्षणं च चिदीक्षणे तयोः रोधाः चिदीक्षणरोधाः ते च विघ्नाश्च चिदीक्षणरोधविघ्नास्तान् ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयांतरायान् । षोडश षड्भिरधिका दश तथोक्तास्तान् "एकादश षोडशषोडन्षोढा षड्ढा" इत्यनेन साधुः । ज्ञानावरणीयपंचकं दर्शनावरणीयप्रकृतिषु स्त्यानगृद्धित्रयस्य प्रागस्तत्वात्तेषु षट्कं अंतरायपंचकं चेति षोडशप्रकृतयः । ददाह दहतिस्म दह भस्मीकरणे लिट् ॥५॥

भा० अ०—पहले ही तृतीय भव में अनन्तानुबन्धी क्रोधमान-माया लोभादि सप्त मोह को विनष्ट किये हुए जिनेन्द्र भगवान् ने क्रमशः निद्रानिद्रा आदि स्त्यान-त्रय को, तेरह नामकर्मों तथा शेष इक्कीस मोहनीय कर्म प्रकृतियों को नष्ट करते हुए क्षीण कषाय गुणस्थान में ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय आदि सोलह अन्तराय कर्म-प्रकृतियों को भस्मी भूत किया । ५ ।

घातीन्यपि प्रबलशक्त्यतिगर्वितानि देवस्य योगकरवालदितान्यभूवन् ॥
वर्त्मात्मनः किमिति चिंतनयेव दग्धरज्जूपमं सममघातिबलं बभूव ॥६॥

घातीत्यादि । प्रबलशक्त्यतिगर्वितानि प्रबला चासौ शक्तिश्च प्रबलशक्तिः अत्यन्तगर्वितान्यतिगर्वितानि प्रबलशक्त्यतिगर्वितानि तथोक्तानि प्रबलसामर्थ्येनाहंकारितानि । घातीन्यपि घातयंत्येवं शीलानि घातीनि आत्मस्वरूपतिरोधकानि कर्माण्यपि अपिशब्देन अघातिषु त्रिषष्टिपरिमितदुरितान्यपीत्यर्थः । देवस्य जिनेश्वरस्य । योगकरवालदितानि योग एव करवालो योगकरवालः तेन दितानि खंडितानि तथोक्तानि शुक्लध्यानखड्गेन छिन्नानि । अभूवन् आसन् । भू सत्तायां लुङ् । आत्मनः स्वस्य । वर्त्म मार्गः । किं इति को वेति । चिंतनयेव चिंतनेन एव । अघातिबलं अघातिनां बलं तथोक्तं अघातिकर्मसेनासमं सहघातिक्षयसमं एव इत्यर्थः । दग्धरज्जूपमं दह्यतेस्म दग्धा सा चासौ रज्जुश्च दग्धरज्जुस्तस्यास्समं निःशक्तिकमिति यावत् । बभूव भवतिस्म भू सत्तायां । लिट् ॥६॥

भा० अ०—जिनेन्द्र मुनिसुव्रत भगवान् के शुक्लध्यान रूपी खड्ग से अत्यन्त शक्तिमत्तासे सगर्व घातिया कर्म भी छिन्न भिन्न हो गये । तदनन्तर अपना कौन सा मार्ग रहा इस चिन्तन से ही जली हुई रस्सी के समान अघातिया कर्म भी शक्ति-हीन हो गया । ६ ।

इत्यस्तपापरिपुराप सहैव लब्धि वैशाखकृष्णादशमीश्रवणेऽपराह्ने ॥
सत्क्षायिकीर्णवदशातिशयास्पदं च प्राप्तोदयं नभसि पंचसहस्रदंडैः ॥७॥

इत्यस्तेत्यादि । इति उक्तप्रकारेण । अस्तपापरिपुः पापमेव रिपुः पापरिपुः अस्तः पापरिपुः येन सः तथोक्तः नष्टकर्मशत्रुः । सः तीर्थकरपरमदेवः । वैशाखकृष्णदशमीश्रवणे वैशाख्यां पौर्णमास्यां युक्तो मासः वैशाखः "सास्यपौर्णमासी" इत्यण् वैशाखस्य कृष्णस्तथोक्तः वैशाखकृष्णस्य दशमी तथोक्ता वैशाखकृष्णदशम्यां श्रवणस्तथोक्तस्तस्मिन् वैशाखमासस्य कृष्णपक्षस्य दशमीतिथौ श्रवणे । अपराह्णे अह्नोऽपरः अपराह्णस्तस्मिन् "संख्याव्ययसर्वांशात्" इत्यट् अह्नादेशश्च सायांह्ने । क्षायिककर्मक्षयेन जाता नवलब्धिः सम्यक्त्वचारित्रज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणीति नवकेवललब्धिः दशातिशयान् दश च ते अतिशयाश्च दशातिशयास्तान् घातिक्षयजगव्यूतिशतचतुष्टयसुभिक्षादिदशातिशयान् । नभसि आकाशे । पंचसहस्रदंडैः पंच च तानि सहस्राणि च पंचसहस्राणि पंचसहस्रैः प्रमिताः दंडाः तथोक्ताः तैः अथवा पंचवारान् सहस्राणि पंचसहस्राः "सुज्वार्थे" इत्यादिना समासः पंचसहस्राश्च ते दंडाश्च तथोक्तास्तैः पंचसहस्रचापैः । प्राप्तोदयं

प्राप्यते स्म प्राप्तः प्राप्तं उदयं यस्य तत् प्राप्तोदयं पुरस्तत् लब्धोन्नतिकं। पदं स्थानं। सहैव युगपदेव। आप प्राप्नोतिस्म। आप्लृ व्याप्तौ लिट्॥ ७॥

भा० अ०—यों कर्म-रूपी शत्रु को नष्ट किये हुए उन तीर्थङ्कर देव ने वैशाख कृष्ण दशमी को श्रवण नक्षत्र के अपराह्न में कर्म क्षयसे उत्पन्न हुए सम्यक् चारित्र, ज्ञान, दर्शन; दान लाभादि नव केवल लब्धियों को घाति-क्षयज चार सौ कोश तक सुभिक्षादि दस अतिशयों तथा आकाश में पंचसहस्र चाप-प्रमित उन्नत स्थान को साथ ही साथ प्राप्त किया॥ ७॥

अत्रांतरे सकललोकपतेरमुष्य शक्राज्ञया रचितवान्धनदः सभां ताम्॥
यस्याः प्रमाणमुदितं मुनिभिः पुराणैरध्यर्धयोजनयुगं बहुरत्नमय्याः॥८॥

अत्रेत्यादि। यस्याः सभायाः। बहुरत्नमय्याः बहूनि च तानि रत्नानि च बहुरत्नानि तेषां विकारो बहुरत्नमयो तस्याः नानारत्ननिर्मितायाः। प्रमाणं मानं। पुराणैः पूर्वकाल-भवैः। "पुराणम्"इति साधुः। मुनिभिः गणधरादिभिः। अध्यर्धयोजनयुगं योजनयोर्युगं योज-नयुगं अधिकमर्धं यस्य तत् अध्यर्धं तच्च तत् योजनयुगं च तथोक्तं साधिकार्धयोजनद्वयं। उदितं उक्तं। तां सभां समवसरणभूमिं। सकललोकपतेः सकलाश्च ते लोकाश्च तथो-क्ताः तेषां पतिस्तस्य समस्तजगत्स्वामिनः। अमुष्य एतस्य जिनपतेः। शक्राज्ञया शक्रस्याज्ञा तथोक्ता तया देवेंद्राज्ञया। धनदः धनं ददातीति धनदः कुबेरः। अत्र अस्मिन्। अंतरे आकाशे। रचितवान् निर्मितवान्॥ ८॥

भा० अ०—प्राचीन गणधरादि आचार्यों ने इस जगत्स्वामी जिनेन्द्र भगवान की जिस बहुरत्न-जटित समवशरण की उच्चता ढाई योजन की बतलाई है उसी की रचना इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने आकाश में की॥ ८॥

रेजेतरां दिवि जराजहपत्प्रतिष्ठां संसन्महीं विनयसंकुचिताखिलांगा॥
व्योमस्थलीव भुवि यः समवाप्य सेव्यः सोऽयं स्वयं गुणनिधिःसमगच्छतेति॥९॥

रेजेतरामित्यादि। यः देवः। भुवि भूमौ। समवाप्य समवापनं पूर्वं प० समेत्य। सेव्यः सेवितुं योग्यः सेव्यः आराध्यः। सोऽयं सः एषः। गुणनिधिः गुणानां निधिस्तथोक्तः अनंत-ज्ञानादिनिलयः। स्वयं आत्मैव। समगच्छतेति समेयादिति। "समोऽतिस्वरतिश्रुदृशिचद्र-प्रच्छृच्छः"इति तङ् गम्लृ गतौ लङ्। विनयसंकुचिताखिलांगा विनयेन संकुचितानि विनय-संकुचितानि अखिलानि च तान्यंगानि च अखिलांगानि विनयसंकुचितानि अखिलां-गानि यस्यास्सा तथोक्ता भक्त्या संहृतसकलावयवा। व्योमस्थलीव व्योम्नः स्थली व्योम-

स्थली आकाशप्रदेशः सेव । दिविजराजदृषत्प्रतिष्ठा दिविजानां राजा दिविजराजस्तस्य दृषत् तस्याः प्रतिष्ठा यस्यास्सा तथोक्ता इंद्रनीलाधिष्ठानयुक्ता । संसन्मही संसदो मही तथोक्ता समवसरणभूमिः । रेजेतरां अधिकं बभौ । राजृ दीप्तौ लिट् ॥ ९ ॥

भा० अ०—जो जिनेन्द्र भगवान् भूतल पर अवतीर्ण होकर अत्यन्त आराधनीय होते हैं वे ही गुणनिधि जिनेन्द्र स्वयं आ मिले मानो इसी कारण से व्योमस्थली के समान तथा भक्ति से संकुचित अन्तरंगवाली इन्द्रनील जड़ित समवसरण भूमि अत्यन्त सुशोभित हुई । ९ ।

प्रासादचैत्यपरिखालतिकाद्रुमक्ष्मा जाता ध्वजद्युकुजहर्म्यगणाक्ष्माश्च ॥
पीठानि चेति हरसंख्यभुवस्तदंतरेकांतकेलिसदनं जिनबोधलक्ष्म्याः ॥ १० ॥

प्रासादेत्यादि । प्रासादचैत्यपरिखालतिकाद्रुमक्ष्माः प्रासादैर्युक्तं चैत्यं तथोक्तं प्रासादचैत्यं च परिखा च लतिका च द्रुमश्च प्रासादचैत्यपरिखालतिकाद्रुमास्तेषां क्ष्माः तथोक्ताः चैत्यप्रासादभूमिः खातिकाभूमिः वल्लिकाभूमिः वनभूमिश्च । ध्वजद्यु कुजहर्म्यगणक्ष्माश्च ध्वजश्च दिवः कुजो द्यु कुजो द्यु कुजश्च हर्म्यं च गणश्च ध्वजद्यु कुजहर्म्यगणास्तेषां क्ष्माः तथोक्ताः ध्वजभूमिः कल्पवृक्षभूमिः हर्म्यभूमिः गणभूमिश्च । पीठानि चेति त्रिपीठानि चेति । हरसंख्यभुवः हराणां रुद्राणां संख्या यासां तास्तथोक्ताः हरसंख्याश्च ताः भुवश्च तथोक्ताः एकादश भूमयः । जाताः जायंतेस्म जाताः । तदंतः तासामंतस्तदंतः भूमीनां मध्ये । जिनबोधलक्ष्म्याः बोध एव लक्ष्मीस्तथोक्ता जिनस्य बोधलक्ष्मीः तस्याः जिनेश्वरकैवल्यज्ञानश्रियः । एकांतकेलिसदनं केल्याः सदनं केलिसदनं एकांतं च तत्केलिसदनं च तथोक्तं गंधकुटीत्यर्थः ॥ १० ॥

भा० अ०—प्रासाद चैत्य, खातिका, वल्लिका, वन, ध्वज, कल्पवृक्ष हर्म्य और गण भूमि तथा त्रिपीठ आदि ग्यारह भूमियां थीं । इन्हीं के बीच में जिनेन्द्र भगवान् की मुक्ति-लक्ष्मी की एक मात्र क्रीड़ा-स्थली अर्थात् गन्धकुटी थी ॥ १० ॥

प्रासादचैत्यनिकरः परिखा व्रतत्यो वृक्षा ध्वजाः सुरकुजाः क्रमशोऽष्टभूषु ॥
आसन् गृहाणि च गणास्त्रिषु विष्टरेषु श्रीधर्मचक्रविविधध्वजमंगलानि ॥ ११ ॥

प्रासादेत्यादि । अष्टभूषु अष्ट च ता भुवश्च अष्टभुवस्तासु अष्टपृथिवीषु । क्रमशः क्रमात् क्रमशः परिपाट्या । प्रासादचैत्यनिकरः प्रासादश्च चैत्यानि च प्रासादचैत्यानि तेषां निकरस्तथोक्तः प्रथमभूमौ प्रासादचैत्यसमूहः । परिखा द्वितीयभूमौ खातिका । व्रतत्यः तृतीयभूमौ लताः । वृक्षाः तुर्यभूमौ वृक्षाः । ध्वजाः पंचमभूमौ पताकाः सुरकुजाः कौ भूमौ जायंत इति कुजाः सुराणां कुजास्तथोक्ताः षष्ठभूमौ कल्पवृक्षाः । गृहाणि सप्तमभूमौ

हर्म्याणि। गणाः अष्टमभूमौ द्वादशगणाः। त्रिषु विष्टरेषु त्रिमेखलापीठेषु प्रथमे श्रीधर्मचक्राणि श्रिया उपलक्षितानि धर्मचक्राणि द्वितीये अष्टमहाध्वजाः तृतीये अष्टमंगलानि। आसन् अभवन्। अस भुवि लङ्॥११॥

भा० अ०—आठो भूमियों में क्रमशः प्रथम में प्रासादचैत्यालय-समूह, द्वितीय में परिखा, तृतीय में खातिका वल्ली, चतुर्थ में लतावृक्ष, पञ्चम में वृक्षध्वज, षष्ठ में पताका कल्पवृक्ष, सप्तम में हर्म्य, अष्टम में द्वादश गण और प्रथम पीठ में धर्म चक्र, द्वितीय में अष्ट महाध्वज तथा तृतीय में अष्ट मंगल थे। ११।

सालैश्चतुर्भिरपि पंचभिरप्युदारवेदीभिरुन्नतिरवापि चतुर्गुणैव॥
लोकोन्नतादपि जिनाधिपतेरमुष्माज्जैनप्रदक्षिणकृतेः फलमीदृशं हि॥१२॥

सालैरित्यादि। चतुर्भिरपि। सालैः प्राकारैः। पंचभिरपि। उदारवेदीभिः उदाराश्च ताः वेद्यश्च उदारवेद्यस्ताभिः महावेदिकाभिः। लोकोन्नतादपि लोकादुन्नतो लोकोन्नतो लोकस्योन्नतो वा लोकोन्नतस्तस्मादपि जगदुत्कृष्टाच्च। अमुष्मात् एतन्मुनिसुव्रततीर्थंकरात्। जिनपतेः जिनश्चासौ पतिश्च जिनानां पतिर्वा तस्मात् जिननाथात्। चतुर्गुणैव चत्वारो गुणा यस्यास्सा तथोक्ता चतुर्भिर्गुणैस्सहितैव। उन्नतिः उत्सेधः श्रेष्ठत्वं च अशीतिचापोत्सेधमित्यर्थः। अवापि अवाप्यत आप्ऌ व्याप्तौ कर्मणि लुङ्। तथा हि जैनप्रदक्षिणकृतेः प्रदक्षिणस्य कृतिः प्रदक्षिणकृतिः जिनस्येयं जैनी सा चासौ प्रदक्षिणकृतिश्च जैनप्रदक्षिणकृतिस्तस्याः। फलं निष्पत्तिः। ईदृशं इदमिव दृश्यत इति ईदृशं एतादृशं। हि। अर्थान्तरन्यासः॥१२॥

भा० अ०—चार चहार दिवालियों तथा पांच वेदियों के द्वारा इस समवसरण भूमि ने संसार में सभी से समुन्नत श्रीमुनिसुव्रत स्वामी से भी चौगुनी उन्नति (उंचाई) प्राप्त की थी। ठीक है जिनेन्द्र भगवान् की प्रदक्षिणा का यही फल होता है। १२।

आवेष्ट्य संसदवनीतलवारिवाहं प्रारभ्यमाणसुकृतामृतपूरवर्षम्॥
सालेन सर्वमणिचूर्णमयेन तेने तेनावितानसुरकार्मुकसंपुटश्रीः॥१३॥

आवेष्टयेत्यादि। प्रारभ्यमाणसुकृतामृतपूरवर्षं प्रारभ्यमाणं सुकृतमेवामृतं सुकृतामृतं तस्य पूरस्तथोक्तः सुकृतामृतपूरस्य वर्षं तथोक्तं प्रारभ्यमाणं सुकृतामृतपूरवर्षं येन सः तं उपक्रम्यमाणपुण्यकर्मामृतप्रवाहवर्षसंयुक्तं। संसदवनीतलवारिवाहं अवन्यास्तलमवनीतलं संसदोऽवनीतलं तथोक्तं वारिवहतीति वारिवाहः संसदोऽवनितलमेव वारिवाहस्तथोक्तस्तं समवशरणभूतलमेघं। रूपकः। आवेष्ट्य विवरित्वा। सर्वमणिचूर्णमयेन सर्वे च ते

मणयश्च सर्वमणयस्तेषां चूर्णः सर्वमणिचूर्णः तस्य विकारः सर्वमणिचूर्णमयस्तेन सकल-रत्नधूलीकृतेन तेन । सालेन प्राकारेण । अवितानसुरकार्मुकसंपुटश्रीः न विताने अविताने पृथुले "क्रतुविस्तारयोरस्त्री वितानं त्रिषु तुच्छके" इत्यमरः सुरस्य कार्मुके सुरकार्मुके अविताने च सुरकार्मुके च अवितानसुरकार्मुके तयोस्संपुटनं तथोक्तं तस्य श्रीस्तथोक्ता रुद्रेंद्रचापयुग्मसंपर्कशोभा तेने विस्तार्यतेस्म तनूङ् विस्तारे ॥१३॥

भा० अ०—पुण्यरूपी अमृत-प्रवाह की वृष्टि प्रारंभ किये हुए भूतल पर समवसरण-रूपी मेघ को घेर कर उसी सर्व मणिमय चूर्णवाली चहार दिवाली ने रुद्र तथा इन्द्र के विशाल धनुष की शोभा फैलायी । १३ ।

लोकेषु कूटरहितेषु महामहिम्नो देवस्य तस्य निकटेऽपि कृताधिवासः ॥
प्रासादचैत्यनिलयाः प्रथयांबभूवुः कूटान्दिगंबरपथप्रतिरोधिनो धिक् ॥१४॥

लोकेष्वित्यादि । देवस्य स्वामिनः । महामहिम्ना महाश्चासौ महिमा च महामहिमा तेन महाप्रभावेण । लोकेषु जनेषु । कूटरहितेषु कूटेन रहितास्तथोक्तास्तेषु कपटरहितेषु शृंगहीनेषु । "मायानिश्चलयंत्रेषु कैतवानृतराशिषु । अयोघने शैलशृंगे सीरांगे कूटमस्त्रियाम्" इत्यमरः । तस्य जिनस्य । निकटे समीपे । कृताधिवासा अपि कृतः अधिवासो यैस्ते तथोक्ता विहि-तस्थितयोऽपि । प्रासादचैत्यनिलयाः चैत्यानां निलयास्तथोक्ताः प्रासादाश्च चैत्यनिलयाश्च तथोक्ताः प्रासादचैत्यावासाः । दिगंबरपथप्रतिरोधिनः दिगेवांबरं येषां ते दिगंबरास्तेषां पंथाः दिगंबरपथः अथवा दिशश्च अंबराणि च दिगंबराणि तेषां पंथास्तथोक्ताः तं रुंधन्त्येवं-शीलास्तथोक्तास्तान् मुनिमार्गविरोधिनः दिगाकाशमार्गातिरोधकांश्च । कूटान् शिखराणि कपटान् । प्रथयां बभूवुः प्रकटयामासुः । प्रथि प्रख्याने लिट् । धिक् निंदायां "कुधिङ्निर्भर्त्सन निंदयोः" इत्यमरः । विरोधालंकारः ॥१४॥

भा० अ०—श्रीमुनिसुव्रत नाथ के समुज्ज्वल प्रभाव से लोगों के कपट-रहित अथवा शिखर-हीन होने पर उस भगवान के निकट वास किये हुए भी प्रासाद जिन-चैत्यालयों ने आकाश-मार्ग (दिगम्बर मुनिमार्ग) को रोके हुए शिखरों (कपटों) को प्रकटित किया अतः उन्हें धिक्कार है । १४ ।

मार्गेष्वपि त्रिषु चिरभ्रमणेन भिन्ना भिन्ना पुरैव भवलालनया द्युसिंधुः ॥
शंके जिनेंद्रचरणं शरणं प्रवेष्टुं संप्राप संप्रति सभां जलखातिकात्मा ॥१५॥

मार्गेष्वित्यादि । पुरैव पूर्वमेव । भवलालनया भवस्य संसारस्य ईश्वरस्य लालना भव-लालना तया संसारस्य रुद्रस्य वा तात्पर्येण । "जन्मश्रेयःशंकरेषु भवः" । इति नानार्थरत्नको-

षे । भिन्ना विदीर्णा । त्रिषु मार्गेष्वपि त्रिषु पथिष्वपि । चिरभ्रमणेन चिरं भ्रमणं चिरभ्रमणं तेन चिरपर्यटनेन । भिन्ना क्लिन्ना । द्यु सिंधुः सुरगंगा । "सिंधुर्ना सरिति स्त्रियाम्" इत्यमरः । जिनेन्द्रचरणं जिनानां इंद्रो जिनेंद्रस्तस्य चरणं तथोक्तं जिनेश्वरपादशरणं प्ररक्षणं । प्रवेष्टुं प्रवेशाय प्रवेष्टुं । संप्रति इदानीं । जलखातिकात्मा जलस्य खातिका जलखातिका सैव आत्मा स्वरूपं यस्यास्सा स्वीकृतजलपरिखास्वरूपा । सभां समवसरणं । संप्राप संययौ । आप्लृ व्याप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ १५ ॥

भा० अ०—पहले ही संसार अथवा शंकर से लालित पालित होकर पीछे मार्गों में बहुत देर तक भटकती रहने से खिन्न होती हुई देव-गंगा ने श्रीभगवान के चरणों की शरणीभूत होने के लिये ही मानों जल-खाति-स्वरूप से समवशरण को प्राप्त किया ॥ १५ ॥

वल्लिक्षितौ सुमनसो रतिवल्लभस्य भल्लक्रियागतजगल्लयपातकानि ॥
संलप्य भृंगरणितेन विशुद्धिहेतोः किं लोकनाथमभजन्सुमनोनिषेव्यम् ॥ १६ ॥

वल्लिक्षितावित्यादि । वल्लिक्षितौ वल्याः क्षितिर्वल्लिक्षितिस्तस्यां । सुमनसः पुष्पाणि कोविदाश्च । रतिवल्लभस्य रत्या वल्लभस्तथोक्तस्तस्य कामस्य । भल्लक्रियागतजगल्लयपातकानि भल्लस्य क्रिया भल्लक्रिया तया गतः जगतां लयो जगल्लयः भल्लक्रियागतश्च जगल्लयश्चासौ भल्लक्रियागतजगल्लयस्तेन जातानि पातकानि तथोक्तानि पुनस्तानि बाणव्यापारेण गतजगल्लयजातपापानि । भृंगरणितेन भृंगानां रणितं भृंगरणितं तेन भ्रमरध्वनिना । संलप्य संलपनं पूर्वं ० आलोच्य । विशुद्धिहेतोः विशुद्धेर्हेतुस्तथोक्तस्य प्रायश्चित्तनिमित्तं । सुमनोनिषेव्यं शोभनं मनो येषां ते सुमनसः निषेवितुं योग्यः निषेव्यः सुमनोभिर्निषेव्यस्तं विबुधजनैराराध्यं "कुसुमकोविदामरेषु सुमनः" इति नानार्थरत्नकोशे । लोकनाथं लोकस्य नाथस्तथोक्तस्तं त्रैलोक्यस्वामिनं । अभजत् असेवत । भज सेवायां लङ् । किं किमुत । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ १६ ॥

भा० अ०—वल्लीमयी भूमि पर पुष्पों ने कामदेव के पुष्पमय बाण से संसार का जो नाश किया है उस पातक को भृगों के गुंजार के द्वारा कह कर मानों प्रायश्चित्त के निमित्त ही देवताओं से सेव्य जगत्पति श्री मुनिसुव्रतनाथ की सेवा की ॥ १६ ॥

कंकेलिसप्तदलचंपकचूतषंडाः कामारिसन्निधिवशादिव शांतकामाः ॥
पुष्पाणि वामचरणाहतिचाटुवादच्छायाकटाक्षनिरपेक्षमधुर्वधूनाम् ॥ १७ ॥

कंकेलीत्यादि । कंकेलिसप्तच्छदचंपकचूतषंडाः कंकेलयश्च सप्त च्छदा येषां ते तथोक्ताः सप्तच्छदाश्च चंपकाश्च चूताश्च कंकेलिसप्तच्छदचंपकचूतास्तेषां षंडाः

अशोकविषमच्छदचंपकचूतषंडाः द्रुमसमूहाः । कामारिसन्निधिवशात् कामस्यारिः कामारिः कामारेस्सन्निधिः कामारिसन्निधिस्तस्य वशस्तस्मात् मन्मथवैरिजिनेश्वरस्य सन्निधानाधीनात् । शांतकामा इव शांतः कामो येषां ते तथोक्ताः निःकामा इव । वधूनां नारीणां । वामचरणाहतिचाटुवादच्छायाकटाक्षनिरपेक्षं वामश्चासौ चरणश्च तथोक्तः तस्याहतिस्तथोक्ता चाटुश्चासौ वादश्च चाटुवादः वामचरणाहतिश्च चाटुवादश्च च्छाया च कटाक्षश्च तथोक्ताः वामचरणाहतिचाटुवादच्छायाकटाक्षाणां निरपेक्षं यस्मिन्कर्मणि तत् वामपादताडनमनोहरवचनच्छायोपांगदर्शनापेक्षारहितं यथा तथा अशोकादीनां यथाक्रमं वामचरणाहत्यादिनिरपेक्षत्वमित्यर्थः । पुष्पाणि कुसुमानि । अधुः अधरन् डुधाङ् धारणे लुङ् । यथासंख्यालंकारः ॥ १७ ॥

भा० अ०—काम-नाशक श्रीजिनेन्द्र भगवान के निकटस्थ होने के कारण मानो शान्त हुए केसे अशोक, सप्तछद, चम्पक तथा आम्र-समूह अंगनाओं के वाम-चरण-प्रहार, सुमिष्ट वचन, छायापात और कटाक्ष-निक्षेप की अपेक्षा विना किये ही पुष्पित हो गये। अर्थात् कवियों के सिद्धान्तानुसार अशोक स्त्रियों के बायें पैर के प्रहार करने से तथा सप्तछद स्त्रियों के सुमिष्ट भाषण से, चम्पक स्त्रियों के छायापात से तथा आम्रवृक्ष स्त्रियों के कटाक्ष-मात्र से पुष्पित होते हैं सो जिनेन्द्र भगवान् के वहाँ रहने से ये वृक्ष उल्लिखित उपचार हुए विना ही कुसुमित हो गये ॥ १७ ॥

अर्चा जिनस्य वनचैत्यमहीरुहाणामच्छिन्नधारमकरन्दमुचां तलेषु ॥
चक्रुर्निरत्ययतपात्यययोगनिष्ठानिष्कंम्पगात्रजिनयोगिवराभिशंकां ॥ १८ ॥

अर्चेत्यादि । अच्छिन्नधारमकरंदमुचां न छिन्नधारा यस्य स अच्छिन्नधारश्चासौ मकरंदश्च तथोक्तः तं मुंचंतीति अछिन्नधारमकरंदमुचस्तेषां अविच्छिन्नप्रवाहयुक्तपुष्परसदुहां । वनचैत्यमहीरुहाणां चैत्यैर्युक्ता महीरुहाश्चैत्यमहीरुहाः वनस्य चैत्यमहीरुहास्तेषां वनभूमिस्थितचैत्यवृक्षाणां । तलेषु मूलेषु । जिनस्य जिनेश्वरस्य । अर्चाः प्रतिकृतयः । निरत्ययतपात्यययोगनिष्ठानिष्कंपगात्रजिनयोगिवराभिशंकां तपात्ययस्य योगस्तथोक्तः निरत्ययश्चासौ तपात्यययोगश्च तथोक्तः निरत्ययतपात्यययोगस्य निष्ठा तथोक्ता योगोऽस्त्येषामितियोगिनः जिनाश्च ते योगिनश्च जिनयोगिनः तेषां वरास्तथोक्ताः कंपान्निर्गतं निष्कंपं निरत्ययतपात्यययोगनिष्ठया निष्कंपं गात्रं येषां ते तथोक्ताः निरत्ययतपात्यययोगनिष्ठाः निष्कंपगात्राश्च ते जिनवराश्च तथोक्ता निरत्ययतपत्यययोगनिष्ठाः निष्कम्पगाजिनयोगिवराश्च तथोक्ताः तेषामभिशंका तथोक्ता तां निरतिचारवर्षाकालयो-

गनिष्पत्या निश्चलशरीरजिनमुनिवरेण्यसंशयं । चक्रुः विदधुः डुकृञ् करणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ १८ ॥

भा० अ०—अविच्छिन्न रूप से मकरन्दधारा प्रवाहित करते हुए वनभूमिस्थ चैत्य वृक्षों के नीचे विराजमान जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमाओं ने मानों अतिचार-रहित वर्षा-काल योग की सिद्धि से निश्चल शरीर वाले जिन मुनिवर का सन्देह धारण किया ॥ १८ ॥

ज्ञानोदये जिनपतेः स्थिरभावमाप्ते लोके स्वयं च तडितः स्थिरभावमाप्ता ॥
प्रायः प्रलंबितघनास्तमुपासतेस्म प्रेंखत्पताककनकध्वजदंडदंभात् ॥ १९ ॥

ज्ञानोदय इत्यादि । लोके भुवने । जिनपतेः जिनानां पतिस्तथोक्तस्तस्य जिनेशस्य । ज्ञानोदये ज्ञानस्योदयस्तथोक्तस्तस्मिन् केवलज्ञानोत्पत्तौ । स्थिरभावं स्थिरस्य भावस्तथोक्तस्तं स्थिरत्वं । आप्ते आप्नोतिस्म आप्तस्तस्मिन् याते सति । प्रलंबितघनाः प्रलंबितो घनो याभिस्तथोक्ताः संश्लिष्टमेघाः । तडितः विद्युतः । स्वयं च । प्रेंखत्पताककनकध्वजदंडदंभात् प्रेंखंतीति प्रेंखंत्यः प्रेंखंत्यः पताका येषां ते प्रेंखत्पताकाः ध्वजानां दंडाः ध्वजदंडाः कनकेन निर्मिता ध्वजदंडास्तथोक्ताः प्रेंखत्पताकाश्च ते कनकध्वजदंडाश्च तथोक्ताः प्रेंखत्पताककनकध्वजदंडा इति दंभस्तथोक्तस्तस्मात् चलद्ध्वजसहितसुवर्णदंडव्याजात् । स्थिरभावं स्थिरस्य भावस्तथोक्तस्तं स्थिरत्वं । संशयव्युदासेन तत्त्वेषु निश्चलचित्तत्वं । च आप्ताः प्रयुताः सत्यः । प्रायः भूरां । तं तीर्थनायकं । उपासतेस्म सेवंतेस्म । आसि उपवेशने लट् ॥ १९ ॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र भगवान् के केवल ज्ञान उदय होने पर मानों उमड़ हुए मेघवाली विद्युल्लतिकायें फड़फड़ाती हुई पताका के सुवर्ण-ध्वज दण्ड के बहाने से स्वयं स्थिरता को प्राप्त होती हुई कासी जिनेंद्र भगवान् की सेवा करने लगीं । १९ ।

भव्यावलेर्दशविधामरभूजकृत्यं वाञ्छां विनैव विदधात्ययमेक एव ॥
यत्तेतदेनमभितोऽप्यभजन् जिनेंद्रं रुंद्रा गुणैर्हि गुणिनः समुपाश्रयंते ॥ २० ॥

भव्यावलेरित्यादि । यत् यस्मात् कारणात् । अयं एषः जिनः । भव्यावलेः भव्यानामावलिर्भव्यावलिस्तस्याः विनेयजनसमूहस्य । दशविधामरभूजकृत्यं दशविधा येषां ते तथोक्ताः अमराणां भूजा अमरभूजाः दशविधाश्च ते अमरभूजाश्च दशविधामरभूजास्तेषां कृत्यं हि तथोक्तं पुनस्तत् दशप्रकारकल्पवृक्षकार्यं । वांछां अभिलाषं विनैव अंतरेणैव । विदधाति करोति । डुकृञ् करणे लट् । तत् तस्मात्कारणात् । ते कल्पवृक्षाः । एनं जिनेंद्रं जिनानामिंद्रो जिनेंद्रस्तं । अभितोऽपि परितोऽपि । अभजन् असेवंत । भज सेवायां लङ् । तथा हि गुणिनः गुणाः

संत्येषामिति तथोक्ताः गुणवंतः गुणैः औदार्यादिभिः । रुंद्रान् महतः । समुपाश्रयंते सेवंते हि श्रिञ् सेवायां लङ् । अर्थांतरन्यासः ॥ २० ॥

भा० अ०—यह जिनेन्द्र स्वामी इकले विना इच्छा के भी भविकों के दस प्रकार के कल्प वृक्ष के कार्य करते हैं। इसी से उन कल्पवृक्षों ने इनकी सब प्रकार से सेवा की। यह समुचित भी है क्योंकि गुणी लोग गुण-द्वारा ही बड़ों का आश्रय करते हैं ॥ २० ॥

॥ आकीर्णकेतुचमरीरुहतालवृंतकालाचिकाब्दकलशातपवारणादिः ॥
हर्म्यावनिर्जिनजितधृतपुष्पकेतौ सेनानिवेश इव चेलकुटीचितोऽभात् ॥ २१ ॥

आकीर्णत्यादि। आकीर्णकेतुचमरीरुहतालवृंतकालाचिकाब्दकलशातपवारणादिः आकीर्यंतेस्म आकीर्णानि केतुश्च चमरीरुहं च तालवृंतश्च कालाचिका च अब्दं च कलशश्च आतपवारणं च केतुचमरीरुहतालवृंतकालाचिकाब्दकलशातपवारणानि आकीर्णानि तान्यादीनि यस्यां सा तथोक्ता संपूर्णध्वजचामरव्यजनपतद्ग्रहदर्पणकलशछत्रादिसहिता । हर्म्यावनिः हर्म्याणामवनिस्तथोक्ता प्रासादभूमिः । जिनजितधृतपुष्पकेतोः जीयतेस्म जितः जिनेन जितस्तथोक्तः धरतिस्म धृतः धृतश्चासौ पुष्पकेतुश्च तथोक्तः जिनजितश्चासौ धृतपुष्पकेतुश्च तथोक्तस्तस्य जिनेश्वरेण पराजितपलायितुकामस्य । चेलकुटीचितः चेलेन विरचिताः कुट्यः चेलकुट्यस्तासु चितः तथोक्तः वस्त्रकुटीविकीर्णः । सेनानिवेश इव सेनाया निवेशस्तथोक्तस्तस्य इव शिविरगत इव । अभात् व्यराजत । भा दीप्तौ लङ् उत्प्रेक्षा ॥ २१ ॥

भा० अ०—ध्वजा, चामर, दर्पण, कलश और छत्रादि अष्टमंगल द्रव्य से युक्त प्रासादभूमि जिनेन्द्र भगवान् से विजित तथा पलायित कामदेव की वस्त्रमयी कुटी से रचित सेना की छावनी कीसी सोभने लगी ॥ २१ ॥

देवेंद्रनेत्रकुमुदोत्सवचंद्रिकाया देदीप्यमानमणिवैकृतगंधकुट्याः ॥
उच्चैर्ऋतोरिव विदिक्षु भृशं विरेजुः कोष्ठाःप्रकीर्णकवदुज्ज्वलरूपभाजः ॥ २२ ॥

देवेंद्रेत्यादि । ऋतोरिव ऋतुविमानस्येव देवेंद्रनेत्रकुमुदोत्सवचंद्रिकायाः देवानामिंद्रस्तस्य नेत्राणि तथोक्तानि तान्येव कुमुदानि देवेंद्रनेत्रकुमुदानि तेषामुत्सवो देवेंद्रनेत्रकुमुदोत्सवः तस्य चंद्रिका देवेंद्रनेत्रकुमुदोत्सवचंद्रिका तस्याः देवेंद्रनयनकुवलयोत्सव कौमुद्याः । उच्चः अधिकं । देदीप्यमानमणिवैकृतगंधकुट्याः देदीप्यत इति देदीप्यमाना भृशं प्रकाशमाना विक्रियतेस्म विकृता विकृतैव वैकृता मणिभिर्वैकृता मणिवैकृता गंधेनयुक्ता कुटीगंधकुटी मणिवैकृता चासौ गंधकुटी च मणिवैकृतगंधकुटी देदीप्यमाना

चासौ मणिवैकृतगंधकुटी च देदीप्यमानमणिवैकृतगंधकुटी तस्याः अत्यंतप्रकाशमानरत्ननिर्मितगंधकुट्याः । विदिक्षु कोणेषु । प्रकीर्णकवत् प्रकीर्णका इव प्रकीर्णकवत् "सुप इवे" इति वत्प्रत्ययः प्रकीर्णकविमाना इव । उज्वलरूपभाजः उज्वलं च तत् रूपं च उज्वलरूपं तद्भजंतीत्युज्वलरूपभाजः प्रकाशमानरूपयुक्ताः । कोष्ठाः द्वादशकोष्ठाः । भृशं अत्यंतं । रेजुः बभुः । राजृ दीप्तौ लिट् ॥ २२ ॥

भा० अ०—ऋतु विमान के समान देवेन्द्रों के नेत्ररूपी कुमुद के लिये चाँदनी कीसी समुन्नत रत्नमयी समवशरण सभा के चारो तरफ प्रकीर्णक विमान के सदृश समुज्वल बारह कक्षायें अत्यन्त शोभायमान हुईं । २२ ।

तेषु प्रदक्षिणमनुक्रमतो मुनींद्राः कल्पांगनाश्च नृवधूसहितार्यिकाश्च ॥
ज्योतिष्कभौमभवनामरिकाश्च भोगीभौमोडुकल्पसुरमर्त्यमृगाश्च तस्थुः ॥ २३ ॥

तेष्वित्यादि । तेषु कोष्ठेषु । प्रदक्षिणं यथा तथा । अनुक्रमतः अनुक्रमादनुक्रमतः परिपाट्याः । मुनींद्राः मुनीनामिंद्रास्तथोक्ताः महामुनयः । कल्पांगनाश्च कल्पानामंगनास्तथोक्ताः स्वर्गस्त्रियः । च समुच्चयार्थः । नृवधूसहितार्यिकाश्च नृणां वध्वः नृवध्वः ताभिस्सहितास्तथोक्ताः नृवधूसहिताश्च ताः आर्यिकाश्च तथोक्ताः मनुष्यस्त्रीसहितार्यिकाः । ज्योतिष्कभौमभवनामरिकाश्च ज्योतिरस्त्येषामिति ज्योतिष्काः भूमौ भवा भौमाः ज्योतिष्काश्च भौमाश्च भवनानि च तथोक्तानि तेषां अमरिकाः ज्योतिर्लोकव्यंतरलोकभवनलोकस्त्रियश्च । भोगीभौमोडुकल्पसुरमर्त्यमृगाः भोगोऽस्त्येषामिति भोगिनः भूमौ भवाः भौमाः कल्पेषु विद्यमानास्सुराः कल्पसुराः भोगिनश्च भौमाश्च उडवश्च कल्पसुराश्च मर्त्याश्च मृगाश्च तथोक्ताः भोग्युपलक्षणाद्भावनामरा उडूपलक्षणात् ज्योतिष्काश्च । तस्थुः तिष्ठंतिस्म ॥ २३ ॥

भा० अ०—व्यन्तर, भवन, ज्योतिष्क तथा कल्प-वासी देव तथा चार प्रकार की देवांगनाएं, नर, मुनीन्द्र आर्यिका मनुष्य स्त्री और मृगादि तिर्यंच जीव उन बारह कक्षाओं में प्रदक्षिणा पूर्वक क्रमशः बठे हुए थे । २३ ।

वीथीषु नाथचतुराननिर्यदुक्तिपीयूषनद्युभयचारुतटानुकाराः ॥
अष्टायतस्फटिकभित्तय आवितेनुर्वृद्धेशभूतिविनिवेशितयष्टिशंकाम् ॥ २४ ॥

वीथीष्वित्यादि । विथीषु । नाथचतुराननिर्यदुक्तिपीयूषनद्युभयचारुतटानुकाराः चत्वारि च तान्याननानि च चतुराननानि नाथस्य चतुराननानि तैर्निर्यतीति तथोक्ता नाथचतुराननिर्यती चासौ उक्तिश्च तथोक्ता नाथचतुराननिर्यदुक्तिरेव पीयूषं तथोक्तं

तस्य नदी नाथचतुराननिर्यदुक्तिपीयूषनदी चारु च तत् तटं च चारुतटं उभयं च तत् चारुतटं च उभयचारुतटं नाथचतुराननिर्यदुक्तिपीयूषनद्या उभयचारुतटं तथोक्तं तदनुकुर्वंतीति तथोक्ताः "कर्मणोऽण्"इत्यण् जिनाननचतुष्टयनिर्यद्दिव्यध्वनिसुधाद्युभयतीरमनकुर्वत्यः । अष्टायतस्फटिकभित्तयः स्फटिकेन निर्मिता भित्तयस्तथोक्ताः आयताश्च ताः स्फटिकभित्तयश्च तथोक्ताः अष्ट च ता आयतस्फटिकभित्तयश्च तथोक्ताः अष्टदीर्घभित्तयः । वृद्धेशभूतिविनिवेशितयष्टिशंकां ईशस्य भूतिरीशभूतिः वृद्धा अतिप्रकृष्टा जरती वा सा चासौ ईशभूतिश्च तथोक्ता वृद्धेशभूत्या विनिवेशिताः तथोक्ताः ताश्च ताः यष्टयश्च वृद्धेशभूतिविनिवेशितयष्टयस्तासां शंका तथोक्ता तां समृद्धजिननाथविभूत्या स्थापितहस्तावलंबनदंडसंदेहं । आवितेनुः तन्वंतिस्म तनूङ् विस्तारे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥

भा० अ०—समवसरण की रथ्याओं में जिनेन्द्र भगवान् के चतुर्मुख से निकली हुई दिव्य ध्वनिरूपिणी अमृतमयी नदियों के दोनों तटों का अनुकरण करने वाली आठ बड़ी २ स्फटिकमयी भित्तियाँ समृद्ध जिनेन्द्र भगवान् की विभूति से हस्तावलम्बननिमित्त स्थापित दण्ड का सन्देह सूचित करती थीं । २४ ।

यच्छ्रूयते सुरपथात्सुमनःस्रवंती स्रस्ता तरंगिततनूरिति पुस्तकेषु ॥
तत्त्वात्तदित्यनुमिमे भगवत्सभाया यत्तीर्थपद्धतिचतुष्टयमर्कशिल्पं ॥ २५ ॥

यदीत्यादि । तरंगिततनूः तरंगः संजातोऽस्यामिति तरंगिता तरंगिता तनूर्यस्यास्सा तथोक्ता संजाततरंगस्वरूपयुक्ता । सुमनःस्रवंती सुमनसां स्रवंतीति तथोक्ता देवगंगा । सुरपथात् सुराणां पंथास्सुरपथस्तस्मात् "ऋक्पूःपथ्यपोऽदत्यत्" इत्यनेनात् आकाशमार्गात् । स्रस्ता अवकीर्णा । इति एवं । पुस्तकेषु शास्त्रेषु । यद्वचनं । श्रूयते आकर्ण्यते । तद्वचनं । भगवत्सभायाः भगवतस्सभा भगवत्सभा तस्याः समवसरणभूमेः । अर्कशिल्पं अर्कस्य शिल्पं यस्य तत् तथोक्तं स्फटिकनिर्मितं "अर्कस्फटिकसूर्ययोः" इत्यमरः । तीर्थपद्धतिचतुष्टयं तीर्थानां पद्धतयस्तीर्थपद्धतयः चत्वारोऽवयवा यस्य चतुष्टयं तीर्थपद्धतीनां चतुष्टयं तथोक्तं सोपानमार्गचतुष्टयं । यत् एतदिति इदमिति । अनुमिमे अनुमन्ये माङ् । माने लङ् ॥ २५ ॥

भा० अ०—तरंगित देव-गंगा आकाश से गिरी हैं यह बात शास्त्रों में ही देखी जाती थी । मैं अनुमान करता हूं कि, भगवान् की समवसरण सभा की स्फटिकमयी चार सीढ़ियां इस बात को प्रत्यक्ष प्रमाणित कर रही हैं । २५ ।

वाराशितीर्थकरवारणासंख्यरूपा देवाद्रिरुद्रनगकज्जलभूधरास्तं ॥
दैर्घ्यस्पृहो निखिलदिग्गतहेमरूप्यनीलाश्मगोपुरनिभादभजंत देवम् ॥ २६ ॥

वाराशीत्यादि। वाराशितीर्थंकरवारणसंख्यरूपाः वारां राशिः तथोक्तः वाराशिश्च तीर्थकराश्च वारणाश्च तेषां संख्या तथोक्ता वाराशितीर्थंकरवारणसंख्यैव रूपं येषां ते तथोक्ताः चतुश्चतुर्विंशत्यष्टस्वरूपाः। दैर्घ्यस्पृहः दैर्घ्यं स्पृहंतीति तथोक्ताः महोन्नत्य-भिलाषयुक्ताः संतः। देवाद्रिरुद्रनगकज्जलभूधराः देवानामद्रिर्देवाद्रिः रुद्रस्य नगो रुद्र-नगः कज्जलश्चासौ भूधरश्च कज्जलभूधरः देवाद्रिश्च रुद्रनगश्च कज्जलभूधरश्च तथोक्ताः महामेरुकैलासांजनपर्वताः। निखिलदिग्गतहेमरूप्यनीलाश्मगोपुरनिभात् निखिलाश्च ताः दिश-श्च निखिलदिशः ता गच्छंतिस्म निखिलदिग्गतानि हेमं च रूप्यं च नीलाश्मा च हेमरूप्य-नीलाश्मानस्तैर्निर्मितानि गोपुराणि हेमरूप्यनीलाश्मगोपुराणि निखिलदिग्गतानि हेमरूप्य-नीलाश्मगोपुराणि तानीति निभं तथोक्तं तस्मात् सकलदिग्व्याप्तसुवर्णरजतनीलगोपुरव्याजात्। तं देवं मुनिसुव्रतस्वामिनं। अभजंत असेवंत। भज सेवायां लङ्। यथासंख्यालंकारः॥२६॥

भा० अ०—बड़ी भारी उन्नति (ऊंचाई) के इच्छुक चार सुवर्णमय महामेरु पर्वत चौबीस रजतमय कैलाश और आठ नीलममय अंजन पर्वतों ने सभी दिशाओं में व्याप्त हो-कर गोपुर के बहाने से श्रीजिनेन्द्र भगवान् की सेवा की। २६।

संप्राप्य चारुगुणरत्ननिधिं जिनेंद्रं लोकैकमंगलममुं समपक्षरागात्॥
शक्तानि मोक्तुमथ नो निधिमंगलानि द्वारेषु तस्थुरखिलेष्विह को वितर्कः॥२७॥

संप्राप्येत्यादि। चारुगुणरत्ननिधिं चारवश्च गुणाश्च चारुगुणास्त एव रत्नानि चारुगुण-रत्नानि तेषां निधिस्तं मनोहरगुणमणिनिधिं। लोकैकमंगलं मंगं पुण्यं सतां लातीति मं पापं गलयत्यपि मंगलं मंगलार्थज्ञैरन्वर्थेन निरुच्यते एकं च तत् मंगलं च एकमंगलं तथोक्तं लोकानामेकमंगलं तथोक्तं त्रिभुवनमुख्यमंगलं। अमुं इमं। जिनेंद्रं जिनानामिंद्रस्तथोक्तस्तं जिनेश्वरं। समपक्षरागात् समश्चासौ पक्षश्च समपक्षस्तस्य इति रागस्तस्मात् समानवर्ग-प्रीत्याः। संप्राप्य संलभ्य। अथ अनंतरे। मोक्तुं मोचनाय मोक्तुं। नो शक्तानि सामर्थ्यरहि-तानि। निधिमंगलानि निधयश्च मंगलानि च तथोक्तानि नवनिध्यष्टमंगलानि। अखिलेषु समस्तेषु। द्वारेषु गृहनिर्गमनस्थानेषु। तस्थुः तिष्ठन्तिस्म। इह अस्मिन् इह। प्रकृतेऽर्थे वितर्कविचारः। न कोऽपी-त्यर्थः। उत्प्रेक्षालंकारः। ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट्॥ २७॥

भा० अ०—सुन्दर गुण-रूपी रत्न के निधि-स्वरूप तथा संसार के एकमात्र मंगल श्रीजिनेन्द्र भगवान को समान वर्ग से पाकर मानो मुक्त होने में असमर्थ होने से ही नव निधि और अष्ट-मंगल सभी दरवाजों पर विराजमान हुए तो इसमें आश्चर्य ही क्या है॥२७॥

ज्योतिष्कयक्षफणिकल्पसदः क्रमेण तेजस्विनः प्रतिदिशं मणिदंडहस्ताः॥
द्वारत्रयद्वितययुग्मयुगेषु तेनुर्द्वार्पालकृत्यमपि जन्मशतैरलभ्यं॥२८॥

ज्योतिष्केत्यादि । तेजस्विनः तेजोऽस्त्येषामिति तथोक्ताः पराक्रमिणः । मणिदंडहस्ताः मणिभिर्निर्मिता दंडाः मणिदंडाः हस्ते येषां ते तथोक्ताः रत्नखचितदंडपाणयः । "प्रहरणात्सप्तमी" इति पूर्वनिपातः । ज्योतिष्कयक्षफणिकल्पसदः ज्योतिष्काश्च यक्षाश्च फणिनश्च कल्पे सीदंतीति कल्पसदः ते च ज्योतिष्कयक्षफणिकल्पसदः ज्योतिर्भौमोरगकल्पवासिनः । प्रतिदिशं दिक्षु दिक्षु । क्रमेण अधूलिशालाद्यनुक्रमेण । द्वारत्रयद्वितययुग्मयुगेषु त्रयोऽवयवा अस्य त्रयं द्वावयवावस्य द्वितयं त्रयं च द्वितयं च युग्मं च युगं च तथोक्तानि द्वाराणां त्रयद्वितययुग्मयुगानि तथोक्तानि तेषु द्वारत्रये द्वारद्वये द्वारयुग्मे द्वारयुगे च । जन्मशतैरपि जन्मनां शतानि तैः जन्मानेकैरपि । अलभ्यं लब्धुमशक्यं । द्वार्पालकृत्यं द्वारः पालः द्वार्पालः तस्य कृत्यं पुनस्तत् द्वारपालस्य कार्यं । तेनुः विस्तारयामासुः तनूञ् विस्तारे लिट् ॥२८॥

भा० अ०—तेजस्वी ज्योतिष्क, यक्ष, उरग तथा कल्पवासी देवों ने हाथों में मणिमय दण्ड लेकर क्रमशः प्रत्येक दिशा में तीन दो, दो तथा दो दरवाजों पर जन्मजन्मान्तर में भी अलभ्य द्वारपाल का काम किया । २८ ।

नुन्नांबरं प्रतिदिशं नवगोपुराणामष्टांतरेषु बहिरादिमगोपुराच्च ॥
नानाविधाभिनवशिल्पमनोभिरामं माणिक्यतोरणशतं पृथगाविरासीत् ॥२९॥

नुन्नांबरमित्यादि । नवगोपुराणां नव च तानि गोपुराणि च नवगोपुराणि तेषां । अष्टांतरेषु । आदिमगोपुरात् आदौ भवमादिमं आदिमं च तत् गोपुरं च आदिमगोपुरं तस्मात् "पश्चादाद्यंताग्रादिम" इति म प्रत्ययः । प्रथमगोपुरात् । बहिश्च बाह्ये च । प्रतिदिशं दिक्षु दिक्षु । नुन्नांबरं नुन्नमंबरं येन तत् तथोक्तं चुंबिताकाशं । "नुत्तनुन्नास्तनिष्ठ्यूताविद्धक्षिप्तेरिताः समाः" इत्यमरः । नानाविधाभिनवशिल्पमनोभिरामं नाना विधो यस्य तत् नानाविधं अभिनवं च तत् शिल्पं च अभिनवशिल्पं नानाविधं च तदभिनवशिल्पं च नानाविधाभिनवशिल्पं च तन्मनसोऽभिरामं तथोक्तं नानाविधाभिरामशिल्पेनाभिरामं नानाप्रकारकुशलेन मनोहरं । पृथक् । प्रत्येकमाणिक्यतोरणशतं माणिक्येन रचितानि तेषां शतं तथोक्तं रत्नतोरणानेकं । आविरासीत् प्रादुरभवत् । अस भुवि लङ् ॥ २९ ॥

भा० अ०—नौ दरवाजों में से आठ के भीतर तथा पहले दरवाजों के बाहर अनेक प्रकार की नूतन कारीगरी से सुन्दर सैकड़ो मणिमय तोरण पृथक् २ शोभित हुए । २९ ।

आद्यंतरे निहतदुर्मतिमानशुंकाः स्तंभाश्चतुर्थ इह राजतनाट्यशालाः ॥
षष्ठेऽपि नाट्यनिलयाः किल सप्तमेऽस्मिन् स्तूपाश्च तोरणशतांतरिता बभूवुः॥ ३०॥

आद्यंतरे इत्यादि । आद्यंतरे आदि च तदंतरं च आद्यंतरं तस्मिन् प्रथमांतराले ।

निहतदुर्मतिमानगुंफाः निहन्यतेस्म निहतः दुष्टा मतिर्येषां ते दुर्मतयः मानस्य गुंफो मानगुंफः दुर्मतीनां मानगुंफस्तथोक्तः निहतो दुर्मतिमानगुंफो यैस्ते तथोक्ताः विनष्टमिथ्यादृष्टिमानरचनयुक्ताः । स्तंभाः मानस्तंभाः । इह अस्मिन् इह । चतुर्थे चतुर्णां पूरणं चतुर्थं तस्मिन् चतुर्थवलये । राजतनाट्यशालाः नाट्यस्य शालाः नाट्यशालाः रजतेन निर्मिता राजताः ताश्च ताः नाट्यशालाश्च तथोक्ताः रूप्यरचितनर्तनशालाः । षष्ठेऽपि षण्णां पूरणं तथोक्तं तस्मिन् षष्ठांतरालेऽपि । नाट्यनिलयाः नाट्यस्य निलयास्तथोक्ताः नृत्यशालाः ।"निष्प्रतेर्वेति" निरुपसर्गरकारस्यायिगतावित्यस्य योगे लकारादेशः । अस्मिन् एतस्मिन् । सप्तमे सप्तानां पूरणं सप्तमं तस्मिन् सप्तमवलये । तोरणशतांतरिताः तोरणानां शतानि तथोक्तानि तोरणशतैरंतरितास्तथोक्ताः शततोरणव्यवहिताः । स्तूपाः नवस्तूपाः । बभूवुः भवंतिस्म किल । भू सत्तायां लिट् । दशतोरणान्यतीत्य एकस्तूपस्तिष्ठतीति क्रमोक्तानुसंधेयः ॥ ३० ॥

भा० अ०—पहले के भीतर मिथ्या दृष्टियों के मान नष्ट करने वाले मानस्तम्भ, चौथे में रजतमयी नाट्यशाला तथा छठे में भी नृत्यशाला, और सातवे में सैकड़ो तोरण से आच्छन्न नौ स्तूप थे । ३० ।

दुःखौघसर्जनपटूंस्त्रिजगत्यजेयान् साक्षान्निहत्य चतुरोपि च घातिशत्रून् ॥
स्तंभा जयादय इव प्रभुणा निखाताःस्तंभाःबभुः प्रतिदिशं किल मानपूर्वाः॥ ३१॥

दुःखौघेत्यादि । त्रिजगति त्रयाणां जगतां समाहारस्त्रिजगत् तस्मिन् त्रिभुवने । दुःखौघसर्जनपटून् दुःखानामोघो दुःखौघस्तस्य सर्जनं तथोक्तं दुःखौघसर्जने पटवस्तान् दुःखपरंपरासृष्टसमर्थान् । "ओघो वृंदे पयोवेगे द्रुतनृत्योपदेशयोः । ओघः परंपरायां च" इति विश्वः । अजेयान् जेतुं शक्या जेयाः न जेयास्तान् अभिभवितुमशक्यान् । चतुरोऽपि च चतुःसंख्यानपि । घातिशत्रून् घातिन एव शत्रवस्तथोक्तास्तान् घातिकर्मरिपून् साक्षात् युगपत् । निपात्य निपातनं पूर्व० विहत्य । प्रभुणा स्वामिना । निखाताः निखन्यंतेस्म निखाताः स्थापिताः । जयादयः जय एव आदिर्येषां ते तथोक्ताः जयशब्दादिसहिताः । स्तंभा इव जयस्तंभा इत्यर्थः मानपूर्वाः मान एव पूर्वस्मिन्येषां ते तथोक्ताः आदौ मानशब्दयुक्ताः मानस्तंभा इति यावत् । प्रतिदिशं दिक्षु दिक्षु । बभुः किल चकाशिरे किल । भा दीप्तौ लिट् । रूपकः ॥ ३१ ॥

भा० अ०—त्रिभुवन में दुःखसमूह के निर्माण करने में विचक्षण तथा अजेय जो चार घातिया कर्म-रूपी शत्रु हैं उन्हें साक्षात् नष्ट करके ही मानो जिनेन्द्र देव से आरोपित किए गये विजय-स्तंभ के ऐसे मानस्तंभ प्रत्येक दिशा में शोभायमान होते थे । ३१ ।

संसारदुस्तरमहार्णवमग्नजन्तूत्तारैकनावि सदसीश्वरकर्णधारे ॥
स्तंभश्रियं विदधुरुज्वलरत्नमानस्तंभाः समीरचलकेतुपटाभिरामाः ॥३२॥

संसारेत्यादि । संसारदुस्तरमहार्णवमग्नजंतूत्तारैकनावि चतुर्गतिभ्रमणः संसारः महांश्चासौ अर्णवश्च महार्णवः दुःखेन तीर्यत इति दुस्तरस्स चासौ महार्णवश्च तथोक्तः संसार एव दुस्तरमहार्णवस्तथोक्तः मज्जंतिस्म मग्नाः मग्नाश्च ते जंतवश्च मग्नजंतवः संसारदुस्तरमहार्णवे मग्नजंतवस्तथोक्ताः उत्तरणमुत्तारः संसारदुस्तरमहार्णवमग्नजंतूना-मुत्तारस्तथोक्तः एका चासौ नौश्च एकनौः संसारदुस्तरमहार्णवमग्नजंतूत्तारे एकनौस्त-स्यां संसारदुःखजनमहासमुद्रमग्नाखिलजीवोत्तरणे मुख्यबहित्रे । ईश्वरकर्णधारे ईश्वर एव कर्णधारो यस्य तस्मिन् जिनेंद्रनाविकयुक्ते । सदसि समवसरणे । समीरचलकेतुपटा-भिरामाः समीरेण चलास्समीरचलाः केतूनां पटाः केतुपटाः समीरचलाश्च ते केतुपटाश्च तथोक्ताः समीरचलकेतुपटैरभिरामाः वायुना चंचलध्वजवस्त्रैर्मनोहराः । उज्वलरत्न-मानस्तंभाः रत्नैर्निर्मिता मानस्तंभा रत्नमानस्तंभाः उज्वलाश्च ते रत्नमानस्तंभाश्च तथोक्ताः प्रकाशमानमणिमयमानस्तंभाः । स्तंभश्रियं स्तंभस्य श्रीः स्तंभश्रीस्तां नौगुणलक्ष्मीं । विदधुः चक्रुः । डु धाञ् धारणे लिट् । रूपकः ॥ ३२ ॥

भा० अ०—संसाररूपी दुस्तर महा-समुद्र में मग्न प्राणियों को पार लगाने में एक मात्र नौका के समान तथा जिनेन्द्र देव-रूपी कर्णधारवाली समवसरण सभा में हवा से प्रकम्पित ध्वजपट से सुन्दर और समुज्वल रत्नजड़ित मानस्तंभों ने नाव की यूप-श्री की शोभा धारण की । ३२ ।

मानाधिकौ कनकगोपुररूप्यसालव्याजेन मानमवितुं बहुरूपभाजौ ॥
मन्ये सुमेरुविजयार्धनगौ स्म मानस्तंभानुपेत्य भजतश्चतुरोऽपि भीत्या ॥३३॥

मानाधिकावित्यादि । मानाधिकौ मानेन प्रमाणेन गर्वेण वाऽधिकौ प्रवृद्धौ । "चित्तो-न्नतिग्रहगर्भप्रमाणप्रस्थादिषु मानम्" इति नानार्थरत्नकोशे (वे) । बहुरूपभाजौ बहूनि च तानि रूपाणि च बहुरूपाणि तानि भजंत इति तथोक्तानि नानारूपभाजौ । सुमेरुविजयार्ध-नगौ सुमेरुश्च विजयार्धश्च सुमेरुविजयार्धौ तौ च तौ नगौ च तथोक्तौ महामेरुविजया-र्धपर्वतौ । मानं गर्वं । अवितुं रक्षितुं । कनकगोपुररूप्यशालाव्याजेन कनकेन निर्मितानि गो-पुराणि तथोक्तनि रूप्येण निर्मिता साला (शाला) रूप्यसालाः कनकगोपुराणि च रूप्यसा-लाश्च तथोक्ताः कनकगोपुररूप्यसाला इति व्याजस्तस्मात् सुवर्णगोपुररजतप्राकारदंभा-त् । चतुरोऽपि चतुःसंख्यान् मानस्तंभान् । भीत्या भयेन । समीपं । उपेत्य यात्वा । भजतः

स्म सेवेतेस्म। भज सेवायां लट्। इति मन्ये जाने। बुधमनिज्ञाने लट् उत्प्रेक्षा ॥३३॥

भा० अ०—गर्व से बढ़े चढ़े सुमेरु तथा विजयार्ध पर्वत अनेक रूप धारण करके सुवर्णमय गोपुर तथा रजतमय प्राकार के व्याज से अपने मान की रक्षा के लिये ही मानों डर से चारो मानस्तंभों के पास जाकर उनकी सेवा करने लगे। ३३।

मज्जत्पुरंध्रिकुचकुंकुमलालितानि पर्यंतखातसलिलानि वितेनुरेषाम् ॥
आलोकनेन सुचिरोपचिताभिमानैर्लोकैर्विवांतदृढमानरसाभिशंकाम् ॥३४॥

मज्जत्पुरंध्रीत्यादि। मज्जत्पुरंध्रिकुचकुंकुमलालितानि मज्जंतीति मज्जंत्यः ताश्च ताः पुरंध्रयश्च तथोक्ताः मज्जत्पुरंध्रीणां कुचास्तथोक्तास्तेषां कुंकुमं तथोक्तं मज्जत्पुरंध्रिकुचकुंकुमेन लालितानि मज्जद्वनितास्तनकुंकुमेनरंजितानि। पर्यंतखातसलिलानि पर्यंतस्य खाता पर्यंतखाता पर्यंतखातानां सलिलानि तथोक्तानि समीपस्थसरोवरजलानि। एषां मानस्तंभानां। आलोकनेन दर्शनेन। सुचिरोपचिताभिमानैः सुचिरेणोपचितास्सुचिरोपचिताः अभिमाना येषां ते सुचिरोपचिताभिमानास्तैः चिरकालेन संचिताभिमानसहितैः। लोकैः जनैः। विवांतदृढमानरसाभिशंकां विवम्यतेस्म विवांतः मानस्य रसः मानरसः दृढश्चासौ मानरसश्च दृढमानरसः विवांतश्चासौ दृढमानरसश्च विवांतदृढमानरसः स इत्यभिशंका विवांतदृढमानरसाभिशंका तां विशेषेण वांतगाढाहंकारद्रव इति शंकां। वितेनुः विस्तारयंतिस्म। तनु विस्तारे लिट्॥ ३४॥

भा० अ०—स्नान करती हुई स्त्रियों के कुच कुंकुम से रंजित चारो तरफ फैले हुए खातिका के जल ने इन मानस्तंभों के देखने से ही मानो चिरसंचित अभिमान वाले लोगों से उद्गीर्ण दृढ़ मानरस की शंका प्रकटित की। ३४।

विश्रामसौंदरमृदंगनिनादगर्जा विद्युल्लतायितनिलिंपनटीसनाथाः ॥
नाट्यालया विजितशारदवारिवाहाश्चित्तद्विती नवरसान्ववृपुर्जनानाम् ॥३५॥

विश्रामेत्यादि। विश्रामसुन्दरमृदंगनिनादगर्जाः विश्रामेण सौंदरो विश्रामसौंदरः मृदंगस्य निनादो मृदंगनिनादः विश्रामसौंदरश्चासौ मृदंगनिनादश्च तथोक्तः विश्रामसौंदरमृदंगनिनाद एव गर्जं एषां ते तथोक्ताः विश्रामेण मनोहरमुरजध्वनिस्तनितयुक्ताः। विद्युल्लतायितनिलिंपनटीसनाथाः विद्युतो लता विद्युल्लतेव आचरंतीति विद्युल्लतायंतेस्म विद्युल्लतायिताः निलिंपानां नट्यो निलिंपनट्यः विद्युल्लतायिताश्च ताः निलिंपनट्यश्च तथोक्ताः विद्युल्लतायितनटीभिस्सनाथाः तटिल्लतानिभदेवनर्तकीसहिताः। विजितशारदवारिवाहाः शरदि भवः शारदः वारि वहतीति वारिवाहः शारद-

श्चासौ वारिवाहश्च तथोक्तः विजयतेस्म विजितः विजितः शारदवारिवाहो यैस्ते तथोक्ताः निरसितशारदमेघसहिताः । नाट्यालयाः नाट्यस्यालयास्तथोक्ताः नर्तनशीलाः । जनानां प्रेक्षकलोकानां । चित्तक्षितौ चित्तमेव क्षितिः चित्तक्षितिस्तस्यां मनोभूमौ नवरसान् नव च ते रसाश्च नवरसास्तान् शृंगारादिनवरसान् अभिनवजलानि च । "रसो गंधरसे स्वादे चिक्तादौ विषरागयोः । शृंगारादौ द्रवे वीर्ये देवधातौ च पारदे" इति विश्वः । ववृषुः सिषिचुः । वृषु सेचने लिट् । रूपकः उपमापि ॥ ३५ ॥

भा० अ० विश्राम-समय के मृदंग की सुन्दर ध्वनि है गर्जन जिसके—विद्युल्लतिका आचरण करती हुई देवांगना नर्तिका से युक्त तथा शरत्कालीन मेघ को जीते हुई नाट्यशालाओं ने लोगों की चित्तभूमि पर नव रस की वृष्टि की । ३५ ।

सौवर्णधूपघटनिर्गतधूमजालं सौरभ्यशालि ददृशे जिनपूजनाय ॥
आयज्जनस्य सुचिरं हृदयारविंदगंधाधिवासितमिव द्रवदंधकारम् ॥३६॥

सौवर्णेत्यादि । सौरभ्यशालि सुरभिरेव सौरभ्यं तेन शालि तथोक्तं परिमलेन मनोहरं । सौवर्णरूपघटनिर्गतधूमजालं सुवर्णेन निर्मिताः सौवर्णाः धूपस्य घटाः धूपघटाः सौवर्णाश्च ते धूपघटाश्च तथोक्ताः निर्गच्छतिस्म निर्गतं धूमानां जालं धूमजालं सौवर्णधूपघटैर्निर्गतं तथोक्तं सौवर्णधूपघटनिर्गतं च तत् धूमजालं च तथोक्तं हेमनिर्मितधूपसमूहः । जिनपूजनाय जिनस्य पूजनं जिनपूजनं तस्मै । आयज्जनस्य एतीत्यायन् स चासौ जनश्च तथोक्तस्य आगच्छल्लोकस्य । सुचिरं दीर्घकालं । हृदयारविंदगंधाधिवासितं हृदयमेव अरविंदं हृदयारविंदं तस्य गंधस्तथोक्तः हृदयारविंदगंधेनाधिवासितं तथोक्तं चित्तकमलपरिमलेन अभिसंस्कृतं । द्रवदंधकारमिव द्रवच्च तदंधकारं च तथोक्तं धावदज्ञानांधकारमिव । ददृशे ईक्षे । दृशिर प्रेक्षणे कर्मणि लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ ३६ ॥

भा० अ०—सुगन्ध से सोभने वाला सुवर्णमय धूप घट से निकला हुआ धूम्र-समूह जिनदेव के पूजन के लिये आये हुए लोगों के हृदय-कमल की गंध से वासित भागते हुए चिरसञ्चित अज्ञानान्धकार के ऐसा दीख पड़ा । ३६ ।

जैनी सभा जिनपदांबुजसेवयैव सेत्स्यंति मंक्षु नवकेवललब्धयो वः ॥
इत्येवमुन्नतनवांगुलिसंज्ञयोच्चैस्तूपच्छलादुपयतां जिनसेवनार्थम् ॥३७॥

जैनीत्यादि । जैनी जिनस्येयं जैनी जिनेश्वरसंबंधिनी । सभा संसत् । जिनपदांबुजसेवयैव जिनस्य पदे ते एवांबुजे जिनपदांबुजे तयोस्सेवा जिनपदांबुजसेवा तयैव जिनेश्वरचरणारविंदसेवनेनैव । वः युष्माकं । "पदाद्वाक्यस्वेत्यादिना" षष्ठी वसादेशः । नवकेवललब्धयः

केवलाश्च ताः लब्धयश्च तथोक्ताः नव च ताः केवललब्धयश्च तथोक्ताः सम्यक्त्वादिनवक्षायिकभावाः। मंक्षु शीघ्रं। सेत्स्यंति फलिष्यंतीति। षिधु संराद्धौ लट्। जिनसेवनार्थं जिनस्य सेवनं तस्मै इदं जिनाराधननिमित्तं। उपयतां उपयंतीत्युपयंतस्तेषां उपयतां आश्रयतां। उच्चैस्तूपच्छलात् उच्चैश्च ते स्तूपाश्च तथोक्ताः स्तूपा इति च्छलं तस्मात् उदग्रनवस्तूपव्याजात्। उन्नतनवांगुलिसंज्ञया नव च ताः अंगुलयश्च तथोक्ताः उन्नताश्च ताः नवांगुलयश्च तथोक्ताः उन्नतनवांगुलीनां संज्ञा तथोक्ता तया प्रांशुनवांगुलिसूचनया। एवं प्रकारेण बभौ इत्यध्याहारः। उत्प्रेक्षा॥ ३७॥

भा० अ०—जिनेन्द्र देव के चरण की सेवा करने से ही आप सवों के सम्यक्त्वादि नवक्षायिक भावों की प्राप्ति शीघ्र होगी इस बात को समवसरण जिनशरणागत भक्तों को जिनेन्द्र की सेवा के लिये ऊंचे २ नवस्तूपों के बहाने मानो लम्बो २ अँगुलियों से इशारा करती हुई कीसी ज्ञात होती थी। ३७।

रेजे विशालगणभूतलवेष्टितस्य पीठत्रयस्य शिरसि द्विपवैरिपीठम्॥
धर्तुं जिनेश्वरमुपागतभद्रशालरुद्धत्रिसानुकनकाचलचूलिकेव॥३८॥

रेज इत्यादि। विशालगणभूतलवेष्टितस्य भुवस्तलं भूतलं गणानां भूतलं गणभूतलं विशालं च तत् गणभूतलं च तथोक्तं विशालगणभूतलेन वेष्टितं तथोक्तं तस्य। पीठत्रयस्य त्रयोऽवयवा अस्येति त्रयं पीठानां त्रयं पीठत्रयं तस्य त्रिमेखलापीठस्य। शिरसि अग्रे। द्विपवैरिपीठं द्विपानां गणानां गजानां वैरिणो द्विपवैरिणस्तैर्धृतं पीठं सिंहासनं। जिनेश्वरं जिननाथं। धर्तुं धरणाय धर्तुं। उपागतभद्रशालरुद्धत्रिसानुकनकाचलचूलिकेव उपागच्छतिस्म उपागतः भद्रशालेन रुद्धो भद्रशालरुद्धः त्रयस्सानवो यस्य सः त्रिसानुः कनकरूपोऽचलः कनकाचलः त्रिसानुश्चासौ कनकाचलश्च तथोक्तः भद्रशालरुद्धश्चासौ त्रिसानुकनकाचलश्च तथोक्तः उपागतश्चासौ भद्रशालरुद्धत्रिसानुकनकाचलश्च तथोक्तः उपागतभद्रशालरुद्धत्रिसानुकनकाचलस्य चूलिका तथोक्ता सेव उपायातभद्रशालवेष्टितप्रस्थत्रयसहितमेरुचूलिकेव। रेजे बभौ। राजृ दीप्तौ लिट्। उत्प्रेक्षा॥ ३८॥

भा० अ०—विशाल द्वादश गणों की भूमि से परिवेष्टित, तीन पीठिकाओं के ऊपर स्थित सिंहासन मानो जिनेन्द्र भगवान् को धारण करने के लिये आये हुए भद्रशाल से वेष्टित तीन तटवाले सुमेरु की चूलिका के समान विराजमान हुआ। ३८।

तत्र त्रिकालविषयाखिलवस्तुवृत्तिसाक्षिप्रबोधमहसा सकलं स जानन्॥
जिज्ञासयोपगतसंघचतुष्टयस्य तज्ज्ञापनोत्सुकतयेव चतुर्मुखोऽस्थात्॥३९॥

तत्रेत्यादि । तत्र तस्मिन् सिंहपीठे । त्रिकालविषयाखिलवस्तुवृत्तिसाक्षिप्रबोधमहसा त्रयाणां कालानां समाहारः त्रिकालं तस्य विषयाः अखिलानि च तानि वस्तूनि च अखिलवस्तूनि त्रिकालविषयाश्च अखिलवस्तूनि च त्रिकालविषयाखिलवस्तूनि तेषां वृत्तिः उत्पादव्ययद्रव्यलक्षणवृत्तिः तथोक्ता तस्याः साक्षिप्रबोधस्तथोक्तः स एव महः त्रिकालविषयाखिलवस्तुवृत्तिसाक्षिप्रबोधमहस्तेन . त्रैकाल्यविषयनिखिलपदार्थसाक्षात्प्रबुध्यमानकेवलज्ञानतेजसा । सकलं निखिलं । जानन् जानातीति जानन् बुध्यमानः । सः मुनिसुव्रततीर्थंकरपरमदेवः । जिज्ञासया ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा तया ज्ञातुमिच्छया । उपगतसंघचतुष्टयस्य संघानां चतुष्टयं संघचतुष्टयं उपगच्छतिस्म उपगतं तच्च तत् संघचातुष्टयं च तथोक्तं तस्य आगतचतुस्संघस्य । तज्ज्ञापनोत्सुकतयैव तस्य ज्ञापनं उत्सुकस्य भावः उत्सुकता तज्ज्ञापने उत्सुकता तज्ज्ञापनोत्सुकता तया सकलवस्तुज्ञापनोद्युक्ततयैव । चतुर्मुखः चत्वारि मुखानि यस्य सः चतुर्मुखः चतुराननः सन् । अस्थात् अतिष्ठत । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लुङ् । उपमालंकारः ॥ ३९ ॥

भा० अ०—उस सिंहासन पर त्रिकाल-विषयक सभी पदार्थों का साक्षात् करने वाले केवल ज्ञान की प्रखरता से सभी बातों को जानते हुए मानो जानने की इच्छा से समुपस्थित चारो संघ को सूचित करने की उत्कण्ठासे ही चतुर्मुख होकर श्रीमुनिसुव्रतनाथ आसीन हुए । ३९ ।

भामंडलेन निकटोच्चलचामरेण संवेष्टितो दिवि जिनाधिपतिश्चकाशे ॥
हंसान्वितेन शरदंबुदमंडलेन नीलांबुवाह इव कोऽपि कृतोपवीतिः ॥४०॥

भामंडलेनेत्यादि । दिवि आकाशे । निकटोच्चलचामरेण उच्चलतीत्युच्चलं तच्च तच्चामरं च तथोक्तं निकटोच्चलचामरं तेन समीपे कंपमानप्रकीर्णकसहितेन । भामंडलेन प्रभावलयेन । परिवेष्टितः आवृतः । जिनाधिपतिः जिनानामधिपतिस्तथोक्तः जिनेश्वरः । हंसान्वितेन हंसैरन्वितं हंसान्वितं तेन हंसपक्षियुक्तेन । शरदंबुदमंडलेन शरदोऽम्बुदास्तेषां मंडलं शरदंबुदमंडलं तेन शरत्कालमेघव्यूहेन । कृतोपवीतिः कृता उपवीतिर्यस्य सः विहितावरणः । कोऽपि कश्चित् । नीलाम्बुवाह इव नीलश्चासौ अंबुवाहश्च तथोक्तस्स इव चकाशे बभौ । काश्टृ दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४०॥

भा० अ०—निकट में डोलते हुए और भामण्डल से परिवेष्टित श्रीमुनिसुव्रत स्वामी आकाश में हंस-युक्त शरत्कालीन मेघमण्डल से आच्छन्न नील जलद के समान सोभते थे ॥ ४० ॥

अस्याशरीरपदलिप्सुतयाऽशरीरं बोधासिना हतवतो भुवनैकमल्लम् ॥
वीरस्य पार्श्वमुपयांति तदा तदीयदिव्यायुधान्यनुचकार लतांतवृष्टिः ॥४१॥

अस्येत्यादि । तदा तत्समये । लतांतवृष्टिः लतांतस्य वृष्टिस्तथोक्ता पुष्पवृष्टिः । "पुष्पं प्रसवं कुसुमं प्रसूनमपि सुमनसो लतांतः फुल्लः" इति जयकीर्तिः । अशरीरपदलिप्सुतया अशरीरस्य पदं तथोक्तं लब्धुमिच्छुः लिप्सु अशरीरपदस्य लिप्सुः अशरीरपदलिप्सुः तस्य भावः तया अनंगपदविं सिद्धपदविं च लब्धुमिच्छुतया । भुवनैकमल्लं । एकश्चासौ मल्लश्चैकमल्लः भुवनस्य एकमल्लः भुवनैकमल्लः तं लोकमुख्यवीरं । अशरीरं न विद्यते शरीरं यस्य तं कामं । बोधासिना बोध एवासिर्बोधासिस्तेन सम्यग्ज्ञानखड्गेन । हतवतः हंतिस्म हतवान् तस्य विनाशितवतः । अस्य एकस्य । वीरस्य शूरस्य । पार्श्वं । उपयंति उपयंतीत्युपयंति स्वयमेव समीपं गच्छंति । तदीयदिव्यायुधानि दिव्यानि च तान्यायुधानि च तथोक्तानि तस्येमानि तदीयानि तदीयानि च तानि दिव्यायुधानि च तथोक्तानि पुनस्तानि कामसंबंधि-दिव्यशस्त्राणि । अनुचकार अनुकरोतिस्म । डुकृञ् करणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४१॥

भा० अ०—उस समय पुष्पवृष्टि ने सिद्धपद वा कामदेव के पदको पाने की इच्छासे ही संसार में एकमात्र शूरवीर कामदेव को सम्यग्ज्ञान-रूपी तलवारसे मारे हुए शूर-शिरोमणि श्रीमुनिसुव्रत स्वामी के निकट आते हुए कामदेव के दिव्य अस्त्रों का अनुकरण किया ॥४१॥

दिव्यध्वनिश्च सुरदुंदुभिनिस्वनश्च संत्यक्तशासनतदीयफलाभिलाषम् ॥
उत्पद्यमानमुभयं युगपज्जहार श्रोत्रं मनश्च सुतरां परिषज्जनानाम् ॥४२॥

दिव्यध्वनिरित्यादि । दिव्यध्वनिः दिवि भवो दिव्यः दिव्यश्चासौ ध्वनिश्च तथोक्तः दिव्यभाषा । च समुच्चयार्थः । सुरदुंदुभिनिस्वनश्च सुरस्य दुंदुभिस्तथोक्तः सुरदुंदुभेः निस्वनस्त-थोक्तः देवदुंदुभिध्वनिश्च । संत्यक्तशासनतदीयफलाभिलाषं तस्येदं तदीयं तच्च तत् फलं च तदीयफलं शासनं च तदीयफलं च शासनतदीयफले तयोरभिलाषस्तथोक्तः संत्य-ज्यतेस्म संत्यक्तः संत्यक्तः शासनतदीयफलाभिलाषो यस्मिन् कर्मणि तत् विरहितशा-स्त्रोपदेशाभिलाषं विहीनतज्जनितख्यातिलाभपूजाभिलाषं च यथा तथा । उत्पद्यमानं जायमानं । उभयं एतद्द्वयं । परिषज्जनानां परिषदि विद्यमाना जनास्तथोक्ताः तेषां समवसरणस्थित-भव्यलोकानां । श्रोत्रं श्रवणं । मनश्च मानसं च । सुतरां अत्यंतं । युगपत् सकृत् । जहार अपहरतिस्म । हृञ् हरणे लिट् ॥४२॥

भा० अ०—शासन तथा उसकी फलप्राप्ति की इच्छा-निवृत्ति-पूर्वक उस समय होती हुई दिव्यध्वनि तथा देव-दुन्दुभि-ध्वनि ने समवसरण में समागत सभी जीवों के कान और मन हठात् आकृष्ट कर लिये ॥४२॥

सर्वज्ञपादरतयो वयमप्यशोका मुग्धांघ्रिजातरतयः किल तेऽप्यशोकाः ॥
इत्यालपन्नलिनिनादपदादशोकः प्रत्युन्मिषत्कुसुमकैतवतो जहास ॥४३॥

सर्वज्ञेत्यादि। सर्वज्ञपादरतयः सर्वं जानातीति सर्वज्ञः तस्य पादौ सर्वज्ञपादौ तयोरतिर्येषां ते तथोक्ताः जिनेश्वरपादारविंदप्रीताः। वयमपि अशोकाः न विद्यते शोको येषां ते तथोक्ताः शोकरहिताः अशोकद्रुमाः। मुग्धांघ्रिजातरतयः मुग्धानामंघ्रयो मुग्धांघ्रयस्तेषु जाता रतिर्येषां ते तथोक्ताः रमणीनां पादप्रीतिसहिताः। तेपि इतरतरवश्च। अशोकाः किल शोकरहिताः किल अशोकवृक्षाः किल। इति एवं। अलिनिनादपदात् अलीनां निनादोऽलिनिनादः अलिनिनाद इति पदं तथोक्तं तस्मात् भ्रमरध्वनिव्याजात्। आलपन् अलपतीत्यालपन ब्रुवन्। अशोकः अशोकवृक्षः। प्रत्युन्मिषत्कुसुमकैतवतः प्रत्युन्मिषंति च तानि कुसुमानि च तथोक्तानि प्रत्युन्मिषत्कुसुमानीति कैतवं तथोक्तं प्रत्युन्मिषत्कुसुमकैतवम् ततः विकसत्कुसुमव्याजात्। जहास हसतिस्म। हसि हसने लिट्।

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र भगवान् के चरणारविन्द में भक्ति करनेवाले हम सब भी अशोक (अशोकवृक्ष) अर्थात शोक रहित हैं तथा ललनाओं के चरणों में रति रखनेवाले साधारण अशोकवृक्ष भी अशोक ही हैं—ऐसा वाग्विलास समवसरणस्थ अशोक वृक्षों ने आपस में किया ॥४३॥

छायां तिरस्कृतवतो जगदेकभर्तुः छायां प्रधातुमितमेतदलं ललज्जे ॥
छत्रत्रयं न यदि शारदनीरदाभं श्यामं जिनांगरुचिसंगनिभात्कुतोऽभूत् ॥४४॥

छायामित्यादि। छायां प्रतिबिंबं अनातपं च। तिरस्कृतवतः तिरस्करोतिस्म तिरस्कृतवान् तस्य निराकृतवतः। जगदेकभर्तुः एकश्चासौ भर्ता च एकभर्ता जगतामेकभर्ता तथोक्तस्तस्य लोकानां मुख्यस्वामिनः। छायां प्रतिछायां। प्रधातुं प्रधानाय प्रधातुं। इतं एतिस्म इतं गतं। शारदनीरदाभं शरदोऽयं शारदः नीरं ददातीति नीरदः शारदश्चासौ नीरदश्च तथोक्तः शारदनीरद इवाभातीति तथोक्तम् शरत्कालमेघसदृशं। एतत् इदं। छत्रत्रयं छत्राणां त्रयं छत्रत्रयं। यदि चेत्। अलं अत्यंतं। न ललज्जे न जिह्राय। तर्हि। जिनांगरुचिसंगनिभात् जिनस्यांगं जिनांगं तस्य रुचिः जिनांगरुचिः तस्यास्संगो-

जिनांगरुचिसंगः स एव निभस्तस्मात् जिनेश्वरावयवकांतिसंपर्कव्याजात् । श्यामं नीलं । कुतः कस्मात् कारणात् । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् । अनुमित्यलंकारः ॥४४॥

भा० अ०—प्रतिबिम्ब को तिरस्कृत किये हुए अर्थात् संसार के एकमात्र स्वामी श्री मुनिसुव्रतनाथ की कान्ति (छाया) की स्पर्द्धा करने के लिये समुपस्थित जो शरत्कालीन मेघवत् छत्रत्रय हैं, वे यदि अत्यन्त लज्जित नहीं होते तो जिनेन्द्र देव की अंगकान्ति से श्याम क्यों होते ? ॥४४॥

स्त्रीबालवृद्धनिवहोऽपि सुखं सभां तामंतर्मुहूर्तसमयांतरतः प्रयाति ॥
निर्याति च प्रभुमहात्मतयाऽश्रितानां निद्रामृतिप्रसवशोकरुजादयो न ॥४५॥

स्त्रीत्यादि । स्त्रीबालवृद्धनिवहोऽपि स्त्रियश्च बालाश्च वृद्धाश्च स्त्रीबालवृद्धास्तेषां निवहस्तथोक्तः वनितामाणवकवृद्धानां समूहोऽपि । तां सभां समवसरणं । अंतर्मुहूर्तसमयांतरतः मुहूर्तस्यांतः अंतर्मुहूर्तस्स चासौ समयश्च तथोक्तः अंतर्मुहूर्तसमयस्यांतरं अंतर्मुहूर्तसमयांतरं अंतर्मुहूर्तसमयांतरे अंतर्मुहूर्तसमयांतरतः अंतर्मुहूर्तकालमध्ये । प्रभुमहात्मतया महांश्चासौ आत्मा च महात्मा तस्य भावो महात्मता प्रभोर्महात्मता तया स्वामिसामर्थ्येन । प्रयाति गच्छति । निर्याति च आगच्छति च । आश्रितानां समवसरणगतप्राणिनां । निद्रामृतिप्रसवशोकरुजादयः निद्रा च मृतिश्च प्रसवश्च शोकश्च रुक् च तथोक्ताः निद्रामृतिप्रसवशोकरुजः आदयो येषां ते तथोक्ताः । न न भवेयुरित्यध्याहारः ॥४५॥

भा० अ०—स्त्री, बच्चे और वृद्ध सब के सब उस समवसरण सभा में अन्तर्मुहूर्त्त में ही सुखपूर्वक जाते आते थे । श्रीजिनेन्द्रदेव के प्रसाद से समवसरण में सम्मिलित किसी प्राणी को निद्रा, मृत्यु, प्रसव, शोक तथा रोगादिक नहीं होते थे ॥४५॥

मिथ्यादृशः सदसि तत्र न संति मिश्राः सासादनाः पुनरसंज्ञिवदप्यभव्याः ॥
भव्याः परं विरचितांजलयः सुचित्तास्तिष्ठंति देववदनाभिमुखं गणोर्व्याम् ॥४६॥

मिथ्यादृश इत्यादि । तत्र तस्मिन् । सदसि समवसणे । मिथ्यादृशः मिथ्या दृक् येषां ते तथोक्ताः मिथ्यादृष्टयः । मिश्राः सम्यग्मिथ्यादृष्टयः । सासादनाः सासादनसम्यग्दृष्टयः । पुनः पश्चात् । असंज्ञिवत् संज्ञास्त्येषामिति संज्ञिनः न संज्ञिनोऽसंज्ञिनस्त इव तथोक्ताः असंज्ञिप्राणिनो यथा न संतीति तथा । अभव्याः रत्नत्रयाविर्भवनयोग्या भव्याः न भव्या अभव्याः तथोक्ता अपि अभव्या अपि । न संति । परं केवलं । विरचितांजलयः विरचितोऽजलिर्यैस्ते तथोक्ताः संघटितकरकुड्मलाः । सुचित्ता सुष्ठु शोभनं चित्तं येषां ते तथोक्ताः भद्रमानसाः । भव्याः रत्नत्रयाविर्भवनयोग्या भव्याः । गणोर्व्यां गणानामूर्वी गणोर्वी तस्यां गणभूमौ ।

देववदनाभिमुखं देवस्य वदनानि देववदनानि तेषामभिमुखं यथा तथा । तिष्ठंतीति आसते । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लट् ॥ ४६ ॥

भा० अ० उस समवसरण सभा में मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि असंज्ञी और अभव्यजीव नहीं रहते थे। किन्तु द्वादश भूमि में केवल निर्मल चित्तवाले भव्यजीव ही बद्धाञ्जलि होकर जिनेन्द्रदेव के समक्ष रहते थे ॥४६॥

इत्यद्भुतां त्रिभुवनैकपतेः सभां तामागत्य वीक्ष्य निखिलं हरिणा जिनेंद्रम् ॥
आकीर्णपुष्पमवनम्य पुनर्ममज्जे हर्षांबुधौ भवसमुद्रतितीर्षुणापि ॥४७॥

इत्यद्भुतामित्यादि । त्रिभुवनैकपतेः त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनं एकश्चासौ पतिश्च एकपतिः त्रिभुवनस्यैकपतिस्त्रिभुवनैकपतिः तस्य त्रिजगन्नाथस्य । इति एवं प्रकारेण । अद्भुतां आश्चर्यरूपां । तां सभां समवशरणं । आगत्य आगमनं पूर्वं पश्चा० एत्य । निखिलं सकलं । वीक्ष्य दृष्ट्वा । आकीर्णपुष्पं आकिर्णानि पुष्पाणि यस्मिन्कर्मणि तत् प्रकीर्णपुष्पं यथा भवति तथा क्रियाविशेषणं तस्मान्नपुंसकं । जिनेंद्रं जिनेश्वरं । अवनम्य अवनमनं पूर्वं० प्रणम्य । भवसमुद्रतितीर्षुणापि भव एव समुद्रो भवसमुद्रः तर्त्तुमिच्छुः तितीर्षुः भवसमुद्रस्य तितीर्षुस्तथोक्तः तेन संसारसागरतरणाभिलाषुणापि । हरिणा देवेंद्रेण । पुनः भूयः । हर्षांबुधौ हर्ष एवांबुधिर्हर्षांबुधिस्तस्मिन् संतोषसमुद्रे । ममज्जे मग्ने । टुमस्जो शुद्धौ कर्मणि लिट् । रूपकालंकारः ॥४७॥

भा० अ०—त्रिलोकीपति श्रीजिनेन्द्र देव की उस अलौकिक सभामें आ सभी पदार्थों को देखकर देवेन्द्र पुष्प-वृष्टि-पूर्वक श्रीमुनिसुव्रतनाथ की वन्दना करके संसार-समुद्र को तैरनेकी इच्छा करते हुए भी हर्षसमुद्र में गोता लगाने लगे ॥४७॥

सक्षायिकाचलदृशोज्ज्वलसंयमेन सप्तर्धिसम्यगवबोधचतुष्कभाजा ॥
श्रीमल्लिषेणगणनाथ तदीरितेन पृष्टः समस्तविदसौ निजगाद तत्त्वम् ॥४८॥

सक्षायिकेत्यादि । अथ अनंतरे । सक्षायिकाचलदृशा अचला चासौ दृक्च अचलदृक् क्षायिकी चासौ अचलदृक्च क्षायिकाचलदृक् तया सह वर्तत इति सक्षायिकाचलदृक् तेन निश्चलक्षायिकसम्यक्त्वयुक्तेन । उज्ज्वलसंयमेन उज्ज्वलः संयमो यस्य सः तेन निरतिचारचारित्रसहितेन । सप्तर्धिसम्यगवबोधचतुष्कभाजा सम्यञ्चश्च ते अवबोधाश्च सम्यगवबोधाः तेषां चतुष्कं सम्यगवबोधचतुष्कं सप्त च ता ऋद्धयश्च सप्तर्धयः सप्तर्धयश्च सम्यगवबोधचतुष्कं च तथोक्तानि भजतिस्म सप्तर्धिसम्यगवबोधचतुष्कभाक् तेन ।

तदीरितेन तेनेरितस्तदीरितस्तेन देवेंद्रेण प्रेरितेन । श्रीमल्लिनाथगणिना गणोऽस्यास्तीति गणी श्रिया उपलक्षितो मल्लिनाथः श्रीमल्लिनाथः स चासौ गणी च श्रीमल्लिनाथगणी तेन । ज्ञानवैराग्यसंपद्युक्तमल्लिनाथगणधरेण । पृष्टः पृच्छतिस्म पृष्टः वशिव्यचीत्यादिना यत्र् इक् । विज्ञापितः । असौ अयं । समस्तविद् समस्तं वेत्तीति तथोक्तः सर्वज्ञः । तत्त्वं जीवादिस्वरूपं । निजगाद निरूपयामास । गद् व्यक्तायां वाचि लिट् ॥४८॥

भा० अ०—स्थिर क्षायिक सम्यक्त्व से युक्त, निरतिचार चारित्रसहित, सात ऋद्धियों और चार सम्यग्ज्ञान के पात्र तथा देवेन्द्र से प्रेरित श्रीमल्लिनाथ गणि से प्रार्थित किये गये सर्वज्ञ देव ने जीवाजीवादि तत्त्वों को निरूपित किया ॥४८॥

अथ समयविदींद्रादेशतो वाद्यदेवैर्विनिहतजिनसंख्योदारभेरिप्रणादः ॥
विघटितगिरिसंधिर्विश्वविश्वैकभर्तुस्त्रिभुवनमपि यात्रारंभमावेदयत्तम् ॥४६॥

अथेत्यादि । अथ तत्त्वनिरूपणानंतरे । विघटितगिरिसंधिः गिरीणां संधिर्गिरिसंधिः विघटितो गिरिसंधिर्येन सः तथोक्तः । समयविदीन्द्रादेशतः समयं वेत्तीति तथोक्तः समयविच्चासाविंद्रश्च समयविदींद्रस्तस्यादेशतः श्रीविहारकालज्ञदेवेन्द्राज्ञया । वाद्यदेवैः वाद्यस्य देवा वाद्यदेवास्तैः किल्विषदेवैः । विनिहतजिनसंख्योदारभेरिप्रणादः उदाराश्च ताः भेर्यश्च तथोक्ताः जिनानां संख्या यासां तास्तथोक्ताः जिनसंख्याश्च ताः उदारभेर्यश्च तथोक्ताः विनिहन्यंते स्म विनिहताः ताश्च ता जिनसंख्योदारभेर्यश्च विनिहतजिनसंख्योदारभेर्यस्तासां प्रणादस्तथोक्तः प्रहतचतुर्विंशतिमहद्भेरिध्वनिः । विश्वविश्वैकभर्तुः विश्वश्च विश्वश्च विश्वविश्वं एकश्चासौ भर्ता च एकभर्ता विश्वविश्वस्य एकभर्ता तथोक्तस्तस्य समस्तमुख्यस्वामिनः अथवा विश्वे च ते विश्वाश्च विश्वविश्वास्तेषां भर्ता तस्य त्रिलोकस्वामिनः । "नागरवचोजगत्समस्तेषु विश्वः" इति नानार्थरत्नकोशे । तं प्रकृतं । यात्रारंभं यात्राया आरंभो यात्रारंभस्तं श्रीविहारप्रारंभं । त्रिभुवनमपि त्रिजगदपि । आवेदयत् अवेदि कश्चित्तमन्यः प्रायुंक्तेत्यावेदयत् । विद ज्ञाने णिज्लाङ् ॥ ४६ ॥

भा० अ०—तत्त्वनिरूपण के बाद समयज्ञ अर्थात् भगवान् के विहारसम्बन्धी समय को जाननेवाले इन्द्रके आदेशानुसार किल्विष देवों-द्वारा बजायी गयी तथा पर्वतों को विदीर्ण किये हुई बड़ी २ भेरियों की चौबीस ध्वनियों ने त्रिभुवनपति श्रीमुनिसुव्रतनाथ की यात्रा के समारंभ की घोषणा से समस्त संसार को विज्ञप्त किया ॥४६॥

समवसरणमभ्रे भव्यपुण्यैश्चचाल स्फुटकनकसरोजश्रेणिना लोकवंद्यः ॥
सुरपतिरपि सर्वान् जैनसेवानुरक्तान् कलितकनकदंडो योजयन्स्वस्वकृत्ये॥५०॥

समवसरणमित्यादि । समवसरणं समवसृतिः । भव्यपुण्यैः भव्यानां पुण्यानि भव्यपुण्यानि तैः विनेयजनसुकृतैः । अभ्रे आकाशे । चचाल इयाय । चल कंपने लिट् । लोकवंद्यः लोकैर्वंद्यस्तथोक्तः त्रैलोक्यस्तुत्यो जिनः । स्फुटकनकसरोजश्रेणिना सरसि जायंत इति सरोजानि कनकानि च तानि सरोजानि च तथोक्तानि स्फुटानि च तानि कनकसरोजानि च तथोक्तानि स्फुटकनकसरोजानां श्रेणिस्तेन विकसदरुणारविंदश्रेणिना । चचाल । कलितकनकदंडः कल्यतेस्म कलितः कलितः कनकदंडो यस्य सः तथोक्तः स्वीकृतसुवर्णदंडसहितः । सुरपतिः सुराणां पतिस्तथोक्तः । जैनसेवानुरक्तान् जिनस्येयं जैनी सा चासौ सेवा च जैनसेवा मानिन्यैकार्थयोरित्यादिना पुंवद्भावः अनुरज्यंतेस्म अनुरक्ताः जैनसेवायामनुरक्तास्तान् जिनेश्वराराधनायां प्रीतान् । सर्वानपि सकलानपि । स्वस्वकृत्ये स्वे च स्वे च स्वस्वे तेषां स्वस्वकृत्यं तस्मिन् निजनिजकार्ये "वीप्सायाम्" इति द्विः । योजयन् योजयतीति तथोक्तः प्रेरयन् । चचाल । मध्यदीपिकालंकारः ॥ ५० ॥

भा० अ०—भव्य जीवों के पुण्यों से समवसरणसभा आकाश मार्ग से चली और विकसित रत्न कमलों के ऊपर त्रिभुवनवन्द्य श्रीमुनिसुव्रत नाथ भी चले तथा साथही साथ सुवर्णदण्डधारी इन्द्र भी जिनसेवानुरक्त सभी लोगोंको अपने २ काममें लगाते हुए चल पड़े ॥५०॥

सितचमररुहाली पार्श्वयोश्चिक्षिपाते सुधिय उपरि शुभ्राण्यातपत्राणि देवैः ॥
उदध्रियत तथाष्टौ मंगलान्यप्सरोभिर्दिशि दिशि धृतमग्रे धर्मचक्रं च यक्षैः॥५१॥

सितचमरेत्यादि । सितचमररुहाली चमरेषु रोहंतीति चमररुहाणि "चमरं चामरे प्राहुर्मंजरोमृगभेदयोः।" इति विश्वः । सितानि च तानि चमररुहाणि च तथोक्तानि तेषामावली द्विवचनं शुभ्रचमरश्रेणी । सुधियः शोभना धीर्यस्मात् भव्यजनानां भवतीत्यसौ सुधीः तस्य जिनेश्वरस्य । पार्श्वयोः उभयपार्श्वयोः । चिक्षिपाते विक्षिपेतेस्म क्षिप प्रेरणे लिट् । शुभ्राणि श्वेतानि । आतपत्राणि । उपरि ऊर्ध्वभागे । देवैः सुरैः । उदध्रियत उध्रियंतेस्म । धृङ् धारणे कर्मणि लुङ् । तथा तेन प्रकारेण । दिशि दिशि दिशायां दिशायां । अप्सरोभिः देवगणिकाभिः । अष्टमंगलानि भृंगाराद्यष्टमंगलानि । उदध्रियत । अग्रे पुरः । यक्षैः यक्षदेवैः । धर्मचक्रं धर्मरूपं चक्रं तथोक्तं । धृतं भृतं ॥ ५१ ॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र देव के दोनों ओर चमर डुलाये जाने लगे, ऊपर से देवोंने छत्र लगाया । अप्सरायें प्रत्येक दिशा में भृंगारादि अष्टमंगल द्रव्य लेकर खड़ी थीं तथा यक्षोंने बड़ी दृढ़ताके साथ धर्म-चक्र धारण किया था ॥५१॥

सपदि पवनदेवाः शर्करालोष्टधूलिक्रिमितृणमपनिन्युर्भूतलान्मेघदेवाः ॥
सुरभिसलिलसेकं चक्रुरेतेदमासीन्मुकुरदलवदच्छाकाशदिक्स्पर्धयेव ॥५२॥

सपदीत्यादि । पवनदेवाः पवनाश्च ते देवाश्च तथोक्ताः वायुकुमाराः । शर्करालोष्टधूलिक्रिमितृणम् शर्करा च लोष्टश्च धूलिश्च क्रमिश्च तृणश्चापि तथोक्तानि तेषां समाहारस्तथोक्तं । भूतलात् भुवस्तलं भूतलं तस्मात् भूप्रदेशात् । सपदि सत्वरं । अपनिन्युः निवारयांचक्रुः । णीङ् प्रापणे लिट् । अत्र अस्मिन् भूतले । मेघदेवाः मेघकुमाराः । सुरभिसलिलसेकं सुरभि च तत् सलिलं च तथोक्तं सुरभिसलिलस्य सेकस्तथोक्तः तं परिमलकलितजलसेचनं । चक्रुः विदधुः । डुकृञ् करणे लिट् । इदं भूतलं । अच्छाकाशदिक्स्पर्धयेव आकाशश्च दिशश्च आकाशदिशः अच्छाश्च ता आकाशदिशश्च तथोक्ताः आच्छाकाशदिग्भिस्सह स्पर्धा तयेव निर्मलगगनदिग्भिस्साकं मात्सर्येणेव । बभुरिति यावत् । मुकुरतलवत् मुकुरस्य तलं तथोक्तं मुकुरतलमिव सम्मुखीनतलवत् । आसीत् अभवत् । अस भुवि लङ् । उपमा ॥५२॥

भा० अ०—पवन देवों ने पृथ्वीसे कंकड़ी, रोड़े धूलि, कीड़े, तथा तिनके शीघ्र हटाकर जिनेन्द्र देव के प्रयाण-मार्ग-को परिष्कृत कर दिया । मेघों ने उसे सुगन्धित जलसे सिञ्चन किया तथा आकाश और दिशायें मानों स्पर्धासे आयने की ऐसी स्वच्छ होगयी ॥५२॥

धरणिरमरवृष्टैरुद्गमैस्सोपहारासुरमणिमकुटार्चिःशक्रचापार्चितं खम् ॥
सुरनरजयशब्दस्तोत्रकिर्मीरभेरीमुखरवमुखरं चाप्यास दिक्चक्रवालम् ॥५३॥

धरणिरित्यादि । अमरवृष्टैः वर्षन्तिस्म वृष्टाः अमरैर्वृष्टा अमरवृष्टाः तैः । उद्गमैः पुष्पैः । "लतांतं प्रसवोद्गमम्" इति धनंजयः । धरणिः भूमिः । सोपहारा उपहारेण सह वर्तत इति तथोक्ता पूजासहिता । आस बभूव । खं आकाशं । सुरमणिमुकुटार्चिःशक्रचापार्चितं सुराणां मणिमकुटानि तथोक्तानि तेषां अर्चींषि तथोक्तानि शक्रस्य चापं शक्रचापं सुरमणिमकुटार्चींष्येव शक्रचापं तथोक्तं अर्च्यतेस्म अर्चितं सुरमणिमकुटार्चिःशक्रचापेनार्चितं तथोक्तं देवानां रत्नमौलिकिरणेंद्रचापेन पूजितं । आस बभूव । दिक्चक्रवालं चापि दिशां चक्रवालं तथोक्तं दिग्मंडलं । "चक्रवालं तु मंडलम्" इत्यमरः । सुरनरजयशब्दस्तोत्रकिर्मीरभेरिमुखरवमुखरं च सुराश्च नराश्च सुरनराः जयेति शब्दो जयशब्दः जयशब्दश्च स्तोत्रश्च जयशब्दस्तोत्रे सुरनराणां जयशब्दस्तोत्रे ताभ्यां किर्मीरस्तथोक्तः भेरीणां मुखं भेरीमुखं तस्य रवः सुरनरजयशब्दस्तोत्रकिर्मीरश्चासौ भेरीमुखरवश्च तथोक्तः सुरनरजयशब्दस्तोत्र-

किर्मीरभेरीमुखरवेण मुखरं तथोक्तं । देवमनुष्यजयनिनादस्तुतिमिश्रितभेरिमुखरवध्वनिना वाचाटं । आस बभूव । दीपकालंकारः । ॥५३॥

भा० अ०—देवतावों से की गयी पुष्पवृष्टि से पृथ्वी उपहार-सहित ज्ञात होने लगी। आकाश-मण्डल भी देवताओं के मणिमय मुकुट की ज्योतिरूप इन्द्रधनुष से शोभित होता हुआ देवता और मनुष्यों की जयशब्द-स्तुति-मिश्रित भेरी भांकार से मुखरित होगया ॥५३॥

गलितचिरविरोधाः प्राप्तवंतश्च मैत्रीं मिथ इव जिनसेवालंपटात्संपदिद्धाः ॥
षडपि च ऋतवस्ते तत्र तत्रान्वगच्छन् व्यवहरदयमीशो यत्र यत्रैव देशे ॥५४॥

गलितेत्यादि । अयं एषः । ईशः स्वामी । यत्र यत्रैव यस्मिन् यस्मिन्नेव । देशे जनपदे । व्यवहरत् व्यवगमत् । तत्र तस्मिन् तस्मिन् वीप्सायामिति द्विः । गलितचिरविरोधाः गलतिस्म गलितः चिरं स्थितो विरोधश्चिरविरोधः गलितश्चिरविरोधो येभ्यस्ते तथोक्ताः विगतबहुकालस्थितविरोधभावाः । मैत्रीं मित्रस्य भावो मैत्री तां "युवादिहायनान्तादण्" इत्यनेनाण् मित्रभावं । मिथः इव अन्योन्यमिव । प्राप्तवंतश्च प्राप्नुवंतिस्म प्राप्तवंतः यातवन्तः । जिनसेवालंपटात् जिनस्य सेवा जिनसेवा तस्या लंपटस्तथोक्तस्तस्मात् जिनेशस्याराधनाया आसक्तेः । संपदिद्धाः संपदा इद्धास्तथोक्ताः ऐश्वर्येण प्रथिताः । षडपि ते ऋतवः हेमंतादिषड्तवोऽपि । अन्वगच्छन् अन्वायन् गम्लृ गतौ लङ् । षड्तूनां युगपदागमनत्वमेव विरोधरहितत्वमित्यर्थः ॥५४॥

भा० अ०—श्रीमुनिसुव्रत नाथ ने जहाँ २ विहार किया वहाँ २ के जीवों ने चिरशत्रुता छोड़कर मैत्री करली। जिनेन्द्र भगवान की सेवा में अनुरक्त होने से लोग भट सम्पत्तिशाली हो गये। तथा छः हो ऋतुएं परस्पर एक ही बार मिलीं;—अर्थात् सभी ऋतुओं ने एकही वार अपने २ सामयिक ऋतु-सम्बन्धी दृश्य दिखलाये ॥५४॥

न परमखिललोकः प्रातिकूल्यं विहाय त्रिभुवनतिलकं तं वायुरप्यन्वियाय ॥
दिविजसरसि मग्नः पुष्पगंधोपवाही मधुकरकुलशब्दच्छद्मना संस्तुवानः ॥५५॥

नेत्यादि । अखिललोकः अखिलश्चासौ लोकश्च तथोक्तः सकलजनः । प्रातिकूल्यं प्रतिकूलस्य भावः प्रातिकूल्यं प्रतिकूलत्वं । विहाय विहानं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति त्यक्त्वा । तं त्रिभुवनतिलकं त्रिभुवनैकतिलकः त्रिभुवनतिलकस्तं त्रिजगच्छ्रेष्ठं । परं केवलं । अन्वियाय अनुजगाम । इण् गतौ लिट् । किंतु पुष्पगंधोपवाहो पुष्पस्य गन्धः पुष्पगन्धः पुष्पगंधमुपवहतीत्येवं शीलस्तथोक्तः कुसुमपरिमलधारी । दिविजसरसि दिविजं सरो दिविजसरस्तस्मिन् दिव्यगंधायां । मग्नः मज्जतिस्म मग्नः स्नातः । मधुकरकुलशब्दच्छद्मना

मधुकराणां कुलं मधुकरकुलं तस्य शब्दस्तथोक्तः मधुकरकुलशब्द एव छद्म तथोक्तं तेन। संस्तुवानः संस्तुवत इति संस्तुवानः सन्नुवानः। वायुः मारुतोऽपि। अपिशब्दस्समुच्चयार्थः। अन्वियाय अनुजगाम। अत्र वायोः शैत्यसौरभ्यमांद्यलक्षणानि लक्ष्यंते। दीपकः ॥५५॥

भा० अ०—विरोध छोड़कर केवल सभी लोगों ने ही त्रिभुवन-श्रेष्ठ श्रीजिनेन्द्र देव का नहीं अनुसरण किया प्रत्युत दिव्य सुगन्ध में सनकर पुष्पगन्ध को ढोती हुई वायु ने भी भ्रमर-समूह के गुंजार के बहाने स्तुति-द्वारा उनका अनुगमन किया ॥२५॥

अपि च सदसि भर्तुः कच्छपांकस्य रेजुः सवरुणबहुरूपिण्यन्वहाराधितस्य ॥
गणधरपदभाजोऽष्टादशैतच्छतांका न परमवधिनेत्राः केवलज्ञानिनोऽपि ॥५६॥

अपीत्यादि। अपि च किंतु। सवरुणबहुरूपिण्यन्वहाराधितस्य वरुणेन सह वर्तत इति सवरुणा सा चासौ बहुरूपिणी च सवरुणबहुरूपिणी अहरहरनु अन्वहं आराध्यतेस्म आराधितः अन्वहमाराधितस्तथोक्तः सवरुणबहुरूपिण्यन्वहाराधितस्तथोक्तस्तस्य वरुणयक्ष-बहुरूपिणीयक्षीभ्यां सततं पूजितस्य। कच्छपांकस्य कच्छप एव अंको यस्य सः तस्य कूर्मलांछनस्य। भर्तुः जिनेश्वरस्य। सदसि सभायां। अष्टादश अष्टभिरधिका दश तथोक्ताः "द्व्यष्टात्रय" इत्यादिनाष्टादेशः। गणधरपदभाजः गणान् धरतीति गणधरस्तस्य पदं गणधरपदं तद्भजंतीति तथोक्ताः गणधरपदवीं संप्राप्ताः गणधरा इत्यर्थः। रेजुः बभुः। राजृ दीप्तौ लिट्। एतच्छतांकाः एतेषां शतं एतच्छतं तदेवांको येषां ते तथोक्ताः अष्टादशवारशतप्रमिताः शताष्टकाधिकसहस्रप्रमिता इत्यर्थः। अवधिनेत्रा अवधिरेव नेत्रं येषां ते तथोक्ताः। न परं न केवलं रेजुः। किंतु केवलज्ञानिनोऽपि केवलं च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानं तदस्त्येषामिति तथोक्ताः तेपि तावंत एवेत्यर्थः। रेजुः बभुः ॥५६॥

भा० अ०—वरुण, यक्ष तथा बहुरूपिणी यक्षी से प्रतिदिन पूजित और कच्छप-लाञ्छनाङ्कित श्रीमुनिसुव्रत नाथ की समवसरण सभा में अट्ठारह गणधर विराजमान हुए थे। अट्ठारह सौ अवधिज्ञानी भी सुशोभित हो रहे थे; केवल अवधिज्ञानी ही नहीं केवल ज्ञानी भी उतने ही थे ॥५६॥

शतविगलितमाना वादिनस्तुर्यबोधास्त्रिशतगलितसंख्या विक्रियर्धिप्रसिद्धाः ॥
अधिकशतचतुष्काः केवलिभ्यो बभूवुस्त्वधिगतदशपूर्वास्तुर्यबोधत्रिभागाः ॥५७॥

शतेत्यादि। केवलिभ्यः सकाशात्। शतविगलितमानाः शतेन विगलितः तथोक्तः शतविगलितः मानः येषां ते तथोक्ताः केवलज्ञानप्रमाणाच्छतरहितप्रमाणाः सप्तशताधिकसह-

स्रप्रमिता इत्यर्थः । वादिनः महावादिनः । त्रिशतगलितसंख्याः त्रीणि च तानि शतानि च त्रिशतानि तैर्गलिता संख्या येषां ते तथोक्ताः शतत्रयरहितकेवलज्ञानिप्रमाणाः पंचशताधिकसहस्रमाना इत्यर्थः । तुर्यबोधाः चतुर्णां पूरणः तुर्यः तुर्यो बोधो येषां ते तथोक्ताः मनःपर्ययज्ञानिनः । अधिकशतचतुष्काः शतानां चतुष्कं शतचतुष्कं अधिकं शतचतुष्कं येषां ते तथोक्ताः चतुःशताधिककेवलिप्रमाणाः द्विशताधिकद्विसहस्रपरिमिता इत्यर्थः । विक्रियर्धिप्रसिद्धाः विक्रियां चासौ ऋद्धिश्च विक्रियर्धिस्तया प्रसिद्धाः विक्रियर्धिप्रतीताः । तुर्यबोधत्रिभागाः तुर्यो बोधो येषां ते तुर्यबोधास्तेषां त्रयो भागा येषां ते तथोक्ताः पंचशतप्रमिता इत्यर्थः । अधिगतदशपूर्वाः दश च तानि पूर्वाणि च दशपूर्वाणि अधिगम्यन्तेस्म अधिगतानि दशपूर्वाणि यैस्ते तथोक्ताः ज्ञातदशपूर्वाः दशपूर्वधराः । बभूवुः भवंतिस्म भू सत्तायां लिट् ॥ ५७ ॥

भा० अ०—वहाँ वादी तथा महावादी सत्रह सौ, मनःपर्ययज्ञानी पन्द्रह सौ, विक्रिया-ऋद्धिसे प्रसिद्ध देवगण तथा मुनिगण बाईस सौ और पांच सौ वहां दशपूर्व के धारक थे ॥ ५७ ॥

त्रिहतहयसहस्राण्यर्धलक्षं च लक्षं त्रिगुणितमपि लक्षं शिक्षकाश्चार्यकाश्च ॥
उपगतगृहमेधाः श्राविकाश्चाप्यसंख्याः सुरसुरसुकुमार्यः प्राप्तसंख्या मृगाश्च॥५८॥

त्रिहतेत्यादि । त्रिहतहयसहस्राणि हयसंख्याप्रमितानि सहस्राणि हयसहस्राणि त्रिभिर्हतानि तानि च तानि सहस्राणि च तथोक्तानि एकविंशतिसहस्राणि । शिक्षकाः उपदेशकाः । अर्धलक्षं लक्षस्यार्धं अर्धलक्षं । आर्यकाः । लक्षं एकलक्षं । उपगतगृहमेधाः उपगता गृहमेधा येषां ते तथोक्ताः श्रावकाः । त्रिगुणितं त्रिभिर्गुणितं तथोक्तं । लक्षमपि त्रिलक्षाणीत्यर्थः । श्राविकाश्चापि । असंख्याः न विद्यते संख्या यासां ताः तथोक्ताः असंख्याताः । सुरसुरसुकुमार्यश्च सुराणां सुकुमार्यः सुरसुकुमार्यः सुराश्च सुरसुकुमार्यश्च तथोक्ताः देवदेव्यः । प्राप्तसंख्याः प्राप्ता संख्या यैस्ते तथोक्ताः संख्याताः । मृगाश्च तिर्यंचः । बभूवुः ॥ ५८ ॥

भा० अ०—वहां इक्कीस हजार उपदेशक, पचास हजार आर्य का, एक लक्ष श्रावक, तीन लक्ष श्राविकायें, असंख्य देव और देवांगनायें तथा प्राप्त संख्या वाले पशु पक्षी आदि तिर्यग्योनि के जीव भी थे ॥५८॥

इति विषयमशेषं विश्ववंद्यो विहृत्य त्रिचरणपरिशिष्टं नूनमब्दायुतं सः ॥
सुजनहृदयवप्रेप्रूप्ततत्त्वार्थसस्यः प्रविशदमणिचूलं प्राप संमेदशैलम् ॥५९॥

इतीत्यादि । विश्ववंद्यः विश्वैर्वंद्यः विश्ववंद्यः सकलैः स्तुत्यः । सुजनहृदयवप्रेषु शोभना जनाः सुजनाः तेषां हृदयानि तथोक्तानि सुजनहृदयान्येव वप्राणि सुजनहृदयवप्राणि तेषु भव्यचित्तक्षेत्रेषु । उप्ततत्त्वार्थसस्यः तत्त्वानि चार्थाश्च तत्त्वार्थाः यद्वा तत्त्वानां अर्थास्तत्त्वार्थास्त एव सस्यानि तथोक्तानि उप्यंतेस्म उप्तानि तत्त्वार्थसस्यानि येन सः तथोक्तः उप्तसप्ततत्त्वनवपदार्थसस्यः। सः जिनेश्वरः। अशेषं न विद्यते शेषो यस्य तं निःशेषं। विषयं देशं। त्रिचरणपरिशिष्टं त्रयश्च ते चरणाश्च त्रिचरणास्तैः परिशिष्टं तथोक्तं त्रिपादावशिष्टं नूनं किंचिद्विहीनम् त्रयोदशमासविकलमित्यर्थः । अब्दायुतं अब्दानामयुतं दशवर्षसहस्रपर्यंतं। इति एवं प्रकारेण। विहृत्य विहरणं पूर्वं पश्चात्किं चिदिति। प्रविशदमणिचूलं मणिमयी चूला मणिचूला प्रविशदा मणिचूला यस्य तं। संमेदशैलं संमेदश्चासौ शैलश्च संमेदशैलस्तं संमेदपर्वतं। प्राप प्रययौ। आप्लृ व्याप्तौ लिट् ॥ ५९ ॥

भा० अ०—सभी भविकों के चित्त रूपी क्षेत्र में तत्त्वरूपी बीजको वपन किये हुए लोकपूज्य श्रीजिनेन्द्र देव तेरह महीने कम दसहजार वर्षों तक सभी देश में यों विहार कर मणिमय शिखर वाले श्री सम्मेदाचल को पधारे ॥ ५९ ॥

तत्र स्थित्वैकमासं व्यपगतविहृतिः फाल्गुने कृष्णपक्षे।
द्वादश्यामर्धरात्रे सदशशतमुनिर्जन्मभेऽघात्यरातीन् ॥
आरूढायोगिधामा द्विचरमसमये सप्ततिं द्विप्रयुक्तां।
शुक्लध्यानासियष्ट्या सचरमसमये वृत्तसंख्यान्जघान ॥६०॥

तत्रेत्यादि। तत्र तस्मिन् पर्वते। व्यपगतविहृतिः व्यपगता विहृतिर्यस्य सः तथोक्तः निरुद्धश्रीविहारः। सदशशतमुनिः दश वारान् शता दशशतास्ते च ते मुनयश्च दशशतमुनयस्तैः सह वर्तत इति तथोक्तः सहस्रमुनिभिर्युक्तः सन्। एकमासं एकश्चासौ मासश्च एकमासस्तं एकमासपर्यंतं। स्थित्वा। फाल्गुने फाल्गुनमासे। कृष्णपक्षे अपरपक्षे। द्वादश्यां। अर्धरात्रे रात्रेरर्धमर्धरात्रं तस्मिन्। "पुण्यवर्षादीर्घसंख्यानैकाद्रात्रेः" इत्यनेनात्प्रत्ययः। जन्मभे जन्मनो भं जन्मभं तस्मिन् श्रवणनक्षत्रे। आरूढायोगिधाम आरुह्यतेस्म आरूढं अयोगिनो धाम अयोगिधाम आरूढं अयोगिधाम येन सः तथोक्तः आरूढायोगिगुणस्थानस्सन्। सः जिनेश्वरः। द्विप्रयुक्तां द्वाभ्यां प्रयुक्ता तथोक्ता तां द्विसहितां द्वासप्ततिमित्यर्थः। अघात्यरातीन् अघातिन एवारयः तथोक्ताः तान् अघातिशत्रून्। द्विचरमसमये द्वौ चरमौ यस्य सः द्विचरमश्चासौ समयश्च तथोक्तः तस्मिन उपांत्यसमये। शुक्लध्यानासियष्ट्या शुक्लं च तत ध्यानं च शुक्लध्यानं असेर्यष्टिरसियष्टिः शुक्लध्यानमेवासियष्टिस्तथोक्ता तया शुक्लध्यान-

खङ्गलतया। जघान् हंतिस्म हन हिंसागत्योः लिट् । चरमसमये चरमश्चासौ समयश्च चरमसमयस्तस्मिन्। वृत्तसंख्यान् वृत्तस्य त्रयोविधचारित्रस्य संख्या येषां ते तथोक्तास्तान् त्रयोदशघात्यरीन्। जघान ॥६०॥

भा० अ०—एक हजार मुनियों के सहित श्रीमुनिसुव्रत-नाथ ने अपनी विहार-क्रिया समाप्त किये हुए एक महीने तक उस सम्मेदाचल पर्वत पर रह कर फाल्गुन मास कृष्ण पक्ष द्वादशी तिथि तथा श्रवण नक्षत्र में अयोगिगुणस्थान को प्राप्तकर लगभग अन्त्य समय में शुक्ल ध्यानरूपी खङ्ग से बहत्तर अघातिया शत्रुओं तथा तेरह घातियाँ शत्रुओं को नष्ट कर दिया ॥६०॥

ईषत्प्राग्भारसंज्ञेऽष्टमधरणितले मर्त्यलोकप्रमाणे ।
सिद्धक्षेत्रे विशुद्धः स जयति तनुवातांत्यभागे कृतौकाः ॥
किंचिन्न्यूनांत्यदेहप्रमितिघननिजाकारभाक् क्षायिकैः स्वैः ।
सम्यक्त्वाद्यैरुपेतोऽष्टभिरमितसुखापादकैरस्तकर्मा ॥६१॥

ईषदित्यादि। ईषत्प्राग्भारसंज्ञे ईषत्प्राग्भार इति संज्ञा यस्य तस्मिन् ईषत्प्राग्भारनामधेये। अष्टमधरणितले अष्टमी चासौ धरणिश्च अष्टमधरणिस्तस्यास्तलं तस्मिन् "मानिस्त्रैकार्थयोः" इत्यादिना पुंवद्भावः अष्टमभूमिप्रदेशे। मर्त्यलोकप्रमाणे मर्त्यस्य लोकस्तथोक्तः मर्त्यलोकस्य प्रमाणं यस्य तत् तस्मिन् मनुष्यलोकप्रमिते। सिद्धक्षेत्रे सिद्धानां क्षेत्रं सिद्धक्षेत्रं तस्मिन्। तनुवातांत्यभागे तनुरिति वातस्तनुवातः अंत्यश्चासौ भागश्च अंत्यभागः तनुवातस्यांतभागस्तनुवातांत्यभागस्तस्मिन् तनुवातचरमभागे। कृतौकाः क्रियतेस्म कृतं कृतमोको येन सः तथोक्तः विहितनिलयः। अस्तकर्मा अस्यंतिस्म अस्तानि अस्तानि कर्माणि यस्य सः व्यपगतसकलकर्मविशुद्धः अपगतद्रव्यभावकर्मत्वादिविशुद्धः। किंचिन्न्यूनांत्यदेहप्रमितिघननिजाकारभाक् किंचित् न्यूनः किंचिन्न्यूनः अंत्यश्चासौ देहश्च अंत्यदेहः तस्य प्रमितिरंत्यदेहप्रमितिः किंचिन्न्यूनांत्यदेहप्रमितिर्यस्य सः तथोक्तः निजश्चासावाकारश्च तथोक्तः घनश्चासौ निजाकारश्च तथोक्तः किंचिन्न्यूनांत्यदेहप्रमितिश्चासौ घननिजाकारश्च तथोक्तः तं भजतिस्म तथोक्तः किंचिन्मात्रन्यूनचरमदेहप्रमाणघनस्वाभाविकाकृतियुक्तः। अमितसुखापादकैः अमितानि च तानि सुखानि च अमितसुखानि तान्यापादयंतीत्यमितसुखापादकास्तैः अनंतसुखापादकैः। क्षायिकैः क्षयेण जाता क्षायिकास्तैः कर्मणां क्षयेण जातैः। स्वैः स्वकीयैः। सम्यक्त्वाद्यैः सम्यक्त्वमाद्य

येषां ते तैः सम्यक्त्वादिभिः । अष्टभिः अष्टगुणैः । उपेतः उपैतिस्म तथोक्तः युक्तः । सः सिद्धः । जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते ॥६१॥

भा० अ०—ईषत्प्राग्भार नाम वाले आठवें भूप्रदेशमें, तनुवातवलयके अन्त्यभागमें, मध्यलोक-प्रमित सिद्धक्षेत्रमें विराजमान होते हुए अन्तिम शरीरसे कुछ कम तथा घनस्वभावाकारवाले और द्रव्यकर्म से रहित, अनन्त सुखजनक क्षायिक सम्यक्त्वादि अष्टगुणों से युक्त तथा द्रव्य और भावकर्मसे रहित होकर विजयशाली होते थे ॥ ६१ ॥

आस्ते तत्र स निर्वृतः सुखसुधां चर्वन् सदात्यंतिकीम् ।
स्वस्थः संसृतिनाटकं स्फुटरसं पश्यन्विभावादिभिः ॥
संपन्नैः सकलैर्गुणैरनुपमैः स्थानं सिताभ्राकृतेः ।
कीर्त्तेरात्मसमैः सहैव पुरुषैः शुद्धैश्च बुद्धैः परम् ॥६२॥

आस्त इत्यादि । सः सिद्धः सभापतिश्च । निर्वृतः मुक्तः । व्यापारांतरान्निर्वृत्तश्च । आत्यंतिकीं अत्यंते भवा आत्यंतिकी तां अनंतकालभाविनीं च । सुखसुधां सुखमेव सुधा सुखसुधा तां सुखामृतं । सदा सर्वस्मिन् काले । चर्वन् अनुभवन् । स्वस्थः कर्मरहितः स्वरूपे स्थितः निरातंकश्च सन् । विभावादिभिः विभाव आदिर्येषां ते विभावादयः तैः विभावानुभावप्रमुखैः । स्फुटरसं स्फुटा रसा यस्मिन् तं प्रादुर्भूतस्थायिभावरूपशृंगारादिरसयुक्तं । संसृतिनाटकं संसृतेर्नाटकस्तं संसारनर्तनं । प्रेक्षकजनानामिव मुक्तात्मनां सांद्रानंदविधानत्वात्संसृतिनाटकमभिनेयनाट्यविशेष इव । पश्यन् पश्यतीति पश्यन् प्रेक्षमाणः । अनुपमैः न विद्यते उपमा येषां ते अनुपमास्तैः उपमारहितैः । सकलैः सर्वैः । गुणैः सम्यक्त्वादिगुणैः त्यागविशेषज्ञताद्यैश्च संपन्नः समृद्धः । सिताभ्राकृतेः सिताभ्रस्याकृतिर्यस्यास्सा सिताभ्राकृतिः तस्याः कर्पूराकारायाः "सिताभ्रो हिमवालुका" इत्यमरः कीर्तेः स्तवनस्य यशसश्च । स्थानं आस्पदं भूतस्सन् । आत्मसमैः आत्मनः समा आत्मसमास्तैः निर्वृतत्वादिभिः स्वसमानैः । शुद्धैश्च शुध्यंतेस्म शुद्धाः तैः कर्मविरहितैः उपधाशुद्धैश्च । बुद्धैः बुध्यंते स्म बुद्धाः तैः । केवलज्ञानिभिः लौकिकज्ञानिभिश्च । पुरुषैः परमात्मभिरमात्यादिभिश्च । सहैव साकमेव । तत्र सिद्धक्षेत्रे । परं अत्यंतं । आस्ते वर्तते आस उपवेशने ॥६२॥

भा० अ०—वह सिद्ध अथवा नाट्याधिपति, मुक्त वा कार्यान्तरसे रहित होकर उस सिद्ध क्षेत्रमें अनन्त कालभाविनी मुक्तिरूपिणी सुधाका सदैव अनुभव करते हुए आत्मसुखमें लीन वा निराकुल विभाव अनुभाव तथा सञ्चारी भावादिकों से व्यक्त रसवाले संसाररूपी नाटक को दर्शक के समान देखते हुए, सभी अनुपम सम्यक्त्वादि गुणोंसे सम्पन्न तथा स्वच्छ

स्तुति और कीर्त्ति के एकमात्र पात्र, अपने समान कर्मरहित केवल-ज्ञानी परमात्माओंके साथ बड़े हर्षसे रहने लगे ॥ ६२ ॥

अर्हद्दासः सभक्त्युल्लसितमवसितं भूधरे तत्र कृत्वा ।
कल्याणं तीर्थकर्तुः सुरकुलमहितःप्रापदात्मीयलोकम् ॥
अर्हद्दासोऽयमित्थं जिनपतिचरितं गौतमस्वाम्युपज्ञं ।
गुम्फित्वा काव्यबन्धं कविकुलमहितः प्रापदुच्चैः प्रमोदम् ॥ ६३ ॥

अर्हद्दास इत्यादि । सुरकुलमहितः सुराणां कुलं सुरकुलं तेन महितः देवसमूहपूजितः । सः अर्हद्दासः अर्हतो दासः तथोक्तः जिनदासो देवेंद्रः । तत्र तस्मिन् । भूधरे संमेद-पर्वते । तीर्थकर्तुः तीर्थस्य कर्ता तथोक्तः तस्य तीर्थकरस्य । भक्त्युल्लसितं भक्त्या उल्लसितं तथोक्तं भक्तिविराजितं । अवसितं अत्यंतं । कल्याणं परिनिर्वाणकल्याणं । कृत्वा विधाय । आत्मीयलोकं आत्मन अयमात्मीयः स चासौ लोकश्च तथोक्तस्तं । प्रापत् आगच्छत् आप्लृ व्याप्तौ लुङ् "सर्तिशास्ति" इत्यादिना अङ् । कविकुलमहितः कवीनां कुलं कविकुलं तेन महितः विद्वत्समूहपूजितः । अयं एषः । अर्हद्दासः अर्हद्दासकवीश्वरः । गौतमस्वाम्युपज्ञं गौतमश्चासौ स्वामी च गौतमस्वामी तेन उपज्ञन्तथोक्तन्तत् गौतमस्वामिना प्रोक्तं । जिन-पतिचरितं जिनानां पतिर्जिनपतिः जिनपतेश्चरितं तथोक्तं जिनेश्वरचरितं । इत्थं अनेन प्रकारेण । काव्यबंधं कवेर्भावः कृत्यं वा काव्यं तस्य बंधस्तं काव्यप्रबंधं । गुंफित्वा गुंफनं पूर्व० पूरयित्वा । उच्चैः भृशं । प्रमोदं परमसंतोषं । प्रापत अगमत् ॥ ६३ ॥

भा० अ०—देवताओंसे पूजित तथा अर्हद्भगवान् के दास इन्द्रदेव उस सम्मेद पर्वतपर तीर्थङ्कर भगवान मुनिसुव्रतनाथ का मोक्ष कल्याणका सम्पन्नकर सानन्द अपने स्वर्गलोकको लौट आये तथा कविकुल-पूजित अर्हद्दस कवि ने भी गौतमस्वामी से कहे गये श्रीजिनेन्द्र चरित्र को काव्यरूप में ग्रथितकर बड़ी भारी प्रसन्नता प्राप्त की ॥ ६३ ॥

धावन्कापथसंभृते भववने सन्मार्गमेकं परम् ।
त्यक्त्वा श्रांततरश्चिराय कथमप्यासाद्य कालादमुम् ॥
सद्धर्मामृतमुद्धृतं जिनवचःक्षीरोदधेरादरात् ।
पायं पायमितश्रमः सुखपदं दासो भवाम्यर्हतः ॥ ६४ ॥

धावन्नित्यादि । कापथसंभृते कुत्सिताः पन्थानः कापथाः "पथ्यक्षयोः" इति कादेशः "ऋक्पूःपथ्यपोऽत्" इत्यत्प्रत्ययः कापथैः संभृतः तथोक्तः तस्मिन् मिथ्यामार्गे

तृणमार्गे वा संकीर्णे । भववने भव एव वनं भववनं तस्मिन् संसारकानने । परं केवलं एकं । सन्मार्गं संश्चासौ मार्गश्च सन्मार्गः तं रत्नत्रयमार्गं यद्वा सद्भिर्मृग्यते संसारसमुद्रोत्तारणार्थमन्विष्यत इति सन्मार्गं आप्तागमादिप्रवाहं समीचीनमार्गं वा । त्यक्त्वा विमुच्य । चिराय बहुकालपर्यंतं । धावन् धावतीति धावन् । श्रांततरः अत्यंतमायस्थः । कालात् काललब्धिवशात् । अमुं इमं सन्मार्गं । कथमपि केन प्रकारेणापि । आसाद्य आसादनं पूर्वं० प्राप्य । जिनवचःक्षीरोदधेः जिनस्य वचस्तदेव क्षीरोदधिस्तथोक्तस्तस्मात् परमागमक्षीरसमुद्रात् । उद्धृतं उद्ध्रियतेस्म तथोक्तन्तत् पुनस्तत् आनीतं । सुखपथं सुखस्य पन्थाः तथोक्तं सुखस्थानं । सद्धर्मामृतं संश्चासौ धर्मश्च सद्धर्मः स एवामृतं पुनस्तत् सद्धर्मसुधां । आदरात् संतोषात् । पायं पायं पीत्वा पीत्वा । "पूर्वाग्रे प्रथमाभिक्ष्ण्ये खमुञ्" इति खमुञ् प्रत्ययः । इतश्रमः एतिस्म इतः श्रमो यस्मात्सः विगतपरिश्रमः । अर्हतः अर्हतीत्यर्हन् तस्य अर्हत्परमदेवस्य । दासः भृत्यः । भवामि अस्मि । भू सत्तायां लट् ॥६४॥

भा० अ०—मिथ्यात्वमार्ग तथा तृणसङ्कुल मार्गमय संसाररूपी वन में चक्कर लगाता हुआ रत्नत्रयरूपी मार्ग अथवा समीचीन मार्ग को छोड़कर बहुत काल तक भटकता हुआ अत्यन्त थक कर किसी प्रकार काललब्धि से इस सन्मार्ग को पाकर जिनेन्द्र रूपी क्षीर-समुद्रसे उद्धृत की गयी कल्याण-मार्गमयी सद्धर्मसुधा को पी पीकर परिश्रम रहित होता हुआ मैं अर्हद्भगवान् का दास होता हूं ॥ ६४ ॥

मिथ्यात्वकर्मपटलैश्चिरमावृते मे युग्मे दृशोः कुपथयाननिदानभूते ॥
आशाधरोक्तिलसदंजनसंप्रयोगैरच्छीकृते पृथुलसत्पथमाश्रितोऽस्मि ॥६५॥

मिथ्यात्वेत्यादि । मिथ्यात्वकर्मपटलैः मिथ्याभावो मिथ्यात्वं कर्माण्येव पटलानि तथोक्तानि मिथ्यात्वेन जातानि कर्मपटलानि तथोक्तानि तैः अतत्त्वश्रद्धानजनितदर्शनीयतिमिरैः । चिरं बहुकालपर्यंतं । आवृते निरुद्धे । कुपथयाननिदानभूते कुत्सितः पंथाः कुपथस्तस्य यानं तथोक्तं कुपथयानन्तस्य निदानं तद्भवतिस्म तथोक्तं तस्मिन् । मे मम "तेमयावेकत्वे" इति मयादेशः । दृशोः दृष्ट्योः । व्यवहारनिश्चयसम्यक्त्वयोर्नयनयोश्च । युग्मे युगले । आशाधरोक्तिलसदंजनसंप्रयोगैः आशाधरस्योक्तिः आशाधरोक्तिः लसच्च तदंजनं च लसदंजनं आशाधरोक्तिरेव लसदंजनं तथोक्तं आशाधरोक्तिलसदंजनस्य संप्रयोगास्तैः आशाधरसूरिवचनविशिष्टांजनसम्यग्व्यापारैः । अच्छीकृते प्रागनच्छमिदानीमच्छं क्रियतेस्म अच्छीकृतं तस्मिन् निर्मलीकृते सति । अद्य संप्रति । पृथुलसत्पथं संश्चासौ पंथाश्च सत्पथः

पृथुश्चासौ सत्पथश्च लसंश्चासौ सत्पथश्च तथोक्तः सुन्दरमहाजनमार्गस्तं। आश्रितः आश्रीयतेस्म आश्रितः आसेवितः । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् ॥६५॥

भा० अ०—मिथ्यात्व-कर्मसमूह से अत्यन्त आच्छन्न तथा कुमार्ग-गमनकी कारण-भूत मेरी दोनों आँखों के आशाधर सूरि की उक्ति-रूप अच्छे अंजन के प्रयोगसे स्वच्छ होने पर मैं ने जिनेन्द्र भगवान् के सत्पथ का आश्रय लिया ॥ ६५ ॥

इत्यर्हद्दासकृतकाव्यरत्नस्य टीकायां सुखबोधिन्यां भगवदुभयमुक्तिवर्णनो नाम दशमस्सर्गः ।

State Museum, Library, Lko.
2762
9.7.65
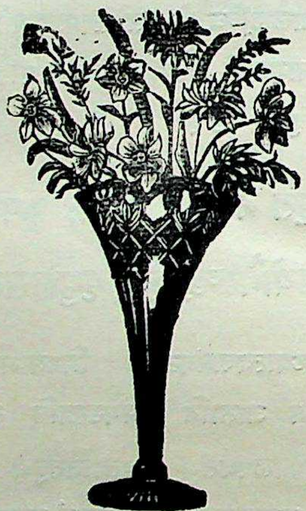
इति